सन् '५७ का विप्लव

लेखक—

बेनी प्रसाद वाजपेयी

प्रकाशक—

आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
४१६ अहियापूर
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण | मार्च सन् १९४८ | मूल्य पाँच रुपये

प्रकाशक
सुशील कृष्ण शुक्ल
आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
४१६ अहियापूर
इलाहाबाद

मुद्रक
पंडित रामभरोस, मालवीय
अभ्युदय, प्रेस
प्रयाग

विषय-सूची

—०—

चित्र-सूची

सहायक सूची

—o—

जिन प्रसिद्ध विद्वानों की पुस्तक के अध्ययन, आधार और सहायता से यह पुस्तक लिखी गई है नीचे लिखे उन महानुभावों का लेखक चिरकृतज्ञ है:—

The Marquis of Dalhousie,s Administration of British India By Arnold Sir Edwin K. C- I. E.

The History of Indian Mutiny By Charles Ball.

The Indian Rebelleon By Alexander Duff.

Reminisences of the Great Mutiny 1857-59.
By William Forbes Mitchell.

Incidents in the Sepoy War By Sir Hope Grant.

The His tory of Indian Mutiny By Holmes.

A History of the Sepoy War in India.
By Sir John William Kaye.

Red Pamphlet By G. B. Malleson.

My Diary in India in the year 1858-59
By Sir William H. Russell.

The Indian War of Independence
By V. D. Savarkar.

सिपाई युद्धेर इतिहास (वंगला) रजनी कान्त ।

दिल्ली की झांकनी (उर्दू) ख्वाजा हसन निज़ामी ।

—o—

हमारी प्रकाशित दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

महाराज

नन्दकुमार को फांसी

सत्रहवीं सदी में बङ्गाल में ईस्ट इन्डिया कम्पनी के अंग्रेज व्यापारियों ने वहाँ के नवाबों की उदारता और कृपा से अनुचित लाभ उठाकर वहाँ की भोली भाली जनता पर जो भयानक अत्याचार और जुल्म किये हैं उन सची घटनाओं का रोमांचकारी वर्णन इस उपन्यास में किया गया है। उस समय के बङ्गाल की सामाजिक अवस्था; राज में फैले हुए दुराचार, पापाचार और भ्रष्टाचार; कम्पनी के अंग्रेज अधिकारियों द्वारा भारतीय उद्योग धन्धों और कारीगरी का सर्वनाश; अँग्रेजी कोठी के कर्मचारियों द्वारा ग़रीब जुलाहों और किसानों पर जुल्म तथा देश हितैषी महाराज नन्दकुमार के साथ छल कपट और षड़यन्त्र खड़ा कर उन्हें फाँसी पर लटका देना आदि घटनाओं की सच्ची रोमांचक कहानी आपको इस उपन्यास में देखने को मिलेगी। मूल्य चार सौ से अधिक पृष्ट की सजिल्द पुस्तक का ५) रुपये डाक खर्च अलग।

पताः—आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
४१६ अहियापुर, इलाहाबाद

भारत गीतांजलि

लेखक—

[राष्ट्र कवि पं० माधव शुक्ल]

राष्ट्र कवि स्वर्गीय पं० माधव शुक्ल आधुनिक युग के एक प्रतिभावान और प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। उनके रचित देश भक्ति पूर्ण पद्यों और गानों ने देश की स्वतंत्रता के युद्ध में बड़ा काम किया है। उनके जोशीले गाने और राष्ट्रीय कविताओं को पढ़ कर आपका दिल फड़क उठेगा। देखिये अनेक विद्वानों और महान् पुरुषों ने उनके बारे में क्या कहा है:—

.........शुक्लजी की कवितायें मुझे बड़ा पसन्द हैं। उनके गानों को और उन्हें भी मैं पहले से जानता हूँ।"

महात्मागांधी

.........राष्ट्र कवि और उनकी कविताओं ने देश की आजादी की कोशिशों में बड़ा हिस्सा लिया है। मुझे उम्मीद है कि देश के लोग इन कविताओं को बड़े चाव से पढ़ेंगे और अपने दिलों में जगह देंगे।

जवाहरलाल नेहरू

... .शुक्लजी और उनकी कविताओं को मैंने सदा आदर की दृष्टि से देखा है।

राजेन्द्र प्रसाद

'भारत में अंग्रेजी राज' के लेखक पं० सुन्दरलालजी इस पुस्तक

की भूमिका में लिखते हैं —"......पं० माधवशुक्ल की कवितायें देशभक्ति, देश सेवा की लगन, मुल्क की आजादी के लिये तड़प, त्याग और कुर्बानी की उमंगों से ओत प्रोत रहती हैं। उनकी सेवा का खास रूप अपनी जोशीली कविताओं और गानों द्वारा जनता में जान डालना था.........

सुन्दर लाल

"........जो ओजस, उदात्त भाव, देश सम्मान, वीर और करुण रस, भारत की पतितावस्था की व्यथा, उसकी पुनः उन्नति की तीव्र कामना, उत्कंठा, आशा और देशवासियों को उस उन्नति के लिये प्रयत्न करने की पुकार श्रीमाधव शुक्लजी की गीत में मुझे अनुभूत हुई वह किसी दूसरी हिन्दी राष्ट्रीय गीत में नहीं हुई।........."

भगवानदास (डाक्टर)

"राष्ट्रोत्तेजक कविता करने के कारण शुक्लजी की कवितायें और वे स्वयं राष्ट्रीय कवि के नाम से अमर हो गये। उनके राष्ट्रीय गानों के बिना सार्वजनिक सभायें नीरस सी मालूम होती हैं।........"

अम्बिका प्रसाद वाजपेयी

प्रस्तावना

यह संतोष ही नहीं अतीव हर्ष का विषय है कि आज से प्राय: सौ वर्ष पूर्व अपनी मातृभूमि को अंग्रेजों के क्रूर शासन से मुक्त करने और देश को अंग्रेजों से रहित करने का हमारे वीर देशवासियों ने जो रक्त-रंजित देशव्यापी संग्राम किया था—जिसे हमारे देश की साधारण जनता में सन् सत्तावन का गदर कहा जाता है—उसका सच्चा और प्रामाणिक इतिहास जनता के सामने लाने का अवसर प्राप्त हो सका है। अब तक विदेशी शासन के अभिशापों में एक यह भी था कि माता की गुलामी की बेड़ियाँ काटने वाले लालक्रांति के इन पुजारियों की वीर-गाथाएँ हम अपनी सन्तान को सुना भी नहीं सकते थे। परन्तु उन्हीं के बलिदानों से उन्हीं की प्रेरणा और स्फूर्ति से हमारा देश विदेशी पराधीनता से मुक्त हुआ है और हम इस योग्य हो सके हैं कि उनको वीर—गाथाओं को, उनकी गुण-गरिमा को उनके वास्तविक रूप में अपने देश के गौरव-पूर्ण इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णाक्षरों में अंकित करें। उनकी स्मृतियां हमारी वर्तमान पीढ़ी और आगे आनेवाली पीढ़ियों की धमनियों में उन्हीं के प्रसाद के रूप में प्राप्त हुई स्वाधीनता की रक्षा के लिए स्फूर्ति, बल, साहस और मर मिटने की लगन का संचार करेगी और उन वीरों के प्रति अपना सर्वोच्च सम्मान प्रकट करने का सुअवसर प्राप्त होता रहेगा।

सन् १८५७ में भारत में अंग्रेजों के घोर अत्याचारी शसान के विरुद्ध सशस्त्र भारतीय विद्रोह के सम्बन्ध में कुछ पुस्तकें अंग्रेजी में और कुछ यत्र-तत्र भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हुई हैं। अंग्रेजी की पुस्तकें अधिकतर अंग्रेजों द्वारा लिखी गई हैं, जिनमें स्वभावतः भारतीयों को कलंकित करने वाला और एक-तरफा चित्र चित्रित किया गया है। उनमें अंग्रेज इतिहासकारों ने संसार की आंखों में धूल झोंकने का प्रयत्न करते हुए यह दिखाया है कि देश के कुछ स्थानों के मूर्ख सैनिकों ने इस अफवाह पर कि उनके बन्दूकों की कारतूसों में गाय और सुअर की चर्बी लगाई जाती है, अपनी मूर्खता और धर्मान्धता के कारण बहकावे में आकर अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस प्रकार की पक्ष-पातपूर्ण भावना और ढंग से उन लोगों ने घटनाओं का विव-रण लिखा है। हिन्दी में तो इस समय इस सम्बन्ध की पुस्तकें नहीं के बराबर हैं। एक-आध जो हैं उनसे भी कोई पाठक उन घटनाओं का प्रामाणिक और सच्चा विवरण नहीं प्राप्त कर सकता। अब तक किसी भी विदेशी अथवा भारतीय लेखक ने—सिवा श्री विनायक दामोदर सावरकर की पुस्तक के—सन् ५७ के महान विप्लव का सच्चा और वैज्ञानिक विवेचना पूर्ण विवरण नहीं दिया है, जो स्वभावतः विदेशी शासन के रहते हुए सम्भव भी नहीं था। इसी कारण उसके सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियां समस्त संसार में और

विशेषत: साम्राज्यवादी देशों में फैली हैं, जिन्हें अंग्रेज लेखकों ने दुष्टता और स्वार्थपूर्ण भावना से प्रेरित हो कर फैलाया है। पक्षपात का चश्मा लगा होने के कारण उनकी आखें यह देख ही नहीं सकीं अथवा उन लोगों ने इसे देखने का प्रयत्न ही नहीं किया कि इस विप्लव का वास्तविक कारण क्या था। उनका यह कहना नितान्त असत्य है कि यह विप्लव जहाँ—तहाँ कुछ थोड़े-से सिपाहियों ने किया था। क्या कोई भी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति यह कह सकता है कि इतना देशव्यापी विप्लव बिना किसी निश्चित और व्यापक उद्देश्य के हो सकता था? पेशावर से लेकर कलकत्ते तक एकसाथ क्रान्ति की बाढ़ का एकसाथ उठ खड़ा होना बिना निश्चित राजनीतिक ध्येय के सम्भव नहीं हो सकता था। दिल्ली की राजधानी पर जनता का अधिकार, कानपुर में अंग्रेजों का कत्लेआम, कलकत्ते से लेकर दिल्ली तक के अनेक नगरों में विद्रोहियों का झन्डा गड़ जाना क्या केवल सैनिकों के बूते की बात थी। वास्तव में यह महान क्रान्ति सार्वजनिक थी, जिसमें राजाओं से लेकर रङ्क तक सब साथ थे और सभी केवल यही भावना से उठ खड़े हुए थे कि अपने देश से अंग्रेजो शासन उखाड़ फेंकना है और पवित्र भारत-भूमि को घोर अत्याचारी और धूर्त अंग्रेजों से रहित कर देना है। दिल्ली के सम्राट बहादुरशाह, झांसी की महारानी लक्ष्मी बाई, नाना साहब, रुहेलखंड के बहादुर खां

आदि का विप्लव में सम्मिलित होना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि यह विप्लव सार्वजनिक था और इसमें सभी प्रान्तों तथा सभी सम्प्रदायों के लोग सम्मिलित थे। इसमें हिन्दू और मुसलमान, अमीर और गरीब, राजे-महाराजे और ताल्लुकेदार सभी साथ थे।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि इस विद्रोह का कारण क्या था ? क्या बात थी कि हजारों नहीं लाखों आदमियों ने तलवार उठाली, अपने प्राणों की चिन्ता न कर रण-क्षेत्रों में वे निकल पड़े और रक्त को होली खेली ? कौन सी भावना सभी के हृदयों में काम कर रही थी कि सभी एक मत से विदेशियों को निकाल बाहर करने पर तुल गये थे। मौलवी लोग मुस्लिम जनता को अंग्रेजों से लड़ने के लिये प्रोत्साहित कर रहे थे और ब्राह्मण लोग हिन्दुओं को ललकार रहे थे ? दिल्ली की मस्जिदों में इबादतें होती थीं और काशी के मन्दिरों में विद्रोह की सफलता के लिये प्रार्थनाएं होती थीं ?

इन सब की तह में जो महान भावना काम कर रही थी वह थी अपने देश की स्वाधीनता की और अपने धर्म की रक्षा की। मजहब की रक्षा के लिये मुसलमानों ने 'दीन' और हिंदुओं ने 'धर्म' की आवाज उठाई थी। हमारे देश में धर्म को जो सदा से सर्वोच्च स्थान दिया गया है, उस पर आघात की बात देख कर और धर्म पर तथा देश की स्वतंत्रता पर आघात करने

वालों का देश से अंत कर देने की प्रेरणा से यह महान विप्लव खड़ा किया गया था। स्वाधीनता और स्वधर्म पर आघात होता देखकर हिन्दू और मुसलमान अपनी पारस्परिक विरोध-भावना छोड़कर अंग्रेजों के विरुद्ध एक साथ खड़े होगए थे। दिल्ली के सम्राट बहादुरशाह ने उस समय अपनी हिन्दू और मुस्लिम प्रजा को सम्बोधित करते हुए अपनी घोषणा में कहा था—

"ऐ हिन्दुस्तान के बच्चो! अगर हम कस्द कर लें, तो दुश्मन का खात्मा करने में देर न लगेगी। अगर हम दुश्मन का खात्मा कर दें, तो अपनी जान से भी प्यारे अपने मजहब और मुल्क को हम बचा लेंगे।"

बरेली में किए गए अपने एलान में सम्राट बहादुर शाह ने कहा था—"हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और मुसलमानों उठो! भाइयों उठ खड़े हो!! खुदा की सब से बड़ी न्यामत स्वराज है। क्या जालिम शैतान जिसने धोखा देकर हमारी आजादी छीन ली है, उसे हमेशा के लिए हम से दूर रख सकेगा? क्या खुदा की मर्जी के खिलाफ उसकी यह कार्रवाई हमेशा कायम रह सकेगी? नहीं, कभी नहीं। अंग्रेजों ने इतने जुल्म किए हैं, कि उनके पाप का प्याला भर गया है। उसे और भरने के लिए वे अब हमारे पाक मजहब को भी बर्बाद कर देना चाहते हैं। क्या तुम सब इतने पर भी खामोश बैठे रहोगे? खुदा यह नहीं चाहता कि तुम चुपचाप बैठे रहो, क्योंकि उसने हिन्दुओं और मुसलमानों

के दिलों में यह ख्वाहिश पैदा कर दी है कि अंग्रेजों को अपने मुल्क से निकाल बाहर करदो। और खुदा के फजल से, तुम्हारी कूवतों से वे जल्द ही पूरी शिकस्त पाएंगे और हमारे मुल्क हिंदुस्तान में उनका नामोनिशान नहीं रह जायगा। हमारे मुल्क में छोटे और बड़े का कोई फ़र्क न रहेगा, सब के साथ बराबरी का बर्ताव किया जायगा, क्योंकि मजहब को बचाने की इस पाक लड़ाई में जितने लोग तलवार उठाते हैं, वे सब बराबर से हकदार हैं, सब बराबर के भाई हैं, और इनमें कोई भेदभाव नहीं हो सकता। इसलिए मेरा फिर सभी हिन्दी भाइयों से कहना है कि उठ खड़े हो और इस पाक लड़ाई में जूझ पड़ो।'

सम्राट बहादुरशाह की इस उद्बोधनपूर्ण घोषणा से और उसके देव-स्वरूप सारे देश में उठ खड़े हुए विप्लव से यह स्पष्ट है कि ज्वलन्त-भावना से यह सशस्त्र विद्रोह उठ खड़ा हुआ था। स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा की भावना उस समय समस्त देश के नर-नारियों में काम कर रही थी और उसी से प्रेरित होकर यह देशव्यापी विप्लव उठ खड़ा हुआ था।

यही एक मात्र भावना १८५७ के विप्लव की जननी थी। प्रस्तुत पुस्तक सन् १८५७ के महान विप्लव, जिसे आधुनिक भारत का प्रथम सशस्त्र स्वतन्त्र संग्राम कहा जा सकता है, का वास्तविक, विस्तृत और क्रमबद्ध इतिहास प्रकाश में लाने के उद्देश्य से लिखी गयी है। इस विषय की अपने ढंग की हिन्दी

में यह महत्वपूर्ण पुस्तक है और निस्सन्देह यह बड़े भारी प्रभाव की पूर्ति करेगी। कम से कम हिंदी में सन् सत्तावन के विप्लव के सम्बंधमें अभी ऐसी प्रामाणिक पुस्तक जहाँ तक मेरा अनुमान है, नहीं थी, अतः इस पुस्तक में उसका क्रमबद्ध और विशद विवरण प्राप्त कर पाठकों को सन्तोष होगा,ऐसा मेरा विश्वास है। विद्वान लेखक ने बड़े अच्छे और क्रमबद्ध ढंग से सभी घटनाओं का समावेश किया है और इस सम्बन्ध में लेखक तथा अनुभवी प्रकाशक का प्रयत्न सराहनीय है।

प्रयाग, महाशिवरात्रि
सम्वत् २००४।

—रामकिशोर मालवीय।

विश्व का राजनैतिक भविष्य

लेखक

[पं० कृष्णकान्त मालवीय]

प्रस्तुत पुस्तक एक लम्बे अरसे को विश्व व्यापी राजनीति का तर्क युक्त पूर्ण विशद विश्लेषण है, विद्वान लेखक ने अपने पूर्ण पांडित्य और अनुभव से संसार के भविष्य में होने वाली महत्व पूर्ण घटनाओं पर पिछले कुछ साल पहिले अपने जो गंभीर विचार प्रगट किये हैं उसकी सच्ची व्याख्या आपको इस पुस्तक में देखने को मिलेगी। देखिये अनेक विद्वान इस पुस्तक के सम्बन्ध में क्या कहते हैं:—

लेखक के विचार गंभीर है, इस पुस्तक का हिन्दी संसार आदर करेगा।

अमरनाथ झा
(वाइस चांसलर काशी हिन्दू विश्व विद्यालय)

विद्वान लेखक ने दुनिया की हालत को जिस तरह जितनी अच्छाई के साथ पिछले कितने ही साल पहले दिखलाया है, उनमें कितनी ही तब से अब तक सच्ची साबित हो चुकी हैं,

सुन्दर लाल

लेखक :—

बेनीप्रसाद बाजपेयी

सन् '५७ का विप्लव

—:o:—

विप्लव के मुख्य कारण

केवल भारतवर्ष के निवासी ही नहीं, बल्कि इंग्लैण्ड के निवासी भी यह स्वीकार करते हैं कि सन् १८५७ का विप्लव भारतवर्ष की भूमि में अंग्रेजी-राज्य के इतिहास को सब से अधिक रोमांचकारी और महत्वपूर्ण घटना थी। सच कहा जाय तो वह एक ऐसी भयानक घटना थी जिसकी प्रचण्ड लपटों में एक बार इस देश की वीर-भूमि में अंग्रेजी राज और अंग्रेजी जाति का अस्तित्व जलकर मिटने वाला-सा मालूम होता था।

उस रोमांचकारी विप्लव के मुख्य कारणों को भली भाँति समझने के लिए हमारे पास यदि कोई सामग्री है तो वह उस विप्लव से ठीक एक सौ वर्ष पूर्व का इतिहास है। उस इतिहास पर यदि एक बार दृष्टि न डाली गई तो यह संभव नहीं है कि विषय की गम्भीरता सरलता के साथ समझ में आ जाय!

विचारशील विद्वानों का कथन है कि सन् १८५७ के विप्लव की नींव वास्तव में सन् १७५७ में प्लासी की युद्ध-भूमि में रखी गई थी, इसलिए सन् १८५७ के विप्लव में भाग लेने वाले असंख्य भारतीय सिपाहियों के मुख से जो भिन्न-भिन्न प्रकार के

ओजस्वी वाक्य निकला करते थे उनमें से एक वाक्य यह भी था, "आज हम प्लासी के युद्ध का बदला चुकाने वाले हैं।"

मई और जून के महीने में दिल्ली के प्रायः सभी समाचार पत्रों में यह भविष्यवाणी प्रकाशित हुई थी कि जिस दिन प्लासी के युद्ध की शताब्दी पूरी होगी ठीक उसी दिन अर्थात् २३ जून सन् १८५७ को भारतवर्ष की पवित्र भूमि में अंग्रेजी राज को सदा के लिए समाप्त कर दिया जायगा। इतना ही नहीं, इस भविष्यवाणी की घोषणा भी देश के प्रत्येक भाग में बड़ी तत्परता के साथ करा दी गई थी।

परिणाम यह हुआ कि उस समय उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक जितने भारतीय वीर थे, सभी उत्तेजित हो गये और सन् १७५७ के प्लासी के मैदान का बदला चुकाने के लिए विप्लव में भाग लेना अपना धर्म समझने लगे थे। इसलिए यह कहना पड़ता है कि यदि अंग्रेज न्याय-पूर्वक प्लासी के युद्ध में विजयी हुये होते तो सन् १८५७ के विप्लव में उनके विरुद्ध भाग लेने के लिए कोई भी भारतीय प्रस्तुत न होता।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि प्लासी के युद्ध में अन्याय-पूर्वक विजयी होने वाले अंग्रेजों और अंग्रेजी राज के विरुद्ध प्लासी युद्ध के समय से ही असंख्य भारतवासियों के हृदय में क्रोध और असंतोष के भाव बढ़ने लगे थे। क्लाइव के समय से लेकर डलहौजी के समय तक जिस प्रकार कम्पनी के प्रतिनिधियों ने अपने गम्भीर प्रतिज्ञा-पत्रों और हस्ताक्षरी संधि-पत्रों की अवहेलना की, वह भी विप्लव का एक कारण था।

इतना ही नहीं, भारतवर्ष में प्रभुता स्थापित करते ही अभिमानी अंग्रेज भारत के अगणित राजकुलों को पददलित करने

लगे, और उनकी रियासतों को एक-एक कर अपने राज में मिलाने लगे; भारत के प्राचीन उद्योग धन्धों को नष्ट कर लाखों भारतवासियों से उनकी जीविका छीनने लगे; असहाय बेगमों और रानियों के महलों में घुसकर उन्हें लूटने और उनका अपमान करने लगे; अनेक जमींदारों की जमींदारियों को हड़प कर भारत के असंख्य प्रतिष्ठित घरानों को नष्ट करने लगे; इसके साथ ही साथ गोरखपुर और बनारस के समान लाखों भारतीय किसानों को उनकी पैतृक ज़मीनों से बाहर निकालकर गृहहीन बनाने लगे।

इन्हीं सब शोकास्पद घटनाओं के कारण भारतीय राजाओं और भारतीय प्रजा दोनों में ही समान रूप से अंग्रेजों के विरुद्ध असंतोष की अग्नि भीतर ही भीतर सुलगने लगी थी। सन् १७८० के लगभग पूना दर्बार के प्रधान मंत्री नाना फड़नवीस और मैसूर राज के स्वामी हैदरअली का सम्मिलित रूप से दिल्ली-सम्राट और अन्य भारतीय राजाओं को अपनी ओर कर अंग्रेजों को भारतवर्ष से निकाल देने का प्रयत्न करना इसी असन्तोष की अग्नि का एक रूप और सन् १८५७ के विप्लव का पूर्व-चिह्न था। सन् १८०६ में वेलोर की छावनी के भारतीय सिपाहियों ने जो विद्रोह किया था, वह भी इसी अग्नि का एक छोटा-सा स्वरूप था।

वेलोर के विद्रोह का कारण यह था कि उस समय के अंग्रेज-शासकों में भारत के निवासियों को ईसाई बनाने का बड़ा उत्साह था। प्रारम्भ से ही ईसाई मत को भारतवर्ष में सबसे अच्छा क्षेत्र मद्रास-प्रान्त में मिला। इसीलिए मद्रास-प्रांत में ही अभी तक ईसाइयों की संख्या अधिक है।

जिस समय की घटना का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय लार्ड विलियम बेण्टिङ्क मद्रास का गवर्नर और सर जॉन क्रेडक वहाँ का कमाण्डर इन चीफ था। ये दोनों अंग्रेज ईसाई मत के प्रचार में बड़े उत्साह से कार्य करते थे। उस समय के ईसाई शासक ईसाई मत का प्रचार करने वालों को सभी तरह की सुविधाएँ और सहायता दिया करते थे।

पादरी लोग जहाँ कहीं भी जाना चाहते थे, अंग्रेज सरकार से उन्हें पासपोर्ट मिल जाते थे। किले के अन्दर भारतीय सिपाहियों में ईसाई मत का प्रचार करने के लिए उन्हें विशेष सुविधाएँ दी गई थीं। धीरे-धीरे मद्रास प्रांत की भारतीय सेना को आज्ञा दी गई कि कोई भी सैनिक परेड के समय या ड्यूटी पर अथवा वर्दी पहने हुए अपने माथे पर तिलक आदि धार्मिक चिह्न न लगाये। हिन्दू मुसलमान सभी सिपाहियों को आज्ञा दी गई कि वे सब अपनी दाढ़ियाँ मुड़वा दें और सब लोग एक तरह की कटी मूँछ रखें।

इस पर जुलाई सन् १८०६ की रात को वेलोर की छावनी के भारतीय सैनिक बिगड़ खड़े हुए। दो बजे रात को उन्होंने सदर गारद के सामने जमा होकर अपने कमाण्डिङ्ग अफ़सर कर्नल फ़ैनकोर्ट के मकान को घेर लिया और उसे गोली से मार दिया। उसके बाद उन्होंने अपने शेष अंग्रेज सिपाहियों और ईसाई अफ़सरों को गोली से मारना आरंभ कर दिया। किन्तु किसी तरह यह विद्रोह शांत कर दिया गया और विद्रोहियों को पूरा दण्ड दिया गया। इसीलिए मानना पड़ता है कि यह विद्रोह भी सन् १८५७ के विप्लव के कारणों में से एक कारण अवश्य था।

आगे चलकर डलहौज़ी का समय आया। डलहौज़ी के समय में कम्पनी और इंगलैण्ड के नीतिज्ञों की साम्राज्यपिपासा चरम सीमा को पहुँच गई। डलहौज़ी ने महाराज रणजीतसिंह के साथ कम्पनी की संधियों को रद्द करके पंजाब पर चढ़ाई की, लहौर दरबार के अन्दर फूट डलवाई, दलीपसिंह और उसकी विधवा माता महारानी झिन्दाँ को पंजाब और भारत दोनों देशों से देशनिकाला दिया और पंजाब के उपजाऊ भाग को कम्पनी के राज्य में मिला लिया।

डलहौजी ने निरपराध बरमा के साथ युद्ध छेड़ कर पेगू के प्रान्त को बरमा-राज्य से छीन लिया। भारतीय राजाओं में जो गोद लेने की प्राचीन प्रथा थी, उसका तिरस्कार कर डलहौजी ने सतारा, झाँसी, नागपुर आदि अनेक रियासतों का अन्त कर उन्हें अंग्रेजी राज्य में मिला लिया।

नवाब के 'कुशासन' का बहाना लेकर सन् १८५६ में उनके अवध को उपजाऊ रियासत को कम्पनी के राज में सम्मिलित कर लिया। नवाब वाजिदअलीशाह को बन्दी करके कलकत्ते भेज दिया। भारत के असंख्य पुराने ताल्लुकेदारों और ज़मींदारों की पैतृक जागीरें छीनकर उन्हें कंगाल बना दिया।

यह सब व्यवहार तो भारतीय राजाओं और सरदारों के साथ हुआ। साधारण प्रजा के साथ भी अंग्रेज़ों का व्यवहार अनेक प्रकार से दिन-प्रतिदिन अधिक से अधिक उद्दण्ड, धृष्ट और असह्य होता जा रहा था। स्थान-स्थान पर अंग्रेज अफ़सर अपने सामने घोड़े पर आनेवाले भारतीयों को घोड़े से उतर कर चलने के लिए बाध्य करते थे। भारतीय जनता के धार्मिक

और सामाजिक प्रथाओं की बड़ी अवहेलना की जाती थी। सभी लोग अंग्रेजों के इन दुर्व्यवहारों से मन ही मन कुढ़ने लगे थे।

डलहौजी के आते ही सहारनपुर में एक नया अंग्रेजी अस्पताल बना। अस्पताल के बनते ही उसमें प्रत्येक धर्म के पुरुष और स्त्री रोगियों को आने की आज्ञा दी गई। सहारनपुर के अंग्रेज अफ़सरों ने यह घोषणा प्रकाशित की कि प्रत्येक जाति और धर्म के रोगी, स्त्री और पुरुष, यहाँ तक कि पर्दे में रहने वाली स्त्रियाँ भी इलाज के लिए इसी अस्पताल में आवें और कोई देशी हकीम या वैद्य न किसी को दवा दे और न किसी का इलाज करे।

इस घोषणा के प्रकाशित होते ही सहारनपुर की जनता में असंतोष की अग्नि भड़क उठी। लोगों के भाव यहाँ तक प्रचंड होने लगे कि वहाँ के अंग्रेज अफ़सरों को अपनी घोषणा वापस लेनी पड़ी। इस प्रकार के अनुचित और उद्दण्ड व्यवहारों के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, फिर भी साधारण रूप से सन् १८५७ के विप्लव के पाँच प्रधान कारण कहे जा सकते हैं। वे पाँच प्रधान कारण इस प्रकार के हैं:—

१—दिल्ली-सम्राट के साथ अंग्रेजों का लगातार अनुचित व्यवहार।

२—अवध के नवाब और अवध की प्रजा के साथ अत्याचार।

३—डलहौजी की अपहरण नीति।

४—अंतिम पेशवा बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना साहब के साथ कम्पनी का अन्याय।

५--भारतवासियों को ईसाई बनाने की प्रबल आकांक्षा और भरतीय सेना में बलपूर्वक ईसाई मत का प्रचार।

विषय को भली भाँति समझने के लिए आवश्यक होगा कि ऊपर बताये गये कारणों में से प्रत्येक करण को पुष्ट करनेवाली घटनाओं का अध्ययन कर लिया जाय नहीं तो विप्लव की कहानी अधूरी ही रह जायगी।

विप्लव का प्रथम मुख्य कारण:—

सम्राट शाहआलम (जो सन् १७५६ से १८०६ तक दिल्ली के तख्त पर रहा) के समय तक भारत में रहने वाले समस्त अंग्रेज अपने को दिल्ली के सम्राट की प्रजा कहने में ही अपना गौरव समझते थे। इसी लिए अंग्रेजों की कम्पनी को अपनी तिजारती कोठियाँ बनवाने के लिए कलकत्ता, मद्रास, सूरत आदि स्थानों में सम्राट के फरमानों द्वारा ही जागीरें मिलीं। उन जागीरों के लिए अंग्रेज दिल्ली के सम्राट को बराबर खिराज देते थे और गवर्नर जनरल से लेकर छोटा से छोटा तक जो अंग्रेज सम्राट के दरबार में जाता था, वह शेष दरबारियों के समान आदाब बजा लाता था, सम्राट् को नजर भेंट करता था और अपने स्थान पर अदब के साथ खड़ा रहता था। प्रत्येक गवर्नर जनरल की मुहर में "दिल्ली के बादशाह का फ़िदवी ख़ास" (जिसका अर्थ यह है कि दिल्ली के बादशाह के विशेष नौकर) ये शब्द खुदे रहते थे। शाहआलम ने सबसे पहले सन् १७६५ में क्लाइव को बंगाल और बिहार की दिवानी के अधिकार प्रदान किये थे। इसके बाद धीरे-धीरे दिल्ली सम्राट् के दरबार में षड़यंत्र और युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं।

दिल्ली-सम्राट का बल घटता गया और अंग्रेज कम्पनी का बल बढ़ता गया।

माधोजी सींधिया ने दिल्ली पर चढ़ाई करके भारत सम्राट के बल को फिर से थोड़ा बहुत बढ़ाया और सम्राट् उसकी राजधानी तथा आस-पास के इलाके की सैनिक रक्षा का भार भी अपने हाथों लिया। सम्राट् शाहआलम की लिखी हुई फ़ारसी की एक कविता अभी तक प्रचलित है, जिसमें उसने माधोजी सींधिया को अपना "फरजन्द जिगरबन्दे मन" कहा है और उसकी खुलकर बड़ी प्रशंसा की है।* कम्पनी ने भारत में अपना राज स्थापित करने के लिए मराठों की बढ़ती हुई सत्ता को कुचल देना आवश्यक समझा। यह दूसरे मराठा युद्ध का समय था। जनरल लेक ने कम्पनी की ओर से एक इक़रारनामा लिख कर अपने दस्तखतों से शाहआलम के सामने पेश किया जिसमें कम्पनी ने शाहआलम से यह वादा किया कि हम समस्त देश पर आपका प्राचीन क्रियात्मक आधिपत्य फिर से स्थापित कर देंगे आदि आदि।

भाग्यहीन, निर्बल और अदूरदर्शी शाहआलम फिर से अंग्रेजों की चालों में फँस गया। शाहआलम की ही सहायता से अंग्रेजों ने सन् १८०४ में मराठों को दिल्ली से निकाल दिया, सम्राट् के निजी खर्च के लिए १२ लाख रुपये सालाना का तुरन्त प्रबन्ध कर दिया और राजधानी की सैनिक रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। उस समय तक भी अंग्रेज दिल्ली-सम्राट् के देश व्यापी मान, मराठों और अफ़ग़ानों के बल

*माधोजी सींधिया फ़रज़न्द जिगरबन्देमन, हस्त मसरूफ़ तलीफ़ीए सितमगारि-ए-मा।

और अपनी निर्बलता के कारण दिल्ली सम्राट् और उसके ऊपरी मान को बनाये रखना तथा अपने को सम्राट् की प्रजा कहते रहना अपने लिए आवश्यक कार्य समझते थे।

अंग्रेजों की नीयत के सम्बन्ध में भारत सम्राट और उसके हितचिन्तकों को सबसे पहिले सन्देह उस समय हुआ जिस समय कि लार्ड वेल्सली ने यह तजबीज कि की शाहआलम और उसके दरबार को दिल्ली के लाल किले से हटा कर मुंगेर के क़िले में लाकर रखा जाय। लिखा है कि बूढ़ा शाहआलम इस तजबीज़ को सुनते ही क्रोध से भर गया। लार्ड वेल्सली को अपनी तजबीज़ के वापस ले लेने में ही कुशल दिखाई दी किन्तु अनेक दिल्ली-निवासियों के चित्त उसी समय से अंग्रेजों की ओर से सशंक हो गये। दिल्ली के अन्दर सन् १८५७ के महान विप्लव का एक प्रकार यही बीजारोपण था। इस घटना के बाद ही सन १८०६ में शाहआलम की मृत्यु हुई। शाहआलम के बाद अकबरशाह दिल्ली के तख्त पर बैठा। इससे पहिले सीटन नाम का एक अंग्रेज कम्पनी के रेजिडेण्ट की हैसियत से दिल्ली में रहा करता था। सीटन जब कभी दरबार में जाता था तब निम्न श्रेणी के एक भारतीय अमीर के समान सम्राट के सामने यथा-नियम तसलीम और कोरनिश किया करता था और सम्राट कुल के प्रत्येक बच्चे की ओर यथोचित मान दर्शाता था। किन्तु सीटन के बाद चार्ल्स मेटकाफ़ रेजिडेण्ट हुआ। मेटकाफ़ ने तुरन्त अपने अँग्रेज मालिकों की आज्ञा से सम्राट अकबरशाह की ओर अपना व्यवहार बदल दिया और अनेक ऐसी हरकतें करनी आरम्भ कर दीं जो सम्राट और उसके दरबार के लिये घोर अपमान-जनक थीं। सम्राट और उसके हितचिन्तकों

के दिलों में अंग्रेजों की ओर से असन्तोष और घृणा बढ़ती चली गई।

सम्राट अकबरशाह ने अपने एक पुत्र मिरज़ा सलीम को, जिसे मिरज़ा जहाँगीर भी कहते थे, युवराज नियुक्त करना चाहा। ऐसा कहा जाता है कि मिरज़ा सलीम अंग्रेजों से घृणा करता था। अंग्रेजों ने किसी बहाने मिरज़ा सलीम को इलाहाबाद भेजकर वहाँ नजरबन्द कर दिया। सम्राट के दरबार का बल अनेक आन्तरिक कारणों से पहिले ही कम हो रहा था। सम्राट ने इसके बाद अपने एक दूसरे बेटे मिरज़ा नीली को युवराज बनाने का प्रयत्न किया। अंग्रेजों ने इसका भी विरोध किया। सन् १८३७ में सम्राट अकबरशाह की मृत्यु हुई और अन्त में सम्राट बहादुरशाह अपने पिता के सिंहासन पर बैठा।

जनरल लेक ने सम्राट शाहआलम को जो 'इकरारनामा' लिख कर दिया था वह अभी तक पूरा न किया गया था। सम्राट अकबरशाह ने उस इक़रारनामे की शर्तों को पूरा कराना चाहा, किंतु उसे भी सफलता न हो सकी। इस पर अकबरशाह ने राजा राममोहन राय को अपना एलची नियुक्त करके इंगलैण्ड भेजा। वहाँ पर भी राजा राममोहन राय की किसी ने न सुनी और इंगलैण्ड के शासकों ने कम्पनी की मुहर लगेहु ए 'इक़रारनामे' की कदर रद्दी काग़ज़ से अधिक न की। जब यह सब समाचार दिल्ली पहुँचा तब वहाँ के लोगों को अँग्रेजों के रहते दिल्ली और दिल्ली के सम्राट-कुल के भविष्य के सम्बन्ध में तरह-तरह की गहरी शंकाएँ होने लगीं।

सम्राट बहादुरशाह ने भी इक़रारनामे की एक शर्त के अनुसार अपने खर्च की रक़म को बढ़वाना चाहा। इस बीच दिल्ली

और उसके पास के इलाके के ऊपर कम्पनी का पंजा कसता जा रहा था, और वही दिल्ली सम्राट, जो कुछ समय पहिले समस्त भारत के खज़ानों का मालिक समझा जाता था, अब अपने सहस्रों कुटुम्बियों और आश्रितों सहित बड़ी आर्थिक कठिनाई के साथ दिल्ली के किले के अन्दर दिन बिता रहा था। सम्राट को उत्तर मिला कि यदि आप अपने और अपने वंशजों के समस्त रहे-सहे अधिकार विधिवत कम्पनी को सौंप दें तो खर्च की रक़म बढ़ा दी जायगी। बहादुरशाह ने इसे स्वीकार न किया।

प्रत्येक ईद को, नौरोज़ को और सम्राट की साल-गिरह के दिन गवर्नर जनरल और कमाण्डर-इन-चीफ़ दोनों सम्राट के दरबार में उपस्थित होकर या रेज़ीडेण्ट द्वारा सम्राट के सामने नजरें भेंट किया करते थे। सन् १८३७ में बहादुरशाह के तख्त पर बैठने के समय भी ये नजरें भेंट की गई थीं। किन्तु इसके कुछ वर्ष बाद लार्ड एलनब्रु ने गवर्नर जनरल बनते ही इन नजरों का भेंट किया जाना बन्द कर दिया। इस नज़र का बन्द किया जाना पूर्वोक्त असंतोष का एकमात्र कारण कहा जा सकता है। इसी तरह की और भी अनेक बातों में अँग्रेजों ने पद-पद पर दिल्ली-सम्राट का अपमान करना शुरू कर दिया।

सन् १८३६ में सम्राट बहादुरशाह के पुत्र युवराज दारा-बख्त की मृत्यु हुई। उसके बाद सम्राट बेगम ज़ीनतमहल के पुत्र शाहजादे जवाँबख्त को युवराज नियुक्त करना चाहता था। सन् १८५७ में साबित हो गया कि ज़ीनतमहल की योग्यता और संगठन-शक्ति दोनों असाधारण थीं और जवाँबख्त एक होन-हार और स्वाभिमानी युवक था। अंग्रेज ज़ीनतमहल और उसके पुत्र दोनों के विरुद्ध थे। रेज़िडेण्ट और गवर्नर जनरल

के उस समय के पत्रों से प्रगट है कि वह भविष्य के लिये हिन्दुस्तान के 'बादशाह' की उपाधि को ही तोड़ देने की चिन्ता में थे।

गवर्नर जनरल ने गुप्त षड्यन्त्र द्वारा बहादुरशाह के एक दूसरे पुत्र मिरज़ा फ़खरू से एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखवा लिया, जिसमें एक शर्त यह भी थी कि यदि मुझे युवराज बना दिया गया तो तख्त पर बैठते ही मैं दिल्ली का लाल क़िला छोड़कर, जहाँ, अंग्रेज़ कहेंगे, वहाँ जाकर रहने लगूँगा। बहादुरशाह को जब इसका पता चला तब उसने आपत्ति की। फिर भी कहा जाता है कि बहादुरशाह की इच्छा के विरुद्ध मिरज़ा फ़खरू ही को युवराज नियत होने की घोषणा दिल्ली में कर दी गई। यह समय लार्ड डलहौज़ी का था। राजधानी के अन्दर अंग्रेज़ों के विरुद्ध गहरे असंतोष का यह भी एक मुख्य कारण हुआ।

सन् १८५४ में मिरज़ा फ़खरू की भी मृत्यु हो गई। रेज़िडेण्ट टॉमस मेटकॉफ़ बहादुरशाह के दरबार में मिलने गया। उस समय बहादुरशाह के नौ बेटे थे, जिनमें सबसे होनहार और होशियार मिरज़ा जवाँबख्त समझा जाता था। बहादुरशाह ने एक पत्र रेज़िडेण्ट को दिया जिसमें लिखा था कि जवाँबख्त को युवराज बनाया जाय। इस पत्र के साथ एक अलग पत्र था जिसपर बाक़ी आठों शाहज़ादों के दस्तखत थे और यह लिखा था कि हम सब जवाँबख्त के युवराज बनाये जाने में ख़ुश हैं और यही चाहते भी हैं। इस पर अंग्रेज़ों ने इन आठों शाहज़ादों में से एक मिरज़ा क़ोयाश को फिर अपनी ओर फोड़ा।

मिरज़ा क़ोयाश से गवर्नर जनरल के नाम एक गुप्त पत्र लिखाया गया। इस अवसर पर गवर्नर जनरल ने रेज़िडेण्ट को अपने एक पत्र में इस प्रकार लिखा था:—

"सम्राट के ऊपरी वैभव और ऐश्वर्य के अनेक भूषण उतर चुके हैं जिससे उस वैभव की पहली सी चमक-दमक नहीं रही, और सम्राट के वे अधिकार, जिनपर तैमूर के कुलवालों को घमण्ड था, एक दूसरे के बाद छिन चुके हैं, इसलिए बहादुरशाह के मरने के बाद क़लम के एक डोबे में 'बादशाह' की उपाधि का अन्त कर देना कुछ भी कठिन नहीं है।

बादशाह को जो नज़र, गवर्नर जनरल और कमाण्डर-इन-चीफ़ देते थे, बन्द हुई। कम्पनी का सिक्का जो बादशाह के नाम से ढाला जाता था, वह भी बन्द कर दिया गया। गवर्नर जनरल की मोहर में जो पहले 'बादशाह का फ़िदवी ख़ास" (बादशाह का विशेष नौकर) ये शब्द रहते थे, वे निकाल दिये गये और हिन्दुस्तानी रईसों को मनाही कर की गई कि वे भी अपनी मोहरों में बादशाह के प्रति ऐसे शब्दों का उपयोग न करें।

इन सब बातों के बाद अब गवर्नमेण्ट ने फ़ैसला कर लिया है कि दिखावे की अब कोई बात भी ऐसी बाक़ी न रखी जाय जिससे हमारी गवर्नमेण्ट बादशाह के अधीन मालूम हो। इसलिए दिल्ली के 'बादशाह' की उपाधि एक ऐसी उपाधि है जिसका रहने देना या न रहने देना गवर्नमेण्ट की इच्छा पर निर्भर है।"❋

❋ ख़्वाजा हसन निज़ामी की लिखी हुई 'देहली की जाँकनी' नामक पुस्तक से उद्धृत।

अपने इसी इरादे को सफल बनाने के लिए गवर्नर जनरल ने शाहज़ादे जवाँबख्त के विरुद्ध मिरज़ा क़ोयाश को युवराज स्वीकार किया। सम्राट को इसकी सूचना दे दी गई, और मिरज़ा क़ोयाश से ये तीन शर्तें कर ली गईं। १—तुम्हें 'बादशाह' के स्थान पर केवल 'शाहज़ादा' कहा जाया करेगा। २—तुम्हें दिल्ली का क़िला खाली कराना होगा। और ३—एक लाख मासिक के स्थान पर तुम्हें पन्द्रह हज़ार रुपये मासिक खर्च के लिए मिला करेंगे।

इस समाचार को पाते ही सम्राट बहादुरशाह और दिल्ली निवासियों के दिलों में क्रोध की आग भड़क उठी कि जिसने दिल्ली वालों को विप्लव के लिए कटिबद्ध कर दिया और वे जिस तरह हो, अंग्रेजों के पंजे से देश को स्वतंत्र करने के उपाय सोचने लगे। यह घटना सन् १८५६ की थी। इसका परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समय में अर्थात् उक्त घटना के अगले वर्ष ही भारत में इस ओर से उस ओर तक विप्लव की भयानक आग लगी हुई दिखाई दी और वह ऐसी भयानक आग थी जिसकी कि कल्पना भी अंग्रेजों ने स्वप्न में भी न की होगी। वे तो अपने को सर्वशक्ति-सम्पन्न समझे हुए थे।

विप्लव का दूसरा मुख्य कारण:—

विप्लव का दूसरा मुख्य कारण था, अवध के नवाब और अवध की प्रजा के ऊपर कम्पनी का अत्याचारपूर्ण अमानुषिक बर्ताव। विप्लव से केवल एक वर्ष पूर्व बिना किसी कारण के अवध का समस्त राज्य अंग्रेजों ने अपने अधिकार में कर लिया और नवाब वाजिदअली शाह को अवध से निर्वासित कर कलकत्ते भेज दिया।

सबसे अन्तिम भारतीय राज्य, जिसे लार्ड डलहौज़ी ने अंग्रेज़ी राज में शामिल किया था, वह अवध का राज था। लार्ड डलहौज़ी के इस कार्य को वर्णन करने से पहले कुछ वर्ष पूर्व की एक और हास्य-जनक घटना को वर्णन करना प्रसंग के अनुकूल ही होगा। वह घटना इस प्रकार की थी—डलहौज़ी का पिता एक समय कम्पनी की भारतीय सेना का कमाण्डर इन-चीफ़ था। अपने समय के अन्य अंग्रेज़ अफ़सरों के समान वह एक बार लखनऊ के नवाब से भेंट करने गया। कमाण्डर-इन-चीफ़ ने अवध के नवाब से अपनी धर्मपत्नी का परिचय कराया। अनुमान किया जाता है कि कमाण्डर-इन-चीफ़ का उद्देश्य अपनी पत्नी को महल में भिजवा कर बेगमों से कुछ नज़रें कमाना था। पुरुषों से स्त्रियों का इस प्रकार परिचय कराने की प्रथा भारत में न थी। अवध का नवाब कमाण्डर-इन-चीफ़ का मतलब न समझ सका। उसने यह समझा कि कमाण्डर-इन-चीफ़ अपनी पत्नी को नवाब के हाथों बेचना चाहता है। निस्सन्देह अवध के नवाब को इस तरह का सौदा रुचिकर न हो सकता था। थोड़ी देर के बाद उसने अपने कर्मचारियों से कहा, "बहुत हो चुका! इस औरत को यहाँ से हटाओ।"

इस स्थल पर आवश्यकता इस बात की भी है कि घटना-क्रम को पूर्ण रीति से समझाने के लिए अंग्रेज़ों और अवध का इतिहास संक्षेप में बतला दिया जाय।

आरंभ में अवध का राज्य विशाल मुग़ल साम्राज्य का एक अंग था। अवध के नवाब दिल्ली-सम्राट् के पैतृक वज़ीर समझे जाते थे। धीरे-धीरे मुग़ल साम्राज्य की निर्बलता के अंतिम दिनों में अवध के नवाब बहुत दर्जे तक उस साम्राज्य से स्वतंत्र होते

चले गये। कम्पनी के साथ अवध के नवाब का सम्बन्ध सन् १७६४ में प्रारंभ हुआ। आरंभ में अवध के नवाब को अपने राज्य की रक्षा के लिए राज्य के अन्दर कम्पनी की सेना रखने की सलाह दी गई। इस सेना के खर्च के लिए सोलह लाख रुपये वार्षिक नवाब से लिये जाने लगे। धीरे-धीरे कम्पनी की यह सेना बढ़ने लगी और उसके ख़र्च के लिए रक़म भी बढ़ती चली गई। यहाँ तक कि इस विशाल सेना के खर्च के लिए रुहेलखण्ड और दोआब का इलाक़ा, जिसकी बचत उस समय दो करोड़ रुपये वार्षिक थी, नवाब से ले लिया गया।

सन् १८०१ में अवध के नवाब और कम्पनी के बीच एक और नई सन्धि हुई, जिसमें अंग्रेज़ों ने वादा किया कि नवाब का शेष समस्त राज्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसके शासन में क़ायम रहेगा और अंग्रेज़ उसमें कभी किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इसी सन्धि की एक धारा यह भी थी कि "अंग्रेज सरकार नवाब वज़ीर के समस्त इलाके की बाहर के आक्रमणों और भीतर के विद्रोहों से रक्षा करने का वादा करता है।" वास्तव में यही धारा अवध की समस्त भावी मुसीबतों की जड़ साबित हुई।

इसके बाद समय-समय पर अंग्रेज गवर्नर जनरलों ने अपने भारतीय युद्धों के लिये करोड़ों रुपये कभी बतौर कर्ज़ के और कभी बतौर सहायता के, अवध के नवाब से वसूल किये। असंख्य अंग्रेज़ शासकों और अफ़सरों की व्यक्तिगत आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए भी अवध के ख़ज़ाने ने समय-समय पर कामधेनु का काम दिया। वास्तव में अवध के राज्य से धन चूस-चूस कर ही अधिकतर कम्पनी के नव-जात साम्राज्य ने भारत में अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट किया।

आये दिन की नित्य नई माँगों के कारण अवध के नवाब की आर्थिक कठिनाई बढ़ती चली गई। एक अंग्रेज़ रेज़िडेण्ट लखनऊ के दरबार में रहने लगा। शासन के छोटे से छोटे मामलों में नित्य नये हस्तक्षेप होने लगे। कई छोटे-छोटे इलाकों का शासन नवाब से कहकर अंग्रेज़ अफ़सरों को सौंप दिया गया। इन अंग्रेज़ अफ़सरों ने स्थान स्थान पर अपने क़ानून चला दिये। इस अनुचित हस्तक्षेप के कारण प्रजा में दुःख और दरिद्रता की अधिकता होने लगी। नवाब ने प्रजा की दशा सुधारने के अनेक प्रयत्न किये किन्तु प्रत्येक बार कम्पनी के प्रतिनिधियों ने नवाब के इन प्रयत्नों को सफल होने से पहले ही रोक दिया।

अवध के शासन में कम्पनी के प्रतिनिधियों के इस अनुचित हस्तक्षेप और उसके परिणामों को वर्णन करते हुए सर हेनरी लॉरेन्स जनवरी सन् १८४५ के कलकत्ता रिव्यू में लिखता है—"हमारे भारतीय इतिहास में अवध का, अध्याय हमारे लिए बड़े ही कलंक का अध्याय है। उससे हमें यह भयानक चेतावनी मिलती है कि जो राजनीतिज्ञ एक बार धर्म और अधर्म के सीधे नियम को छोड़कर उसकी जगह क्षणिक उपयोगिता या अपने विचार के अनुसार 'अपने राष्ट्रीय हित' की दृष्टि से काम करने लगता है तो वह किस सीमा तक पहुँच सकता है। अवध के इतिहास के प्रत्येक लेखक ने जिन घटनाओं का वर्णन किया है, उन सबसे यही सिद्ध होता है कि उस प्रान्त में अंग्रेज़ों का हस्तक्षेप करना जितना अंग्रेज़ों के नाम पर कलंक था, उतना ही अवध दरबार और वहाँ की प्रजा के लिए नाशकर था। × × × हम जिधर ही दृष्टि डालते हैं, उधर ही हमें अपने हस्तक्षेप के नाशकर परिणाम स्पष्ट अक्षरों में लिखे हुए दिखाई देते हैं। × × ×

यदि कहीं पर भी कुशासन बनाये रखने के लिए कोई सफल उपाय काम में लाया जा सकता है तो वह यह है कि देशी नरेश हो, उसका मंत्री भी देशी हो, और दोनों की पुष्टि के लिए वे विदेशी संगीनें हों, जिनको एक अंग्रेज रेज़िडेण्ट नित्य पीछे से चलाता रहे।"

वास्तव में बात ऐसी ही थी। एक ओर तो अवध के शासन में इस प्रकार पद-पद पर हस्तक्षेप किया जा रहा था और दूसरी ओर अवध के नवाब को दिल्ली के दरबार से तोड़ने के लिए नित्य नये प्रयत्न किये जा रहे थे। कम्पनी के प्रतिनिधि इस बात के लिए चिन्तित रहते थे कि अवध के नवाब दिल्ली की ओर से सर्वथा स्वाधीन हों। यहाँ तक कि मार्क्विस आफ़ हेस्टिंग्स ने अवध के 'नवाब-वज़ीर' को 'अवध के बादशाह' की उपाधि दी और इसके बाद नवाब के उत्तराधिकारियों को इसी उपाधि से पुकारा गया। किन्तु ज्यों-ज्यों मुग़ल दरबार की ओर से अवध के नवाबों की स्वतंत्रता बढ़ती गई, त्यों-त्यों अंग्रेज कम्पनी की ओर से उनकी परतंत्रता बढ़ती चली गई, यहाँ तक कि अवध के अदूरदर्शी-भारतीय नरेश कम्पनी की मित्रता के चंगुल में पड़कर थोड़े ही दिनों में सर्वथा पंगुल हो गये।

नवाब पर बार-बार यह अपराध लगाया जाने लगा कि तुम्हारा राज-प्रबन्ध ठीक नहीं है, तुम्हारी प्रजा तुमसे असंतुष्ट है। वास्तव में जो कुछ कुप्रबन्ध था और उसके कारण जैसा असंतोष उस समय अवध में फैला हुआ था, वह सब अंग्रेजों ने ही जान-बूझकर पैदा किया था।

एक स्थल पर लार्ड हेस्टिंग्स ऐसा लिखता है—"वास्तव में इस प्रकार का शासन स्थापित करने का जिससे प्रजा सुखी हो,

एकमात्र सच्चा और लाभकर उपाय यही हो सकता था कि अंग्रेज रेजिडेण्ट को वापस बुला लिया जाता और नवाब को अपने राज-प्रबन्ध में स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता। इसलिए उस इलाक़े के असंतोष का सारा अपराध कम्पनी के ही सिर पर है।"

इतना ही नहीं, सन १८३७ में नवाब के साथ एक नई सन्धि फिर की गई, जिससे नवाब को और भी अधिक जकड़ दिया गया। धीरे-धीरे समय बीतता गया। सन् १८४७ में नवाब वाजिदअली-शाह अवध के तख्त पर बैठा। वाजिदअलीशाह नौजवान, उत्साही और समझदार था। उसने अवध के शासन में अनेक सुधार किये। वह समझ गया कि अवध के राज्य में वास्तविक रोग क्या है?

जिस भाग्यहीन वाजिदअलीशाह के ऊपर विषयलोलुपता के असंख्य झूठे और द्वेषपूर्ण अपराध लगाये जा चुके हैं, उसी ने तख्त पर बैठते ही सबसे पहले अपनी रही-सही सेना को सुधारने और उसे फिर से सुसंगठित करने के प्रबल प्रयत्न करने आरंभ कर दिये। सेना के अनुशासन के लिए उसने अनेक नये और कठोर नियम बनाये। उसने प्रतिदिन अपने सामने सेना से कवायद करवानी शुरू कर दी। लखनऊ दरबार की समस्त पलटनों को प्रतिदिन सूर्योदय से पहले क़वायद के मैदान में जमा हो जाना पड़ता था। नवाब वाजिदअलीशाह स्वयं सूर्योदय से पूर्व सेनापति की वर्दी पहन कर और घोड़े पर सवार होकर मैदान में पहुँच जाता था। यदि किसी पलटन को आने में देर होती थी तो उससे दो हज़ार रुपये जुर्माना वसूल किया जाता था।

इतिहास-लेखक मेटकॉफ़ लिखता है कि वाजिदअलीशाह अपने नियमों का इतना पाबन्द था कि यदि कभी किसी कारण उसे देर होती थी तो इतनी ही रक़म ज़ुर्माने की वह स्वयं अदा करता था किन्तु वाजिदअलीशाह को प्रायः कभी भी देर न होती थी। दोपहर तक सारी पलटनें क़वायद करती थीं और वाजिदअलीशाह बराबर घोड़े पर सवार मैदान में उपस्थित रहता था।

अवध के नवाब वाजिदअलीशाह के ये सब काम कम्पनी के प्रतिनिधियों के लिये अधिक अरुचिकर होने लगे। परिणाम यह हुआ कि अनेक प्रकार से दबाव डालकर नवाब को इस कार्य से रोका गया। इतना ही नहीं, एक समय वह भी आया जब कि वाजिदअलीशाह को विवश होकर क़वायद के मैदान में जाना भी बन्द कर देना पड़ा।

इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद डलहौज़ी का समय आया। अवध की हरी-भरी भूमि का प्रलोभन डलहौज़ी के लिए कोई साधारण प्रलोभन न था। अवध के विषय की ये बातें पार्लमेंट की रिपोर्ट में इस तरह दर्ज हैं—

"इस सुन्दर भूमि में हर जगह ज़मीन की सतह से बीस फुट नीचे और कहीं-कहीं दस फुट नीचे विपुल जल भर हुआ है। यह प्रदेश अत्यन्त मनोरम और वैभव-पूर्ण है। इसमें लम्बे और ऊँचे बाँसों के जंगल के जंगल हैं। मैदानों में आम के वृक्षों की ठंडी छाया है। खेत हरी-भरी पैदावार से लहलहाते हैं। स्वयं प्रकृति ने यहाँ की भूमि को अत्यन्त सुन्दर बनाया है। इस पर इमली के वृक्षों की घनी छाया, सन्तरे के बाग़ों की सुगन्ध, इंजीर के पेड़ों का गहरा रंग और फूलों के रज की

सुन्दर और व्यापक सुगंध यहाँ के दृश्य को और भी अधिक वैभव प्रदान करती रहती है।"

इसमें सन्देह नहीं कि अवध का धन-वैभव उस समय कल्पना से अतीत था। इसीलिए असंभव हो गया कि डलहौजी इस प्रलोभन को जीत सकता किन्तु अवध के अपहरण के लिए उतना भी बहाना न मिल सका जितना कि उसे नागपुर, झाँसी और सतारा के लिए मिल चुका था। अवध के नवाबों ने सर्वदा अँग्रेजों की सहायता की थी। वे सदा ईमानदारी के साथ सन्धि का पालन करते थे।

वाजिदअलीशाह अपने पूर्वाधिकारी का पुत्र था और वाजिद-अलीशाह के अनेक पुत्र लखनऊ के महल में मौजूद थे। फिर भी सन् १८५६ में लार्ड डलहौजी ने अपने इस निश्चय की घोषणा करा दी कि अवध का राज्य कंपनी के राज्य में मिला लिया जायगा। इसका कारण यह बताया गया कि नवाब अपने शासन में उचित सुधार नहीं कर रहा है और न करने के ही योग्य है! निस्संदेह डलहौजी का यह कार्य सन् १८०१ और १८३७ की सन्धियों का स्पष्ट उल्लंघन था।

लार्ड डलहौजी की आज्ञा से लखनऊ का रेजिडेण्ट ऊटरम महल में वाजिदअलीशाह से मिलने गया। ऊटरम ने नवाब के सामने एक पत्र पेश किया, जिसमें लिखा था कि मैं खुशी से अपनी सल्तनत कंपनी को देने के लिए राजी हूँ। रेजिडेण्ट ऊटरम ने उस पत्र पर दस्तखत करने के लिए नवाब पर दबाव डाला। नवाब ने पत्र पढ़ कर दस्तखत करने से साफ़ इंकार कर दिया। इसके बाद रिश्वतों और धमकियों द्वारा वाजिदअलीशाह से

दस्तख़त कराने का प्रयत्न किया गया। तीन दिन बीत गये, फिर भी वाजिदअलीशाह ने दस्तख़त करने से इंकार किया।

इस पर कंपनी की सेना ने समस्त सन्धियों को धूल में मिलाकर लखनऊ के महल में बलपूर्वक प्रवेश किया। कंपनी की मर्यादा के अनुसार महलों को लूटा गया, बेगमों का अपमान किया गया। वाजिदअलीशाह को कैद करके कलकत्ते भेज दिया गया, और समस्त अवध पर कंपनी का अधिकार हो गया।

इसी समय के आस-पास वाजिदअलीशाह के शासन और उसके चरित्र पर पर भाँति-भाँति के झूठे कलंक लगाकर अनेक पुस्तकें लिखवाई गईं। इनमें एक प्रसिद्ध पुस्तक लार्ड डलहौज़ी के जीवन-चरित्र के रचयिता आरनाल्ड की लिखी हुई है। उचित होगा कि हम इन रद्दी पुस्तकों और उनके झूठे कलंकों को लेकर कोई तर्क उपस्थित न करें। सर जान के समय में यह कहते हैं कि कंपनी की यह प्रथा थी कि जिस देशी नरेश का राज्य छीना जाता था उसे जन-साधारण की दृष्टि में गिराने के लिये उसके चरित्र पर अनेक झूठे दोष लगाये जाते थे किंतु दुर्भाग्यवश आरनाल्ड जैसों की पुस्तकों के आधार पर अनेक उपन्यास रचे गये। वाजिदअली-शाह के कल्पित पाप इतिहास से इतिहास में नक़ल किये जाने लगे और आज तक वाजिदअलीशाह के असंख्य देश-निवासी तक इनमें से अनेक गन्दे कलंकों को सच्चा मानते चले आ रहे हैं।

इस स्थल पर हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वाजिदअलीशाह के जीवन में भोग-विलास की वासना लेश-मात्र भी न थी अथवा यह कि उसका व्यक्तिगत चरित्र सर्वथा एक आदर्श चरित्र था किन्तु हम उस भारतीय नरेश के साथ केवल न्याय और सत्य की दृष्टि से केवल इतनी ही बातों का प्रति-

पादन अपने इन शब्दों में करना चाहते हैं—

पहिली बात यह कि वाजिद्अलीशाह की अय्याशी का ज़माना केवल उस समय प्रारंभ हुआ, जिस समय अंग्रेज गवर्नर जनरल और रेज़िडेण्ट के हस्तक्षेप द्वारा उसे अपनी सेना को क़वायद कराने तक से रोका गया। उस ज़माने में भी वाजिद्अली शाह की अय्याशी के सम्बन्ध में जितनी बातें कही जाती हैं उनमें से नब्बे प्रतिशत कल्पित और मिथ्या हैं, और उनमें सत्य की मात्रा कदापि उससे अधिक नहीं है जितनी संसार के नब्बे प्रतिशत नरेशों के जीवन में पाई जाती है और जितनी क्लाइव, वारन हेस्टिंग्स जैसे अनेक गवर्नर जनरलों के जीवन में कहीं अधिक पतित और असभ्य रूप में पाई जाती थी। साथ ही इस अनुचित हस्तक्षेप से पहले वाजिद्अलीशाह का जीवन एक नरेश की हैसियत से असाधारण संयम का जीवन था।

दूसरी बात यह कि वाजिद्अलीशाह शुजाउद्दौला के बाद अवध का पहला नवाब था जिसने अपने राज्य को अंग्रेज़ों के प्रभाव से मुक्त करने का विचार किया और यही उसकी आपत्तियों और उस पर झूठे कलंकों का कारण हुआ।

तीसरी बात यह कि सन् १८५७ के विप्लव ने पूर्ण रूप से साबित कर दिया कि नवाब वाजिद्अलीशाह अपनी हिन्दू और मुसलमान प्रजा में सर्वप्रिय था और कम्पनी का हस्तक्षेप अवध के अन्दर किसी भी अवध के निवासी को रुचिकर न था।

अवध के नवाबों के अधीन अधिकांश बड़े-बड़े ज़मींदार और ताल्लुक़ेदार हिन्दू थे। कम्पनी की सत्ता जमते ही इन

में से अधिकांश की ज़मीनें छीनी जाने लगीं, उनके गाँव ज़ब्त किये जाने लगे और उनके किले गिराये जाने लगे। सर जॉन के लिखता है कि "इन प्राचीन पैतृक ज़मींदारों के साथ घोर अन्याय किया गया।" समस्त अवध के अन्दर वह ज़बर्दस्ती और बरबादी शुरू हो गई जिसका वर्णन पढ़कर पढ़ने वाले का हृदय काँपने लगता है।

इतिहास से उस समय की घटना का पता चलता है कि अवध के सहस्रों ग्रामों के लाखों किसान नवाब वाजिदअली शाह और उसके कुटुम्बियों के इस विपत्ति का हाल सुनकर रो पड़ते थे और सहस्रों ग्राम-निवासी अपने गृह-विहीन ज़मींदारों और ताल्लुकेदारों से मिलकर उनके साथ सहानुभूति प्रगट करते थे। नवाब से लेकर छोटे से छोटे किसान तक सब कम्पनी की नई अमलदारी से दुःखी थे। कम्पनी की फ़ौज के अधिकांश हिन्दुस्तानी सिपाही अवध ही से लिये जाते थे, इसलिए अवध-निवासियों के साथ लार्ड डलहौज़ी के अत्याचारों ने समस्त अवध और अंग्रेज़ी फ़ौज दोनों के अन्दर गहरे असंतोष के बीज बो दिये।

विप्लव का तीसरा मुख्य कारण :—

विप्लव का तीसरा मुख्य कारण लॉर्ड डलहौजी का व्यापक अपहरण-नीति थी। किस प्रकार उसने एक दूसरे के बाद सतारा, पँजाब, झाँसी, नागपुर, पेगू, सिक्किम और सम्बलपुर आदि रियासतों का अपहरण किया, इसे भी संक्षेप में बतला देना आवश्यक है।

भारत के अन्दर अंग्रेज़ी साम्राज्य को विस्तार देनेवालों में डलहौजी का नाम सबसे अन्तिम है अर्थात् डलहौज़ी के

शासन-काल के पश्चात् भारत के मानचित्र में कोई और हिस्सा लाल नहीं रँगा गया।

लार्ड ऑकलैण्ड के समय में इंग्लैण्ड के अन्दर लॉर्ड लैण्ड्सडाउन के मकान पर वहाँ के मंत्रियों और मुख्य-मुख्य नीतिज्ञों की एक सभा हुई थी जिसमें यह निश्चय किया गया था कि अंग्रेजों को भारत में अपने मित्र देशी नरेशों के राज्यों को जिस प्रकार बन पड़े अपने सम्राज्य में मिला-मिला कर अपनी वार्षिक आय को बढ़ाना चाहिए। इसी निश्चित नीति के अनुसार लॉर्ड डलहौज़ी ने एक-एक कर भारत के रहे-सहे देशी राज्यों का अन्त करना आरंभ कर दिया।

महाराजा रणजीतसिंह के समय से ही पंजाब पर कम्पनी के शासकों के दांत लगे हुए थे। लॉर्ड ऐलनब्रु ने रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद पंजाब के अन्दर विद्रोह खड़े करने और अराजकता फैलाने का पूरा प्रयत्न किया। सिखों के साथ युद्ध करने की उसने तैयारी भी कर ली थी किन्तु सिख युद्ध को आरंभ करने का श्रेय गवर्नर जनरल सर हेनरी हार्डिञ्ज को प्राप्त हुआ क्योंकि उसने अपने पूर्वाधिकारी के कार्य को ज्यों का त्यों जारी रखा।

सतलज नदी के दाहिनी ओर उस समय महाराजा रणजीत सिंह के बालक पुत्र महाराजा दलीपसिंह का राज्य था और बाइ ओर फ़ीरोज़पुर, लुधियाना, अम्बाला और मेरठ इन चारों स्थानों में अंग्रेज़ों की मुख्य छावनियाँ थीं। अंग्रेज़ पंजाब पर आक्रमण करने का बहाना खोज रहे थे।

महाराजा दलीपसिंह के नाबालिग होने के कारण उसकी माता रानी झिन्दा राज्य का अधिकतर कार्य चलाती थीं और

शासन-व्यवस्था में सिख सम्राज्य के तीन मुख्य स्तम्भ लालसिंह, तेजसिंह और गुलाबसिंह का पूर्ण रूप से विश्वास करती थी किन्तु ये तीनों ही अंग्रेजों से मिल गये। धीरे-धीरे परिस्थिति बदलती ही गई। अन्त में अंग्रेजों को सिखों से युद्ध करने का कुछ न कुछ बहाना मिल ही गया। भयानक युद्ध के बाद मार्च सन १८४६ में लाहौर दरबार के साथ पहली सन्धि हुई किंतु शीघ्र ही इस सन्धि को तोड़कर दूसरी सन्धि की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। अन्त में लाहौर में ही दूसरी संधि की गई जिसे भैरववाल की संधि कहा जाता है। यह संधि १६ दिसम्बर सन् १८४६ को कि गयी। इस संधि के अनुसार रानी झिन्दाँ को पन्द्रह हजार पाउण्ड अर्थात् डेढ़ लाख रुपये सालाना की पेनशन देकर राज्य के प्रबन्ध से अलग कर दिया गया। दलीपसिंह के नाबालिग रहने के समय तक के लिए आठ सरदारों री एक समिति बना दी गई।

सर फ्रेडरिक करी इस समय लाहौर का रेजीडेण्ट था वह आरंभ से ही बालक दलीपसिंह और सिख राज्य को समूल नष्ट कर देना चाहता था इसीलिए पंजाबियों में उसके प्रति सन्देह और असंतोष होने लगा था।

कुछ दिनों के बाद मुलतान में संग्राम छिड़ गया। लाहौर में बैठे-बैठे रेजीडेंट करी ने महाराज दलीपसिंह की माता महारानी झिन्दा कौर पर यह दोषारोपण किया कि मुलतान के विद्रोह में झिन्दाकौर का हाथ था और इसी बहाने अंग्रेज रेजीडेण्ट के आदेश से १५ मई सन् १८४८ को महाराजा रणजीतसिंह की विधवा महारानी और महाराजा दलीपसिंह की माता झिन्दा कौर को शेखपुरे के महल से कैद करके तुरंत बनारस

भेज दिया गया। समस्त पंजाब और विशेषकर समस्त सिख जाति महारानी झिन्दा कौर को अपनी माता के समान समझती थी। विधवा महारानी के साथ इस प्रकार के व्यवहार को देखते ही समस्त सिख जाति में एक आग सी लग गई। इसी प्रकार की घटनाएँ होते-होते दूसरा सिख-युद्ध हुआ और अन्त में लार्ड डलहौजी ने अन्याय-पूर्वक नाबालिग महाराज दलीपसिंह का राज्य छिनकर उसे अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। इस प्रकार डलहौजी ने पंजाब पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

अब पेगू पर किस प्रकार अधिकार जमाया गया इसे भी संक्षेप में जान लेना उचित होगा। जून सन् १८५१ में मार्क नामक एक अंग्रेजी जहाज़ मोलमई से चलकर रंगून पहुँचा। जहाज़ के अंग्रेज कप्तान का नाम शैपर्ड था। रंगून का बन्दरगाह बरमा के राज्य में था। रंगून पहुँचने के बाद दो मुक़दमे रंगून की बरमी अदालत में कप्तान शैपर्ड के विरुद्ध दायर किये गये। एक मुक़दमा नरहत्या का था और दूसरा लूटने का था। अगस्त सन् १८५१ में चैम्पियन नामक एक दूसरा अंग्रेजी जहाज़ मॉरीशस से रंगून पहुँचा। उस जहाज़ के कप्तान लुई के विरुद्ध भी नर-हत्या करने पर बरमी अदालत में मुक़दमे दायर किये गये। बरमी अदालत ने उन दोनों को उचित दंड दिया। इसी एक बहाने को लेकर अंग्रेजों ने बरमा राज्य के शासकों से द्रोह करना आरंभ कर दिया। अंत में गवर्नर जनरल डलहौजी ने एक बड़ी सेना बरमा की ओर भेज दी। चूँकि बरमा-निवासी किसी भी प्रकार युद्ध के लिए तैयार न थे इसलिए अंग्रेज सैनिक वहाँ पर सफल हो गये और पेगू का प्रान्त अंग्रेज कम्पनी के उदर में समा गया।

इसके बाद बिना युद्ध के ही डलहौजी ने हिंदुस्तान के अन्य आठ राज्यों का अंत कर दिया और एक विशाल राज्य का अंग भंग कर डाला। जिस नीति के अनुसार इन राज्यों को अंग्रेजी राज्य में मिलाया गया था उसे अंग्रेजी में 'लैप्स' कहते हैं। इसका अर्थ यह था कि जिन देशी नरेशों ने कंपनी के साथ मित्रता की संधि कर रखी थी, अथवा जिनके पूर्वजों की सहायता से कम्पनी ने राज्य स्थापित किया था, उनमें से किसी के मर जाने पर यदि उसके कोई पुत्र न हो तो उसका समस्त राज्य अंग्रेजों का हो जाता था और कम्पनी तुरंत उस पर अपना अधिकार कर लेती थी।

सबसे पहला भारतीय राज्य, जिसे इस नीति के अनुसार लार्ड डलहौजी ने ज़ब्त किया था, वह सतारा का राज्य था। इस स्थल पर उल्लेखनीय बात यह है कि सतारा के राजा की सहायता से ही अंग्रेजों ने पेशवा बाजीराव का नाश किया था और फिर आगे चलकर सतारा के राजा के साथ की गई प्रतिज्ञाओं को ही अंग्रेजों ने तोड़ दिया। इसी प्रकार नागपुर का राज्य तथा ऊपर उल्लेख किये गये अन्य राज्यों को भी लार्ड डलहौजी ने हड़पकर अंग्रेजी राज्य में मिला लिया।

इन भारतीय राज्यों को साधारणतया जिस प्रकार कम्पनी के राज्य में मिलाया जाता था और उसका जो परिणाम होता उसके विषय में मद्रास कौन्सिल का सदस्य जॉन सलीवन लिखता है—

"जब किसी देशी रियासत का अन्त किया जाता है, तब वहाँ के नरेश को हटाकर एक अंग्रेज उसके स्थान पर नियुक्त कर दिया जाता है। उस अंग्रेज को क़मिश्नर कहा जाता है। तीन

या चार दर्जन खानदानी देशी दरबारियों और मंत्रियों के स्थान पर कमिश्नर के तीन या चार सलाहकार नियुक्त हो जाते हैं। प्रत्येक देशी नरेश जिन सहस्रों सैनिकों का पालन करता है उनकी जगह हमारी सेना के इने-गिने सौ सिपाही नियुक्त कर दिये जाते हैं। उन पुराने छोटे से दरबार का लोप हो जाता है, वहाँ का व्यापार शिथिल पड़ जाता है, राजधानी वीरान हो जाती है, लोग निर्धन हो जाते हैं, अंग्रेज फलते-फूलते हैं और स्पंज की तरह गंगा के किनारे से धन खींचकर टेम्स में किनारे ले जाकर निचोड़ देते हैं।"

इन रियासतों के अपहरण का उल्लेख करते हुए इतिहास-लेखक लडलो लिखता है—

"निस्सन्देह यदि इस तरह की दशाओं में जिन नरेशों की रियासतें अंग्रेज़ी-राज्य में मिला ली गई, उनके पक्ष में अंग्रेज़ों के विरुद्ध भारतवासियों के विचार न भड़क उठते तो भारत-वासियों को मनुष्यत्व से गिरा हुआ कहा जाता। निस्सन्देह एक भी स्त्री ऐसी न होगी जिसे इन रियासतों के अपहरण ने हमारा शत्रु न बना दिया हो, एक भी बच्चा ऐसा न होगा जिसे हमारे इन कार्यों के कारण फ़िरंगी राज्य के विरुद्ध आरंभ से घृणा की शिक्षा न दी जाती हो।" निस्सन्देह सन् १८५७ तक भारतवासी मनुष्यत्व से इतने गिरे हुए न थे।

अपनी अपहरण-नीति की आड़ में लार्ड डलहौज़ी ने इनाम कमीशन नाम की एक जाँच कमेटी तैयार की। इस कमेटी ने समस्त भारत के लगभग पैंतीस हज़ार जागीरों और इनामों की जाँच की और दस वर्ष के अन्दर उनमें से लगभग इक्कीस हज़ार को ज़ब्त करके कम्पनी के राज्य में मिला लिया। इस

प्रकार समस्त भारत के अन्दर सहस्रों पुराने घरानों को बरबाद कर दिया। इसमें संदेह नहीं कि कम्पनी के इन सब कार्यों ने समस्त देश के अन्दर लाखों भारतवासियों को अंग्रेजों की ओर से दुःखी और निराश कर दिया था।

विप्लव का चौथा मुख्य कारण :—

विप्लव का चौथा कारण पेशवा बाजीराव के दत्तक पुत्र सुप्रसिद्ध नाना साहब के साथ कम्पनी का अन्याय था। सन् १८५१ में अंतिम पेशवा बाजीराव की मृत्यु हुई। बाजीराव के राज्य के बदले में कम्पनी ने सन् १८१८ में उसे "उसके, उसके कुटुम्बियों और उसके आश्रितों के पोषण के लिए" आठ लाख रुपये वार्षिक देते रहने का वादा किया था। सन् १८२७ में बाजीराव ने नाना धुंधपंत को गोद लिया। नाना की आयु उस समय तीन वर्ष की थी। कानपुर के पास बिठूर में पेशवा के साथ उस समय लगभग आठ हजार पुरुष, स्त्री और बच्चे रहा करते थे। इन सब का पोषण इसी आठ लाख रुपये वार्षिक की पेनशन म होता था।

बाजीराव के मरते ही गवर्नर जनरल डलहौजी ने इस पेनशन को बन्द कर दिया। बाजीराव की मृत्यु के पहले की पेनशन के बासठ हजार रुपये कम्पनी की ओर बाक़ी थे। डलहौजी ने इसे भी देने से इंकार किया। नाना साहब को इसका भी नोटिस दे दिया गया कि बिठूर की जागीर भी तुमसे जिस समय चाहें, छीन ली जायगी।

समस्त अंग्रेज इतिहास-लेखक स्वीकार करते हैं कि इससे पहले युवक नाना साहब का व्यवहार अंग्रेजों के प्रति बहुत ही अच्छा था। सर जान के लिखता है कि "नाना शान्त-स्वभाव और आडम्बर रहित युवक था। उसमें कोई भी बुरी आदत

नहीं थी और वह अंग्रेज कमिश्नर की सलाह मानने के लिये सदैव तैयार रहता था।"

कानपुर के समस्त अंग्रेज और उनकी मेमें नाना साहब के महल में जाकर ठहरतीं व रहती थीं। नाना उनको बड़े आराम से रखता था और जब वे उसके यहाँ से चलने लगते तब उन्हें मूल्यवान दुशाले और आभूषण भेंट करता था। नाना के हाथी-घोड़े और गाड़ियाँ सर्वदा अंग्रेजों की सेवा के लिये खड़ी रहती थीं। फिर भी लार्ड डलहौजी ने बाजीराव के मरते ही नाना साहब की पेनशन को बन्द कर दिया।

नाना ने अपने खर्च, कठिनाइयों और कम्पनी की सन्धियों को दिखाते हुए डलहौजी के पास प्रार्थना पत्र भेजा कि पेनशन न बन्द की जाय। नाना ने इंग्लैण्ड के शासकों से अपील की और अपना एक योग्य वकील अजीमुल्ला खाँ को इस कार्य के लिए विलायत भेजा किन्तु वहाँ पर भी नाना के साथ किसी ने न्याय न किया।

सर जान के, चार्ल्स बॉल, ट्रेवेलियन और मार्टिन, ये चारों प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहास-लेखक स्वीकार करते हैं कि न्याय नाना के पक्ष में था। परिणाम यह हुआ कि उसी समय से युवक नाना साहब के चित्त में अंग्रेजों की ओर से घृणा उत्पन्न हो गई और वह अपने तथा अपने देश को अँग्रेजों के पंजे से छुड़ाने के उपाय सोचने लगा।

विप्लव का पाँचवाँ मुख्य कारण :—

विप्लव का पाँचवाँ कारण था भारतवासियों को ईसाई बनाने की आकांक्षा और विशेष रूप से हिन्दुस्तानी सेनाओं में अँग्रेज अफसरों का ईसाई-मत प्रचार। सन् १८५७ के बहुत पहले से

अनेक बड़े-बड़े अँग्रेज नीतिज्ञों को भारतवासियों के ईसाई हो जाने में ही अपने राज्य की स्थिरता दिखाई देती थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के अध्यक्ष मिस्टर मैंगल्स ने सन् १८५७ में पार्लिमेंट के अन्दर कहा था—

"परमात्मा ने हिंदुस्तान का विशाल साम्राज्य इंग्लैण्ड को सौंपा है, और इसलिए सौंपा है ताकि हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसा मसीह का विजयी झण्डा फह-राने लगे। हममें से प्रत्येक को अपनी पूरी शक्ति इस काम में लगा देनी चाहिये, ताकि समस्त भारत को ईसाई बनाने के महान् कार्य में देश भर के अन्दर कहीं पर भी किसी कारण तनिक भी ढील न होने पाये।"

यह बात ब्रिटिश-भारतीय राजनीति की दृष्टि से उस समय के सब से अधिक उत्तरदायी अँग्रेज नीतिज्ञ की है। उसी समय के निकट एक दूसरे विद्वान अंग्रेज रेवरेण्ड कैनेडी ने लिखा है—"हम पर कुछ भी आपत्तियाँ क्यों न आयें; जब तक भारत में हमारा साम्राज्य बना हुआ है तब तक हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि हमारा मुख्य कार्य उस देश में ईसाई मत को फैलाना है। जब तक रासकुमारी से लेकर हिमालय तक सारा हिन्दुस्तान ईसा के मत को ग्रहण न कर ले और हिन्दू तथा मुसलमान धर्मों की निन्दा न करने लगें तब तक हमें लगातार प्रयत्न करते रहना चाहिये। इस कार्य के लिए हम जितने भी प्रयत्न कर सकें, हमें करने चाहिये और हमारे हाथों में जितने अधिकार और जितनी सत्ता है, उसका इसी के लिये उपयोग करना चाहिये।"

इसी तरह के और भी वाक्य उस समय के अनेक अँग्रेज नीतिज्ञों, शासकों और विद्वानों के उद्धृत किये जा सकते हैं।

यही विचार लार्ड मैकाले के लेखों में पाया जाता है और यही एक अंश तक ब्रिटिश-भारतीय शिक्षा प्रणाली के मूल में भी वर्तमान है।

कारण स्पष्ट है। अंग्रेज़ नीतिज्ञ इस बात को भली भाँति समझते थे कि किसी जाति को अधिक समय तक पराधीन रखने के लिए उसमें किसी प्रकार का राष्ट्रीय अभिमान या अपनी श्रेष्ठता अथवा अपने प्राचीनत्व की आन का विचार नहीं रहने देना चाहिये और कम से कम उस समय भारतवासियों को सब से अधिक अभिमान अपने धर्म का था। धर्म ही उनकी मुख्य आन थी। इसीलिए भारतवासियों को धर्म-च्युत कर देना उनके राष्ट्रीय अभिमान और उमंगों को एक दीर्घ काल के लिए अन्त कर देना था। अनन्त काल तक उन्हें विदेशी राज्य के भक्त और उसकी विनीत प्रजा बनाये रखने का यही सब से अच्छा उपाय हो सकता था।

मद्रास के गवर्नर की हैसियत से लार्ड विलियम बेण्टिङ्क ने जिस प्रकार अपने प्रांत और विशेषकर वहाँ की सेना के अन्दर ईसाई-मत-प्रचार को सहायता और उत्तेजना दी, उसी का परिणाम सन् १८०६ की बेलोर के सिपाहियों का विद्रोह था, जिसका कि वर्णन हम पहले कर चुके हैं। गवर्नर जनरल होने के बाद भी लार्ड बेण्टिङ्क की यह नीति इसी प्रकार चलती रही। सन् १८३२ में एक नया क़ानून पास किया गया जिसका अभिप्राय यह था कि जो भारतवासी ईसाई हो जायँ, उनका अपनी पैतृक सम्पत्ति पर पूर्ववत् अधिकार बना रहे।

अंग्रेज-राज्य के स्थापित होने के साथ-साथ असंख्य प्राचीन मंदिरों और मस्जिदों की माफ़ी की जागीरें छिन गईं। कैदियों

के लिए जेलखाने में अपने धर्म का पालन करना असंभव कर दिया गया। लार्ड डलहौज़ी ने भारतवासियों को गोद लेने की प्राचीन धार्मिक प्रथा को नाजायज़ क़रार दिया, और भी इसी तरह के अनेक कार्य किये गये जो भारतवासियों के धार्मिक नियमों और उनके धार्मिक रस्म रिवाज़ के स्पष्ट विरुद्ध थे।

स्वयं लार्ड कैनिंग ने लाखों रुपये ईसाई-मत के प्रचारकों में वितरण किये। भारतीय खज़ाने से पादरी बिशपों को ऊँचे-ऊँचे वेतन मिलने लगे। दफ़्तरों के अन्दर अनेक अंग्रेज़ अफ़सर अपने भारतीय मातहतों पर ईसाई होने के लिये अपना दबाव डालने लगे। अनेक अंग्रेज़ ईसाई पादरी अपनी वक्तृताओं और पत्रिकाओं में हिन्दू और मुसलमान धर्मों की घोर निंदा करने लगे और दोनों धर्मों के पूज्य पुरुषों के लिये अनुचित शब्दों का प्रयोग करने लगे। २२ मार्च सन् १८३२ को पार्लिमेंट की सिलेक्ट कमेटी के सामने गवाही देते हुए कप्तान टी० मैकेन ने ऐसा बयान किया था—

"× × × बहुत से योग्य भारतीय मुसलमानों ने मुझसे बयान किया है कि गवर्नमेंट ईसाई पदारियों के साथ बड़ी रिआयतें करती है और ये पादरी लोग उनके धार्मिक रिवाजों की गलियों तक में निन्दा करने में हद को पहुँच जाते हैं। इनमें से एक पादरी हिन्दू-मुसलमान जनता को व्याख्यान देते हुए कह रहा था—'तुम लोग मुहम्मद के ज़रिये अपने पापों की माफ़ी की आशा करते हो, किन्तु मुहम्मद इस समय दोज़ख में है और यदि तुम लोग मुहम्मद के उसूलों पर विश्वास करते रहोगे तो तुम सब भी दोज़ख जाओगे।" ईसाई पादरियों के

विरुद्ध इस तरह की शिकायतें उन दिनों प्रायः सभी स्थानों में हुआ करती थीं।

सन् १८४६ में पंजाब पर कम्पनी का अधिकार हुआ। उसके बाद पंजाब को एक आदर्श ईसाई प्रान्त बनाने के लिए विशेष प्रयत्न किये गये। सर हेनरी लॉरेन्स, सर जॉन लॉरेन्स, सर रॉबर्ट मॉण्ट गूमरी, डॉनेल्ड मेकलिऑड, कर्नल एडवर्डस इत्यादि पंजाब के प्रसिद्ध अंग्रेज़ शासक सब उसी राय के थे। इनमें से अनेक की यह राय थी कि पंजाब में शिक्षा का सारा कार्य ईसाई पादरियों के हाथों में दे दिया जाय। सरकार की ओर से ईसाई मदरसों को धन की पूरी सहायता दी जाय और अंग्रेज़ सरकार अपने स्कूल बन्द कर दे।

गवर्नर जनरल लार्ड डलहौज़ी और कम्पनी के डाइरेक्टर भी इन लोगों की राय से सहमत थे। इनमें से कुछ की राय यह भी थी कि सरकारी स्कूलों और कालेजों में इंजील और ईसाई मत की शिक्षा दी जाया करे। अंग्रेज़ सरकार हिन्दू धर्म और इस्लाम को किसी तरह की सहायता, उत्तेजना या स्वीकृति न दे। किसी सरकारी महकमें में किसी भी हिन्दू या मुसलमान त्योहार की छुट्टी न दी जाय। अपने न्यायालयों में अंग्रेज़ सरकार हिन्दू या मुस्लिम धर्मशास्त्रों और धार्मिक रिवाज़ों को कोई स्थान न दे। हिन्दुओं या मुसलमान के धार्मिक कीर्तन बन्द कर दिये जायँ।

किन्तु भारत की विचित्र परिस्थिति में उस समय के शासकों की यह नीति इस खुले रूप में देर तक न चल सकी। कुछ भी हो, ईसाई-धर्म-प्रचार के पक्ष में निरंतर प्रयत्न होते रहे। धीरे-धीरे इन धर्मोन्मत्त शासकों का ध्यान हिन्दुस्तानी सिपाहियों

की ओर गया। इतिहास-लेखक नालेन लिखता है कि अंग्रेज़ सरकार सिपाहियों के धार्मिक भावों की अवहेलना करने लगी और बात-बात में उनके धार्मिक नियमों आदि का उल्लंघन किया जाने लगा। यहाँ तक कि कम्पनी की सेना के अनेक अंग्रेज़ अफ़सर खुले तौर पर अपने सिपाहियों का धर्म-परिवर्तन करने के काम में लग गये।

बंगाल के पैदल सेना के एक अंग्रेज़ कमाण्डर ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में लिखा है कि "मैं लगातार २८ वर्ष से भारतीय सिपाहियों को ईसाई बनाने की नीति पर अमल करता रहा हूँ और ग़ैर ईसाइयों की आत्माओं को शैतान से बचाना मेरे फ़ौजी कर्तव्य का एक अंग रहा है।"

'काज़ेज़ ऑफ़ दी इण्डियन रिवोल्ट' नामक पत्रिका का भारतीय रचयिता लिखता है—"सन् १८५७ के आरंभ में हिन्दुस्तानी सेना के बहुत से कर्नल सेना को ईसाई बनाने के अत्यन्त घोर तथा दुष्कर कार्य में लगे हुए पाये गये। उसके बाद यह पता चला कि इन जोशीले अफ़सरों में से अनेक × × × न रोज़ी के ख्याल से फ़ौज में भर्ती हुए थे, न इसलिए भर्ती हुए थे कि फ़ौज का कार्य उनकी प्रकृति के अत्यन्त अनुकूल था, बल्कि उनका केवल मात्र और एकमात्र उद्देश्य यही था कि इस ज़रिये से लोगों को ईसाई बनाया जाय। फ़ौज को उन्होंने खास तौर पर इसलिए चुना, क्योंकि शान्ति के दिनों में फ़ौज के अन्दर सिपाहियों और अफ़सरों दोनों को हद दर्जे की फ़ुर्सत रहती है और वहाँ पर बिना ख़र्च परिश्रम इत्यादि के या बिना गाँव-गाँव भटकने के हर तरफ़ बहुत बड़ी संख्या में ग़ैर ईसाई मिल सकते हैं।

× × × इन लोगों ने हिन्दू और मुसलमान अफ़सरों और सिपाहियों में प्रचार करना और उनमें ईसाई पुस्तकों के अनुवाद और पत्रिकाएँ बाँटना शुरू किया। शुरू में सिपाहियों ने कभी घृणा के साथ और कभी उदासीनता के साथ यह सब सहन किया। किन्तु जब इन लोगों का कार्य बराबर चलता रहा, जब इनके ईसाई बनाने के प्रयत्न दिन-प्रतिदिन अधिक से अधिक गहरे और कष्ट पहुँचाने वाले होते गये, तब दोनों धर्मों के सिपाही चौंक उठे। × × × इस अर्से में ये विचित्र अफ़सर जिन्हें 'मिशनरी कर्नल' और 'पादरी लेफ़्टेनेण्ट' कहा जाने लगा था, चुप न बैठे। सिपाहियों की सहनशीलता से इनका साहस और बढ़ गया और वे पहले की अपेक्षा और अधिक जोश दिखलाने लगे। हिन्दू-धर्म और इस्लाम की वह पहले से अधिक ज़ोरदार शब्दों में निन्दा करने लगे। पहले से अधिक जोश के साथ वे इन अविश्वासी लोगों पर ज़ोर देने लगे कि अपने तैंतीस करोड़ कुरूप देवी-देवताओं को छोड़ कर उनकी जगह एक सच्चे परमात्मा को, उसके बेटे ईसा के रूप में पूजा करो। मुहम्मद और राम को अभी तक वे केवल ऐसे-वैसे मनुष्य कहा करते थे अब वे उन्हें बड़े दग़ाबाज़ और पक्के धूर्त बतलाने लगे।

× × × धीरे-धीरे इन धर्म-प्रचारक कर्नलों ने सिपाहियों को रिश्वतें दे-देकर उन्हें ईसाई बनाना शुरू किया और ईसाई बननेवालों को तरक़्क़ी तथा दूसरे इनामों का भी लालच दिया। इस नापाक काम में उन्होंने निर्लज्जता के साथ अपने अफ़सरी के प्रभाव का उपयोग किया। सिपाहियों ने आपत्ति की, उनके यूरोपियन अफ़सरों ने वादा किया कि हर

सिपाही को, जो अपना धर्म छोड़ देगा, हवलदार बना दिया जायगा। हर हवलदार को सूबेदार मेजर बना दिया जायगा, इत्यादि। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय सिपाहियों में बहुत बड़ा असन्तोष फैलने लगा।"

विप्लव के ठीक बाद पूर्वोक्त पत्रिका लन्दन से प्रकाशित हुई। इसके बाद भारतीय क्रान्ति और उसके कारणों के ऊपर असंख्य पुस्तकें, पत्रिकाएँ और लेख इंग्लैण्ड और भारत में प्रकाशित हुए किन्तु किसी लेखक को भी पूर्वोक्त पत्रिका के गम्भीर दोषारोपण को असत्य कहने का साहस न हो सका।

इसी पत्रिका का अंग्रेज़ सम्पादक मैलकम लुइन, जो मद्रास सुप्रीम कोर्ट का जज और मद्रास कौन्सिल का सदस्य रह चुका था, अपने अनुभव से भारतवासियों के साथ उस समय के अंग्रेज शासकों के बर्ताव का वर्णन करते हुए भूमिका में लिखता है—"समाज के सदस्यों की हैसियत से हम दोनों अर्थात् अंग्रेज और हिन्दुस्तानी एक दूसरे से अनभिज्ञ हैं। हमारा एक दूसरे से वही संबन्ध है जो कि मालिकों और गुलामों में होता है। हमने हर एक ऐसी चीज पर अपना अधिकार जमा लिया है जिससे कि देशवासियों का जीवन सुखमय हो सकता था। प्रत्येक ऐसी वस्तु जो कि देशवासियों को समाज में उभार सकती थी या मनुष्य की हैसियत से उन्हें ऊँचा कर सकती थी, हमने उनसे छीन ली है। हमने उन्हें जाति-भ्रष्ट कर दिया है। उनके उत्तराधिकार के नियमों को हमने रद्द कर दिया है। उनकी विवाह की संस्थाओं को हमने बदल दिया है उनके धर्म के पवित्रतम रिवाजों की हमने अवहेलना की है। उनके मंदिरों की जायदादें हमने जब्त कर ली हैं। अपने

सरकारी उल्लेखों में हमने उन्हें काफ़िर (हीदन) कहकर कलंकित किया है। उनके देशी नरेशों के राज्य हमने छीन लिये हैं और उनके अमीरों और रईसों की जायदादें ज़ब्त कर ली हैं। अपनी लूट-खसोट से हमने देश को बर्बाद कर दिया है, और लोगों को सता-सता कर उनसे मालगुज़ारी वसूल की है। हमने संसार के सबसे प्राचीन उच्च कुलों को निर्मूल कर देने और उन्हें गिराकर पैरिया बना देने का प्रयत्न किया है।"

इसके बाद भारतवासियों को ईसाई बनाने के प्रयत्न के अनौचित्य और भारतीय धर्म और भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता का वर्णन करते हुए मैलकम लुइन लिखता है—

"× × × नहीं, यदि वृक्ष की परख उसके फलों से की जाती है, यदि इंग्लैण्ड और भारत के अलग-अलग सदाचारों को वहाँ के धर्म की कसौटी मान लिया जाय, तो भारत का मस्तक उस तुलना में ऊँचा रहेगा।"

इन सब प्रसंगों से यह प्रमाणित है कि अपने भारतीय सिपाहियों के साथ कम्पनी और कम्पनी के अफ़सरों का साधारण व्यवहार भी बहुत अच्छा न था। सामान, वेतन, रहने के मकान इत्यादि के विषय में सिपाहियों की ओर से अनेक शिकायतें बार-बार की जा चुकी थीं किन्तु उन पर यथोचित ध्यान कभी न दिया गया था। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों के दिल अंग्रेजों की ओर से भीतर ही भीतर असंतोष और क्रोध से भर गये थे। सन् १८५७ के महान् विप्लव का यह पाँचवाँ और एक तरह सबसे अधिक जबर्दस्त कारण था।

———

विप्लव की योजनाएं

पूर्वोक्त पाँचों कारणों ने मिलकर समस्त भारत के अन्दर अंग्रेज़ी-राज्य के विरुद्ध प्रत्येक श्रेणी के लोगों में ज़बर्दस्त स्फोटक-सामग्री जमा कर रखी थी। केवल किसी ऐसे योग्य नेता की आवश्यकता थी जो इस सामग्री से लाभ उठाकर समस्त देश को स्वाधीनता के एक महान् संग्राम के लिए तैयार कर सके और सौ वर्ष से जमे हुए विदेशी शासन को उखाड़ कर फेंक सके; या कोई अकस्मात् चिनगारी इस मामले पर पड़कर देश में एक भयंकर आग लगा दे, परिणाम, फिर चाहे कुछ भी क्यों न हो।

इसीलिए यह कहना पड़ता है कि सन् १८५७ का महान् विप्लव वास्तव में भारत के हिन्दू और मुसलमान नरेशों और भारतीय जनता की ओर से देश को विदेशियों की राजनैतिक अधीनता से मुक्त कराने का एक महान् और व्यापक प्रयत्न था। लन्दन 'टाइम्स' का विशेष प्रतिनिधि सर विलियम हावर्ड रसल, जो सन् १८५७ के महान् विप्लव के समय भारत में मौजूद था, उस विप्लव के सम्बन्ध में लिखता है—

"वह ऐसा युद्ध था जिसमें लोग अपने धर्म के नाम पर, अपनी क़ौम के नाम पर, बदला लेने के लिए और अपनी आशाओं को पूरा करने के लिए उठे थे। उस युद्ध में समस्त राष्ट्र ने अपने ऊपर से विदेशियों के जुए को फेंक कर उसकी जगह देशी नरेशों की पूर्ण सत्ता और देशी धर्मों का पूर्ण अधिकार फिर से स्थापित करने का संकल्प कर लिया था।"

इस राष्ट्रीय प्रयत्न की तह में उतनी ही गहरी योजना और उतना ही व्यापक और गुप्त संगठन भी था। जहाँ तक मालूम हो सकता है, इस विशाल योजना का सूत्रपात दोनों में से किसी एक स्थान पर हुआ—कानपुर के निकट बिठूर में या इंग्लैण्ड की राजधानी लन्दन में।

अन्तिम पेशवा बाजीराव का दत्तक पुत्र नाना साहब धुंधपंत विप्लव के मुख्यतम नेताओं में से था। यह पहले ही बताया जा चुका है कि नाना साहब ने अपनी पेनशन के विषय में अपील करने के लिए अज़ीमुल्ला खाँ को इंग्लैण्ड भेजा था। यह अज़ीमुल्ला नाना का विश्वस्त सलाहकार और विप्लव का दूसरा मुख्य नेता था। अज़ीमुल्ला अत्यन्त योग्य नीतिज्ञ था। अंग्रेज़ी और फ्रान्सीसी दोनों भाषाओं का वह पूर्ण पंडित था। विलायत में वह हिन्दुस्तानी वेश में ही रहता था। देखने में वह अत्यन्त सुन्दर था। लन्दन के उच्च समाज के लोगों में उसका आचार-व्यवहार इतना आकर्षक रहा कि लिखा है, उच्चतम श्रेणी के अंग्रेज़ी समाज की अनेक स्त्रियाँ उस पर मुग्ध हो गईं। फिर भी अज़ीमुल्ला को अपने मुख्य उद्देश्य में सफलता प्राप्त न हो सकी अर्थात् नाना की पेनशन के विषय में इंग्लैण्ड के नीतिज्ञों या शासकों ने उसकी एक न सुनी।

ठीक उन्हीं दिनों सतारा के पदच्युत राजा की ओर से अपील करने के लिए रंगो बापूजी नामक एक मराठा नीतिज्ञ भी इंग्लैण्ड गया हुआ था। रंगो बापूजी को भी अपने कार्य में सफलता न हो सकी। लन्दन में अज़ीमुल्ला और रंगो बापूजी की भेंट हुई। संभव है कि सन् १८५७ के विप्लव की योजना का सूत्रपात भारत से अज़ीमुल्ला के चलने से पहले बिठूर ही में

हो चुका हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि रंगो बापूजी और अजीमुल्ला खाँ ने लन्दन के कमरों में बैठकर बहुत अंश तक इस राष्ट्रीय योजना को रंग और रूप दिया। उसके बाद रंगो बापूजी दक्खिन के नरेशों को इस योजना के पक्ष में करने के उद्देश्य से सतारा वापस आया और चतुर अजीमुल्ला खाँ यूरोप के अन्दर अंग्रेज़ों के बल और स्थिति को समझने के लिए और भारत के भावी स्वाधीनता संग्राम में अन्य राष्ट्रों की सहायता या सहानुभूति प्राप्त करने के लिए यूरोप के विविध देशों में भ्रमण करने लगा।

अन्य देशों में होते हुए अजीमुल्ला खाँ टर्की की राजधानी क़ुस्तुनतुनिया पहुँचा। उन दिनों रूस और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध हो रहा था। अजीमुल्ला खाँ ने सुना कि हाल में सेबस्तेपोल की लड़ाई में रूस ने अंग्रेज़ों को हरा दिया है। अजीमुल्ला खाँ रूस भी पहुँच गया। कई अंग्रेज़ इतिहास लेखकों ने यह शंका प्रकट की है कि अजीमुल्ला खाँ नाना साहब की ओर से अंग्रेज़ों के विरुद्ध रूस से सन्धि करने के लिए रूस गया था। रूस में प्रसिद्ध अंग्रेज़ विद्वान रसल के साथ, जो लन्दन के अखबार 'टाइम्स' का सम्वाददाता था, अजीमुल्ला खाँ की मुलाक़ात हुई। एक दिन रसल के साथ बैठकर अजीमुल्ला खाँ बड़े शौक़ के साथ दिन भर अंग्रेज़ों और रूसियों की लड़ाई देखता रहा। रसल ने लिखा है कि रूसी तोप का एक गोला अजीमुल्ला के ठीक पैर के पास आकर फूटा, किन्तु अजीमुल्ला अपनी जगह से बाल भर भी न हिला। मालूम नहीं कि रूस के बाद अजीमुल्ला और कहाँ-कहाँ गया। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अजीमुल्ला खाँ ने इटली, रूस, टर्की और मिश्र

इत्यादि देशों की सहानुभूति अपने भावी स्वाधीनता युद्ध की ओर करने का प्रयत्न किया। लार्ड राबर्टस् ने अपनी पुस्तक "फ़ॉर्टी इयर्स-इन-इण्डिया" में लिखा है कि उसने अजीमुल्ला के कई पत्र इस सम्बन्ध में टर्की के सुलतान और उमर पाशा के नाम देखे, जिनमें भारत के अन्दर अंग्रेजों के अत्याचारों का वर्णन था।

कह नहीं सकते कि अजीमुल्ला खाँ को अपने इन सब प्रयत्नों में कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई किन्तु दो बातें ध्यान में रखने योग्य हैं। एक यह कि विप्लव के दिनों में भारत के अन्दर यह एक आम अफ़वाह उड़ी थी कि नाना साहब ने अंग्रेजों के विरुद्ध रूस के ज़ार के साथ कुछ सन्धि कर ली है। दूसरी यह कि जिन दिनों भारत में विप्लव हो रहा था उन दिनों इटली का प्रसिद्ध देशभक्त सेनापति गैरीबाल्डी भारतवासियों की सहायता के लिए अपने देश से सेना और सामान लाने की तैयारी कर रहा था। इटली की आन्तरिक कठिनाइयों, और विद्रोहों के कारण गैरीबाल्डी को जल्दी वहाँ से चलने का अवकाश न मिल सका, और जिस समय गैरीबाल्डी अपने यहाँ के जहाज़ों में सेना और सामान भरकर भारतीय विप्लव-कारियों की सहायता के लिए अपने देश से चलने के लिए तैयार हुआ, उसी समय उसे मालूम हुआ कि भारत का विप्लव शान्त हो चुका है। गैरीबाल्डी ने बड़े दुःख के साथ अपनी सेना को जहाज़ों से उतार लिया।

यूरोप और एशिया के अन्य देशों में भ्रमण करने के बाद अजीमुल्ला खाँ भारत लौटा। अब एक ओर रंगो बापूजी सतारा में बैठा हुआ दक्खिन के नरेशों और वहाँ के लोगों को तैयार कर रहा था और दूसरी ओर अजीमुल्ला खाँ और नाना

साहब बिठूर में बैठे हुए आगामी विप्लव के नक़शे को पूरा कर रहे थे।

विप्लव की योजना करने वालों का मुख्य विचार यह था कि भारत के समस्त हिन्दू और मुसलमान बूढ़े सम्राट् बहादुर शाह के झण्डे के नीचे मिलकर अंग्रेज़ों को देश से बाहर निकाल दें और फिर सम्राट् ही के झण्डे के नीचे अपने देश के सुशासन का नये सिरे से प्रबन्ध करें। इसके लिए एक विशाल और गुप्त संगठन की आवश्यकता थी और संगठन के बाद इस बात की भी आवश्यकता थी कि समस्त भारत में एक साथ एक ही दिन अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया जाय।

इस विशाल गुप्त संगठन की नींव मालूम होता है कि बिठूर ही में रखी गई। संगठन इतना विशाल होते हुए भी इतना सम्पूर्ण, सुन्दर और सुव्यवस्थित था और उसे अंग्रेज़ों जैसी जागरूक क़ौम से वर्षों इतनी अच्छी तरह गुप्त रखा गया कि इस विषय में अनेक अंग्रेज़ इतिहास-लेखकों तक ने विप्लव के प्रवर्तकों और संचालकों की योग्यता की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। अधिकतर अंग्रेज़ों की ही पुस्तकों से हमें इस संगठन के विषय में जो कुछ मालूम हो सकता है, उससे पता चलता है कि सन् १८५६ से कुछ पहले नाना साहब ने बिठूर से बैठे हुए भारत भर में चारों ओर अपने गुप्त-दूत और प्रचारक भेजने आरंभ कर दिये।

नाना के विशेष दूत दिल्ली से लेकर मैसूर तक समस्त भारतीय नरेशों के दरबारों में पहुँचे और उसके गुप्त प्रचारक कम्पनी की समस्त देशी फ़ौजों तथा जनता को अपनी ओर करने के लिए निकल पड़े। जो गुप्त-पत्र नाना ने इस समय भारतीय

नरेशों को लिखे उनमें उसने दिखलाया कि किस प्रकार अंग्रेज एक-एक देशी रियासत को हड़प कर समस्त भारत को पराधीन करने के प्रयत्नों में लगे हुए हैं। कुछ समय बाद अंग्रेजों ने नाना के एक दूत को पकड़ा जो मैसूर दरबार के नाम नाना का पत्र लेकर गया था। इसी दूत से अंग्रेजों को पता लगा कि इस प्रकार के कितने ही पत्र नाना अनेक नरेशों को भेज चुका था। इतिहास-लेखक सर जान के लिखता है—

"महीनों से बल्कि वर्षों से ये लोग समस्त देश के ऊपर अपने षड्यंत्रों का जाल फैला रहे थे। एक देशी दरबार से दूसरे दरबार तक, विशाल भारतीय महाद्वीप के एक छोर से दूसरे छोर तक, नाना साहब के दूत पत्र लेकर घूम चुके थे। इन पत्रों में होशियारी के साथ और शायद रहस्यपूर्ण शब्दों में भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न धर्म नरेशों और सरदारों को सलाह दी ग थी और उन्हें आमंत्रित किया गया था कि आप लोग आगामी युद्ध में भाग लें।"

इस राष्ट्रीय योजना को फूलने फलने के लिए सबसे अच्छा स्थान दिल्ली के लाल क़िले में मिला, जिसके कारण पहले ही बताये जा चुके हैं।

सम्राट् बहादुरशाह, उसकी योग्य बेगम जीनत महल और उनके सलाहकारों ने देश और नाना का पूरा साथ देने का निश्चय कर लिया। लिखा है कि इस विषयों में दिल्ली के सम्राट् और ईरान के शाह के बीच भी कुछ पत्र-व्यवहार हुआ। दिल्ली के नगर में भी गुप्त सभाएँ होने लगीं और उपाय सोचे जाने लगे।

इसके बाद ही अवध के अंग्रेजी-राज्य में मिलाये जाने का समय आया। सर जॉन के लिखता है कि इस एक घटना से नाना को बहुत बड़ी सहायता मिली। सर जॉन के इन शब्दों में लिखता है कि :—

"अंग्रेजों के इस अन्तिम राज्य-अपहरण का इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि लोग एक दूसरे से पूछने लगे कि अब कौन सुरक्षित रह सकता है! यदि अंग्रेज सरकार ने अवध के नवाब जैसे अपने वफ़ादार दोस्त और मददगार का राज्य छीन लिया है, जिसने कि आवश्यकता के समय अंग्रेजों की मदद दी थी तो अंग्रेजों के साथ वफ़ादारी करने से क्या लाभ? कहा जाता है कि जो राजा और नवाब उस समय तक (विप्लव में भाग लेने से) पीछे हट रहे थे वे अब आगे बढ़ने लगे और नाना साहब को अपने पत्रों का संतोष-जनक उत्तर मिलने लगा।"

लखनऊ का निर्वासित नवाब वाजिद्अलीशाह, उसका होशियार वजीर अली नक़ी खाँ, अवध के समस्त ताल्लुकेदार, जमींदार और वहाँ की समस्त प्रजा अब इस राष्ट्रीय विप्लव की सफलता पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने के लिए तैयार हो गई। वाजिद्अलीशाह की बेगम हज़रत महल और वज़ीर अली नक़ी खाँ, दोनों की गणना विप्लव के मुख्य प्रवर्तकों में की जाती है। वज़ीर अली नक़ी खाँ ने कलकत्ते से बैठ कर मुसलमान फ़क़ीरों और हिन्दू साधुओं के रूप में अपने गुप्त दूत उत्तरी भारत की समस्त देशी फ़ौजों में भेजने आरंभ किये और उन फ़ौजों के भारतीय अफ़सरों के साथ गुप्त पत्र व्यवहार आरम्भ किया। बेगम हज़रत महल ने अवध के तमाम रईसों और जनता को राष्ट्रीय विप्लव के लिए तैयार करना शुरू

किया। इतिहास-लेखक के लिखता है कि—"अली नक़ी खाँ के निमंत्रण पर हज़ारों हिन्दू सिपाही और उनके अफ़सरों ने गंगा-जल और मुसलमानों ने कुरान हाथ में लेकर राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेने और अंग्रेज़ों को देश से बाहर निकालने की शपथ खाई।

इस विशाल संगठन के लिए धन की कमी न थी। सहस्रों रईसों और साहूकारों ने अपनी थैलियाँ राष्ट्रीय नेताओं के चरणों पर रख दीं। बैरकपुर से पेशावर तक और लखनऊ से सतारा तक हज़ारों राष्ट्रीय फ़क़ीर और सन्यासी घूम-घूम कर एक-एक ग्राम और एक-एक पलटन में स्वाधीनता के युद्ध का प्रचार करने लगे। सहस्रों मौलवी और सहस्रों पंडित विप्लव की सफलता के लिए जगह-जगह ईश्वर से प्रार्थना करने लगे।

विप्लव के इस समय पाँच मुख्य केन्द्र थे—दिल्ली, बिठूर, लखनऊ, कलकत्ता, और सतारा। इसमें संदेह नहीं कि जिस शीघ्रता और वेग के साथ समस्त भारत और विशेषकर उत्तरी भारत में विप्लव का प्रचार किया गया, वह अत्यन्त आश्चर्यजनक था। तारीफ़ यह कि अंग्रेज़ों को अन्त समय तक इस तैयारी का कुछ भी ज्ञान न हो सका।

सन् १८५७ के इस गुप्त संगठन के विषय में एक अंग्रेज़ लेखक जैकब लिखता है—"जिस आश्चर्यजनक गुप्त संगठन से यह समस्त षड्यंत्र चलाया गया, जितनी दूरदर्शिता के साथ योजनाएँ की गईं, जिस सावधानी के साथ इस संगठन के विविध समूह एक दूसरे के साथ काम करते थे, एक समूह का दूसरे समूह के साथ सम्बन्ध रखने वाले लोगों का किसी को पता न चलता था, और इन लोगों को केवल इतनी ही सूचना

दी जाती थी जितनी उनके कार्य के लिए आवश्यक होती थी, इन सब बातों का बयान कर सकना कठिन है और ये लोग एक दूसरे के साथ आश्चर्यजनक वफ़ादारी का व्यवहार करते थे।"

इसका एक कारण यह भी था कि अधिकांश अंग्रेज़ी थानों में पुलिस, अनेक अन्य सरकारी कर्मचारी और अंग्रेज़ों के बावर्ची और भिश्ती तक इस राष्ट्रीय योजना में शामिल थे। कहीं-कहीं अंग्रेज़ों ने किसी प्रचारक को पड़क भी लिया। एक अँग्रेज इतिहास लेखक लिखता है कि—"एक बार मेरठ छावनी के निकट कोई फ़क़ीर ठहरा हुआ विप्लव का प्रचार कर रहा था। अंग्रेज़ों ने उसे बाहर निकाल दिया। वह फ़क़ीर अपने हाथी पर बैठ कर पास के गाँव में चला गया और वहाँ से अपना काम करता रहा।"

इन राजनैतिक फ़क़ीरों को प्राय: सवारी के लिए हाथी और रक्षा के लिए सशस्त्र सिपाही मिले हुए थे। यहाँ तक कि काशी, प्रयाग, और हरिद्वार में अंग्रेज़ी राज्य के नाश के लिए खुली प्रार्थनाएँ होने लगीं और सहस्रों यात्री भावी विप्लव में भाग लेने का संकल्प उठाने लगे। तमाशों, पवाड़ों, लावनियों, कठ-पुतलियों, नाटकों आदि से भी विप्लव के संचालकों ने पूरा लाभ उठाया। इस प्रकार का व्यापक प्रचार कम या अधिक एक साल से ऊपर तक होता रहा।

दिल्ली दरबार के राजकवि ने एक राष्ट्रीय गान तैयार किया जो देश भर में स्थान-स्थान पर गाया जाने लगा। धीरे-धीरे संगठन के केन्द्रों की संख्या बढ़ने लगी। इन केन्द्रों के बीच गुप्त पत्र-व्यवहार होने लगा। जगह-जगह विप्लव की घोषणा प्रकाशित होने लगी, जिनमें लोगों को देश और धर्म

के नाम पर शहीद होने के लिए आमंत्रित किया गया। इस प्रकार की घोषणा सन् १८५७ के आरम्भ में मद्रास में भी लगी हुई पाई गई। जगह-जगह गुप्त सभाएँ होने लगीं, जिनमें एक-एक समय दस-दस हजार आदमी भाग लेते थे। पत्र-व्यवहार के लिए भी गुप्त लिपियाँ तैयार हो गईं।

अन्त में इस गुप्त संगठन के अनेक केन्द्रों को एक सूत्र में बाँधने और देश भर में विप्लव का दिन निश्चित करने के लिए मार्च सन् १८५७ के प्रारंभ में नाना साहब और अज़ीमुल्ला खाँ तीर्थ-यात्रा के बहाने बिठूर से निकले। नाना साहब का भाई बाला साहब भी उनके साथ था। सब से पहले ये लोग दिल्ली पहुँचे। लाल क़िले के दीवान खास में सम्राट् बहादुरशाह, बेगम ज़ीनतमहल और दिल्ली के मुख्य-मुख्य नेताओं के साथ इन लोगों की गुप्त मंत्रणाएँ हुईं। इसके बाद नाना अम्बाले गया। अन्य अनेक स्थानों में चक्कर लगाने के बाद १८ अप्रैल को नाना और उसके साथी लखनऊ पहुँचे। लखनऊ में बड़े समारोह के साथ नाना का जुलूस निकाला गया। नाना जहाँ जाता था वहाँ के अंग्रेज़ अफ़सरों से मिलकर उन्हें तरह-तरह के बहाने बतला देता था और इस प्रकार अपनी ओर से निःशंक कर देने के पूरे प्रयत्न करता रहता था। इसके बाद कालपी आदि होते हुए नाना अप्रैल के अन्त में बिठूर वापस आ गया। रसल लिखता है कि अपनी इस यात्रा में नाना और अज़ीमुल्ला रास्ते की समस्त अंग्रेज़ी छावनियों में होते जाते थे।

विप्लव के उन सहस्रों प्रचारकों में, जिन्होंने घूम-घूम कर जनसाधारण के हृदयों को अपनी ओर किया, सबसे मुख्य नाम फैज़ाबाद के एक ज़मींदार मौलवी अहमदशाह का है।

लखनऊ और आगरे के शहरों में दस-दस हज़ार आदमी मौलवी अहमदशाह का व्याख्यान सुनने के लिए जमा होते थे। हिन्दू और मुसलमान अपनी सौ वर्ष की पराधीनता की कहानी सुनकर मौलवी अहमदशाह के व्याख्यानों से यह शपथ खाकर उठते थे कि हम लोग आगामी स्वाधीनता के संग्राम में अपने प्राणों की बाज़ी लगा देंगे। मौलवी अहमदशाह का विशेष वृत्तान्त आगे चलकर इसी पुस्तक में किसी उचित स्थान पर दिया जायगा।

सन् १८५७ के अद्भुत संगठन का वर्णन समाप्त करने से पहले दो और बातों का वर्णन करना आवश्यक है। विप्लव के नेताओं ने अपने संगठन के दो मुख्य चिन्ह नियत किये थे। एक कमल का फूल और दूसरी चपाती। कमल का फूल उन समस्त पलटनों में, जो इन संगठन में शामिल थीं, घुमाया जाता था। किसी एक पलटन का सिपाही फूल लेकर दूसरी पलटन में जाता था। उस पलटन भर में हाथों हाथ वह फूल सब के हाथों से निकलता था। जिसके हाथ में वह सब से अन्त में आता था उसका कर्तव्य होता था कि वह अपने पास की दूसरी पलटन तक उस फूल को पहुँचा दे। इसका गुप्त अर्थ यह लिया जाता था कि उस पलटन के सब सिपाही विप्लव में भाग लेने के लिए तैयार हैं। इस प्रकार के सहस्रों कमल पेशावर से बैरकपुर तक विविध पलटनों के अन्दर घुमाये गये।

चपाती (रोटी) एक गाँव का चौकीदार दूसरे गाँव के चौकीदार के पास ले जाता था। उस चौकीदार का कर्तव्य होता था कि वह उस चपाती में से थोड़ी सी स्वयं खाकर शेष गाँव के दूसरे लोगों को खिला दे और फिर गेहूँ या दूसरे आटे की उसी तरह

की चपातियाँ बनवाकर वह अपने गाँव तक पहुँचा दे। इसका अर्थ यह होता है कि उस गाँव की जनता राष्ट्रीय विप्लव में भाग लेने के लिए तैयार है। चमत्कार सा मालूम होता है कि थोड़े से महीनों के अन्दर ये अलौकिक चपातियाँ भारत जैसे विशाल देश में इस सिरे से उस सिरे तक लाखों ग्रामों के अन्दर पहुँच गईं। निस्सन्देह सिपाहियों के लिए लाल रंग का कमल और जनता के लिए रोटी, दोनों चिन्ह गंभीर और अर्थ-सूचक थे।

नाना की इस यात्रा में ही रविवार ३१ मई सन् १८५७ का दिन समस्त भारत में एक साथ विप्लव करने के लिए नियत कर दिया गया। किन्तु इस तिथि की सूचना प्रत्येक केन्द्र के केवल मुख्य-मुख्य नेताओं को और प्रत्येक पलटन के तीन-तीन अफ़सरों को ही दी गई। शेष का कर्तव्य केवल अपने नेताओं की आज्ञा पर कार्य करना था।

विविध देशी पलटनों के बीच भी इस समय खूब पत्र-व्यवहार हो रहा था। इस प्रकार के एक पत्र में, जो अंग्रेजों के हाथों में पड़ा, लिखा था—"भाइयों! हम स्वयं विदेशियों की तलवार अपने शरीर के अन्दर घोंप रहे हैं। यदि हम खड़े हो जाँय तो सफलता निश्चित है। कलकत्ते से पेशावर तक सारा मैदान हमारा होगा।" इतिहास-लेखक के लिखता है कि सिपाही लोग रात को अपनी गुप्त-सभाएँ किया करते थे जिनमें बोलने वालों के मुँह पर नक़ाब पड़ा होता था।

———

कलकत्ते के पास की घटनाएँ

ऊपर किये गये वर्णनों से पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि १८५७ के महान् विप्लव को चलाने वालों ने कितनी गुप्त और कितनी सुव्यवस्थित योजनाएँ तैयार की थीं किन्तु किसी भी विप्लव अथवा क्रान्ति को पूर्ण रूप से सफल बनाने के लिए आवश्यकता इस बात की होती है कि सभी स्थानों में नियत समय पर और नियत उपायों से विप्लवकारी कार्य किये जायँ। जनवरी सन् १८५७ में कलकत्ते के पास दमदम नामक ग्राम में अकस्मात् एक छोटी सी घटना हुई जिसका कुपरिणाम यह हुआ कि सन १८५७ का विप्लव अपने सभी प्रयत्नों के सफल होते-होते सफल न हो सका।

सन् १८५३ में एक नये ढंग के कारतूस कम्पनी ने अपनी भारतीय सेना के लिए प्रचलित किये। भारत में कई स्थानों पर इन कारतूसों के बनने के लिए कारखाने खोले गये। इससे पहले के कारतूस सिपाहियों को हाथों से तोड़ने पड़ते थे, किन्तु नये कारतूस को दाँतों से काटना पड़ता था। आरंभ में केवल एक दो पलटनों में उन्हें प्रचलित किया गया। भारतीय सिपाहियोंने अज्ञान के कारण कई जगह नये करतूसों को दाँतों से काटना स्वीकार कर लिया। धीरे-धीरे नये कारतूसों का इस्तेमाल बढ़ाया गया।

बैरकपुर के पास इन कारतूसों के बनाने के लिए एक कारखाना खोला गया। एक दिन दमदम का एक ब्राह्मण सिपाही पानी का लोटा हाथ में लिये बारग की ओर जा रहा था। अकस्मात् एक

मेहतर ने आकर पानी पीने के लिए सिपाही से लोटा माँगा। सिपाही ने हिन्दू प्रथा के अनुसार लोटा देने से इन्कार किया। इस पर मेहतर ने कहा, "तुम अब जात-पाँत का घमंड न करो। क्या तुम्हें मालूम नहीं कि शीघ्र ही तुम्हें अपने दाँतों से गाय का मांस और सुअर की चर्बी काटनी पड़ेगी ? जो नये कारतूस बन रहे हैं उनमें जान-बूझकर ये दोनों चीजें लगाई जा रही हैं।"

ब्राह्मण सिपाही इसे सुनते ही क्रोध से भरकर छावनी में गया। जब दूसरे सिपाहियों ने यह समाचार सुना तो वे भी क्रोध से लाल हो गये। वे सोचने लगे कि अंग्रेज सरकार इस प्रकार जान-बूझकर हमें धर्म-भ्रष्ट करना चाहती है। उन्होंने अपने अंग्रेज अफ़सरों से पूछा। अफ़सरों ने उन्हें स्पष्ट उत्तर दिया कि यह अफ़वाह बिलकुल झूठी है और नये कारतूस में इस तरह की कोई चीज नहीं है। सिपाहियों को विश्वास न हुआ। उन्होंने बैरकपुर के कारखाने में काम करने वाले छोटी जाति के हिन्दुस्तानी मजदूर से पता लगाया। उन्हें पता लगा कि वास्तव में नये कारतूसों के अन्दर दोनों चीजें, जो हिन्दू और मुसलमान धर्मों में निषिद्ध हैं, लगाई जाती हैं। इस प्रकार अपनी तसल्ली करने के बाद बैरक़पुर के सिपाहियों ने यह ख़बर सारे हिन्दुस्तान में फैला दी। लिखा है कि इसके दो महीने के अन्दर बैरकपुरसे पेशावर और महाराष्ट्र तक हजारों पत्र इस विषय के भेजे गये और नये कारतूसों का समाचार बिजली के समान भारत के एक-एक हिन्दुस्तानी सिपाही के कानों तक पहुँच गया। प्रत्येक हिन्दू और मुसलमान सिपाही अब अंग्रेज़ों से इस अन्याय का बदला लेने के लिए बेचैन हो गया, किन्तु सिपाहियों के नेता ने उन्हें ३१ मई तक रोक रखने का हर तरह का प्रयत्न किया।

इस स्थल पर विचार करने योग्य बात यह है कि नये कारतूसों में गाय और सुअर की चरबी का उपयोग किया जाना कहाँ तक सच था। आजकल प्रायः समस्त अंग्रेज़ इतिहास लेखक और विशेषकर वे अंग्रेज़ और हिन्दुस्तानी लेखक, जो सरकारी स्कूलों के लिए पाठ्य पुस्तकें लिखते हैं, इस अफ़वाह को झूठा बताते हैं और उस पर विश्वास करने वाले सिपाहियों को पागल कहते हैं।

सन् १८५७ में गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग से लेकर छोटे से छोटे अंग्रेज़ अफ़सर तक सबने गंभीरता के साथ यह ऐलान किया और सिपाहियों को विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि कारतूसों में चरबी का किस्सा सरासर झूठा है और बदमाश लोगों ने फ़ौज को बर्बाद करने के लिए फैलाया है। किंतु सर जान के जो सन् १८५७ के विप्लव का सबसे अधिक प्रामाणिक इतिहास लेखक माना जाता है, वह इस प्रकार लिखता है—"इसमें कोई संदेह नहीं कि इस चिकने मसाले के बनाने में गाय की चरबी का उपयोग किया गया था।"

सर जॉन के यह भी लिखता है कि—"दिसम्बर सन् १८५३ में कर्नल टकर ने बहुत साफ़ शब्दों में इस बात को लिखा था कि नये कारतूसों में गाय और सुअर दोनों की चरबी लगाई जाती थी।" दमदम के कारखाने में जिस ठेकेदार को कारतूसों के लिए चरबी का ठेका दिया गया था उसके ठेके के कागज़ में यह साफ़ शब्दों में लिखा लिया गया था कि "मैं गाय की चरबी लाकर दूँगा।" और चरबी का भाव चार आने सेर रखा गया था।

लार्ड राबर्ट्स ने (जो इस विप्लव के समय भारत में मौजूद था) लिखा है—"मिस्टर फ़ारेस्ट ने भारत सरकार

के कागज़ों की हाल में जाँच की है। उस जाँच से साबित है कि कारतूसों के तैयार करने में जिस चिकने मसाले का उपयोग किया जाता था वह मसाला वास्तव में दोनों निषिद्ध पदार्थों अर्थात् गाय की चरबी और सुअर की चरबी को मिला कर बनाया जाता था और इन कारतूसों के बनाने में सिपाहियों के धार्मिक भावों की ओर इतनी बेपर्वाही दिखाई जाती थी कि जिसका विश्वास नहीं होता।"

इसपर प्रसिद्ध इतिहास लेखक विलियम लैकी लिखता है—"यह एक लज्जाजनक और भयंकर सच्चाई है कि जिस बात का सिपाहियों को विश्वास था, वह बिल्कुल सच थी।" और आगे चलकर लैकी यह भी लिखता है—"इस घटना पर फिर से दृष्टि डालते हुए अंग्रेज़ लेखकों को लज्जा के साथ स्वीकार करना चाहिए कि भारतीय सिपाहियों ने जिन बातों के कारण विद्रोह किया था, उनसे ज्यादा ज़बर्दस्त बातें कभी किसी विद्रोह को उचित साबित करने के लिए और हो ही नहीं सकतीं।"

सिपाहियों में इस असंतोष के फैलने के थोड़े ही दिनों बाद कम्पनी सरकार की ओर से एक ऐलान प्रकाशित हुआ कि एक भी इस तरह का कारतूस फ़ौज में नहीं भेजा गया, किन्तु हाल ही में साढ़े बाईस हज़ार कारतूस अम्बाला डिपो से और चौदह हज़ार कारतूस सियालकोट डीपो से अर्थात् केवल दो डीपो से साढ़े छत्तीस हज़ार कारतूस भारतीय फ़ौज में में भेजे जा चुके थे। कई पलटनों में अंग्रेज अफ़सरों ने देशी सिपाहियों को धमकाना शुरू किया कि तुम्हें नये कारतूसों का उपयोग करना पड़ेगा। एक दो जगह सिपाहियों ने ज़िद की तो सारी रेजिमेण्ट को कड़ी सजा दी गई।

इस प्रकार इन गाय और सुअर की चरबी से बने हुए कारतूसों ने उस समय की हिन्दुस्तानी फ़ौज के अन्दर स्फोटक मसाले के ऊपर चिनगारी का काम किया। कोई कोई अंग्रेज इतिहास लेखक कारतूसों के मामले को ही विप्लव का एकमात्र या मुख्य कारण बतलाते हैं। इन लोगों के उत्तर में हम केवल दो तीन प्रामाणिक अंग्रेज़ इतिहास लेखकों की ही राय नीचे उद्धृत करते हैं। जस्टिन मैक्कार्थी लिखता है—"सच यह है कि हिन्दुस्तान में उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के अधिकांश भाग में देशी क़ौमें अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध खड़ी हो गईं। × × × चरबी के कारतूसों का झगड़ा केवल इस तरह की चिनगारी थी जो अकस्मात् इस समस्त स्फोटक मसाले में आ पड़ी। × × × वह एक राष्ट्रीय और धार्मिक युद्ध था।"

एक दूसरा इतिहास लेखक मेडले लिखता है—"किन्तु वास्तव में जमीन के नीचे ही नीचे जो स्फोटक मसाला अनेक कारणों से बहुत दिनों से तैयार हो रहा था, उस पर चरबी लगे हुए कारतूसों ने केवल दियासलाई का काम किया।"

चार्ल्स बॉल ने अपने विप्लव के इतिहास में लिखा है कि डिज़रेली, जो बाद में इंग्लैण्ड का प्रधान मंत्री हुआ, कहा करता था कि "कोई भी मनुष्य कारतूसों को विप्लव का वास्तविक कारण नहीं मानता।"

एक इतिहास लेखक लिखता है कि "जिन कारतूसों पर भारतीय सिपाही आपत्ति करते थे, उन्हीं को उनमें से अनेक ने बेखटके विप्लव के दिनों में अंग्रेजों के विरुद्ध इस्तेमाल किया।"

हम ऊपर लिख चुके हैं कि इन नये कारतूसों के कारण विप्लव नियत समय से पहले आरंभ हो गया। सन् १८५७ के

विप्लव का श्रीगणेश एक प्रकार बैरकपुर से हुआ। फ़रवरी सन् १८५७ में बैकरपुर की १६ नम्बर पलटन को नये कारतूस उपयोग करने के लिए दिये गये। सिपाहियों ने उन कारतूसों का उपयोग करने से साफ इन्कार कर दिया। बंगाल भर में उस समय कोई गोरी पलटन न थी। इसलिए अंग्रेज़ अफ़सरों ने तुरन्त बरमा से एक गोरी पलटन मँगाकर १६ नम्बर पलटन से हथियार रखा लेने और सिपाहियों को नौकरी से निकाल देने का इरादा कर लिया।

सिपाहियों को जब इस बात का पता चला तो उनमें से कुछ ने चुपचाप हथियार रख देने के बदले तुरन्त विद्रोह कर देने का विचार किया। उनके हिन्दुस्तानी अफ़सरों ने उन्हें ३१ मई तक रुके रहने की सलाह दी। किन्तु १६ नम्बर पलटन का एक नौवजवान सिपाही, जिसका नाम मंगल पाण्डे था, अपने आपको न रोक सका। इसमें संदेह नहीं कि उसे सब तरह से समझाने का प्रयत्न किया किन्तु अंग्रेज़ अफ़सरों के इस अपमान-जनक बर्ताव से दुःखी होकर वह तुरन्त बदला लेने के लिए अधीर हो उठा। ३१ मई तक रुकना उसके लिए असंभव-सा हो गया।

२६ मार्च सन् १८५७ को पलटन परेड के मैदान में बुलाई गई। जिस समय पलटन आकर खड़ी हुई, उस समय मंगल पांडे तुरंत अपनी भरी हुई बन्दूक़ लेकर सामने कूद पड़ा और चिल्लाकर शेष सिपाहियों को अंग्रेजों के विरुद्ध धर्म-युद्ध आरंभ करने के लिए आमंत्रित करने लगा।

एक अंग्रेज़ अफ़सर सार्जेण्ट मेजर ह्यूसन ने जब यह देखा तब उसने सिपाहियों को आज्ञा दी कि मंगल पांडे को गिरफ़्तार कर लो, किन्तु कोई सिपाही आज्ञा पालन करने के लिए आगे

न बढ़ा। इतने में मंगल पांडे ने अपनी बन्दूक़ की गोली से तुरंत सार्जेण्ट मेजर ह्यूसन को वहीं पर ढेर कर दिया। इस पर एक दूसरा अफ़सर लेफ़्टिनेण्ट बाघ अपने घोड़े पर आगे बढ़ा।

उसका घोड़ा अभी कुछ दूर ही था कि मंगल पांडे ने एक दूसरी गोली से घोड़े और सवार दोनों को ज़मीन पर गिरा दिया। मंगल पांडे ने तीसरी बार अपनी बन्दूक़ भरने का इरादा किया। लेफ़्टिनेण्ट बाघ ने उठकर और आगे लपककर पांडे पर अपनी पिस्तौल चलाई, परंतु पांडे बच गया। पांडे ने अब तुरंत अपनी तलवार निकाल कर इस दूसरे अंग्रेज अफ़सर को भी वहीं पर समाप्त कर दिया।

थोड़ी देर के बाद कर्नल व्हीलर ने आकर सिपाहियों को आज्ञा दी कि मंगल पांडे को गिरफ़्तार कर लो। सिपाहियों ने वैसा करने से इंकार कर दिया। कर्नल घबड़ाकर जनरल के बँगले पर गया। जनरल ने समाचार पाकर कुछ गोरे सिपाहियों के साथ पांडे की ओर बढ़ा। यह देख कर मंगल पांडे ने स्वयं अपनी छाती पर गोली चलाई। वह घायल होकर गिर पड़ा और गिरफ़्तार कर लिया गया।

मंगल पांडे का कोर्ट मार्शल हुआ। उसे फाँसी की सजा दी गई। ८ अप्रैल का दिन फाँसी के लिए नियत किया गया। किंतु बैरकपुर भर में कोई मेहतर तक मंगल पांडे को फाँसी देने के लिए तैयार न हुआ। अन्त में कलकत्ते से चार आदमी इस काम के लिए बुलाये गये और ८ तारीख़ के सबेरे मंगल पांडे को फाँसी दे दी गई।

चार्ल्स बॉल और राबर्ट्स दोनों लिखते हैं कि उसी दिन

से सन् १८५७-५८ के समस्त विप्लवकारी सिपाहियों को पांडे के नाम से पुकारा जाने लगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आज भी हमारे भारतीय युवक यह विश्वास करते हैं कि जिस दिन मंगल पांडे को फाँसी दी गई उसी दिन से स्वतन्त्रता-संग्राम का आरम्भ होता है और निरन्तर उसी संग्राम में लगे रहने के कारण ही आज हम सब भारतीय भारत से अँग्रेजों को भगाने में और स्वतंत्रता-लाभ करने में सफल मनोरथ से हो सके हैं।

यदि हमारे भारतीय युवकों का ऐसा विश्वास न होता तो वे १५ अगस्त सन् १९४७ अर्थात् स्वतंत्रता-दिवस के उपलक्ष में अपने उस प्रथम अमर शहीद मंगल पांडे को स्मरण न करते, और न इस ऐतिहासिक दिवस के उत्सव को मनाने क बाद अर्थात् नवम्बर में ही प्रयाग नगर से 'अमर कहानी' नामक पत्रिका के शहीद अंक "मंगल पांडे" शीर्षक जीवन-कहानी को 'भारतीय क्रान्ति के इतिहास का पहला खूनी वर्क १८५७ के ग़दर का प्रथम शहीद' इन शब्दों द्वारा सुशोभित करने का प्रयत्न न करते और न सफलता के साथ उस प्रथम शहीद 'मंगल पांडे' की कहानी को समाप्त करके अपने को धन्य समझते।

'उपर्युक्त कहानी का लेखक कोई न कोई पांडे ही रहा होगा किंतु इस स्थल पर अनुमान करना यह पड़ता है कि जिस प्रकार कहानी का चरित-नायक देश के गौरव के लिए शहीद हो गया उसी प्रकार इस कहानी के गुप्त लेखक पांडे ने भी अपने एक मित्र के नाम को बढ़ाने के लिए लेखकों के संसार में शहीद होना ही उचित समझा होगा। कुछ भी हो, और चाहे कोई भी कहानी

लेखक हो किंतु कहानी का निर्वाह सुन्दर हुआ है, इसे स्वीकार कर लेना भी मैं अपने लिये गौरव का विषय समझ रहा हूँ ।

मंगल पांडे की जीवन-कहानी के शेष भाग को इस प्रकार वर्णन किया गया है—(जब फाँसी की सज़ा सुना दी गई तब) "सारी रेजीमेंट में मातम छाया था। अनायास ही किसी ने कहा, "मंगल से पूछ लिया जाय कि घर क्या संदेश भेजेगा।'

फाँसी मंगल के गले में पड़ चुकी थी, नीचे किसी ने पूछा, "घर कुछ सन्देश भेजना है ?"

"हाँ !" मंगल ने हँसते हुए कहा।

"क्या ?"

"घर को नहीं, देश को भेजना है।"

मंगल की आँखें लाल हो गईं; आवेश में बोला, "देश को मेरा खून देना और कहना तुम्हें इसकी सौगंद है कि जब तक इन विदेशियों से इस अपमान का बदला न लेना, तुम चैन से न बैठना। मरना है तो इन्सानों की मौत मरो; कुत्तों की तरह जंजीरें घसीट-घसीट कर नहीं।"

रूमाल हिला और तख़्ता हट गया।

——

मंगल पांडे की फाँसी के बाद

जब मंगल पांडे को फाँसी हो गई तब अंग्रेजों को विदित हुआ कि १६ नम्बर और ३४ नम्बर की देशी पलटनें विप्लव के लिए गुप्त मंत्रणाएँ कर रही हैं। ऐसा विदित होते ही तुरन्त इन दोनों पलटनों से हथियार रखा कर सिपाहियों को बरखास्त कर दिया गया। पलटन नम्बर ३४ के सूबेदार को इस अपराध में कि उसके यहाँ गुप्त मंत्रणाएँ हुआ करती थीं, फाँसी दे दी गई। फिर भी इन दोनों पलटनों के नेताओं ने विप्लव के संचालकों के आदेश का ध्यान रखते हुए ३१ मई से पहले विप्लव की कोई कार्रवाई नहीं की।

यह समाचार भी समस्त उत्तरी भारत में बड़ी ही शीघ्रता के साथ फैल गया। यह बात पहले ही निश्चित हो चुकी थी कि विप्लव के कार्य आरंभ करने से पहले हर एक जगह अंग्रेजों के बँगलों और बारगों में आग लगा दी जाय। अप्रैल के महीने में लखनऊ, मेरठ और अम्बाले में अंग्रेज़ों के मकान जला दिये गये। अफ़सरों ने इन आकस्मिक घटनाओं के अपराधियों का पता लगाने का भरसक प्रयत्न किया। किन्तु पुलिस भी विप्लव-कारियों के साथ मिली हुई थी, इसलिए उन अपराधियों का कुछ भी पता न चला।

इसके बाद मई का महीना आया। ६ मई सन् १८५७ को मेरठ में बतौर परीक्षा के ६० हिन्दुस्तानी सवारों की एक कम्पनी को चर्बी लगे हुए नये कारतूस दिये गये। उन कारतूसों को दाँतों

से काटने के लिए सवारों से कहा गया। ९० सवारों में से ८५ सवारों ने साफ इंकार कर दिया। उन सभी सवारों का कोर्ट मार्शल हुआ। आज्ञा उल्लंघन करने के अपराध में उन सबको आठ-आठ और दस-दस वर्ष की सख्त क़ैद की सजा दी गई। ९ मई को सबेरे उन ८५ सवारों को परेड पर लाकर खड़ा किया गया। उनके सामने गोरी फ़ौज और तोपखाना था। छावनी के शेष समस्त हिन्दुस्तानी सिपाहियों को भी यह दृश्य दिखाने के लिए परेड पर बुला लिया गया। ८५ अपराधी सवारों से उनकी वर्दियाँ उतरवा ली गईं और वहीं परेड पर खड़े-खड़े उनके हाथों में हथकड़ियाँ और पैरों में बेड़ियाँ डाल दी गईं। उन सब सवारों से कहा गया कि तुम सबों को दस-दस वर्ष की सख्त क़ैद की सजा दी गई है। इसके बाद पैरों में बेड़ियाँ डाले हुए उन सब हिन्दुस्तानी सवारों को बड़ी निर्दयता के साथ जेलखाने भेज दिया गया। उनके साथ के सहस्रों हिन्दुस्तानी सिपाही जो उन्हें सब तरह से निरपराध समझते थे, भीतर ही भीतर दुःख और क्रोध से अधीर हो उठे किन्तु उन्हें अभी तीन सप्ताह और शान्त रहने की आज्ञा थी। वे सब हिन्दुस्तानी वीर सिपाही अपने क्रोध को पीकर अपने-अपने बारगों की ओर वापस चले गये।

यह सब घटना सबेरे की थी। संध्या के समय मेरठ छावनी के ये हिन्दुस्तानी सिपाही शहर घूमने के लिए गये। कहा जाता है कि मेरठ की स्त्रियों ने स्थान-स्थान पर उन्हें यह कह कह कर लांछना दी— "छिः! तुम्हारे भाई जेलखाने में हैं और तुम यहाँ बाजार में मक्खियाँ मार रहे हो। तुम सब सिपाहियों के पुरुषार्थ और जीवन को बार-बार धिक्कार है।" सिपाहियों ने

अभी तक काफी धीरज से काम लिया था। अब मेरठ की स्त्रियों के शब्द उनके दिलों में रह-रह कर चुभने लगे। रात को बागों में फिर गुप्त सभाएँ हुईं। उन सभाओं में यह निश्चित हुआ कि ३१ मई तक चुप बैठना असंभव है।

६ मई की रात को ही सिपाहियों ने दिल्ली के नेताओं को यह समाचार भेज दिया कि हम लोग कल या परसों तक दिल्ली अवश्य पहुँच जायँगे। आप लोग भी दिल्ली में सब तरह से तैयार रहें। दूसरे दिन १० मई को इतवार था। मेरठ शहर के अन्दर नगर निवासी तथा सहस्रों सशस्त्र ग्रामों के निवासी बाहर से आ-आकर एकत्रित होने लगे थे। उधर छावनी में ज़ोरों की तैयारी हो रही थी।

सबसे पहले कुछ सवार जेलखाने की ओर बढ़े। चूँकि जेलर भी विप्लव-कारियों के साथ मिले हुए थे इसलिए जेलखाने में पहुँचकर उन सबों ने जेलखाने की दीवारों को ही गिरा दिया। फिर क्या था! उन समस्त क़ैदियों की बेड़ियाँ तुरंत काट दी गईं। हिन्दू और मुसलमान, पैदल, सवार और तोपखाने के समस्त सिपाही इधर-उधर मेरठ के तमाम अंग्रेजों को मौत के घाट उतारने के लिए दौड़ पड़े। अनेक अंग्रेज मारे गये। बंगलों, दफ़्तरों और होटलों में आग लगा दी गई। 'दीन! दीन! 'हर हर महादेव!' और 'मारो फ़िरंगी को!' इस तरह की आवाजें शहर और छावनी के चारों ओर गूँजने लगीं। निश्चित योजना के अनुसार तार काट दिये गये और रेलवे लाइन पर विप्लवकारियों का पहरा बैठ गया। जो अंग्रेज किसी प्रकार बच गये, उनमें से कुछ अस्तबलों और नालियों में जाकर छिप गये और शेष

ने हिंदुस्तानी नौकरों के घरों में भाग कर आश्रय लिया। चूँकि शहर और छावनी दोनों ही स्थानों में विद्रोह की आग लग चुकी थी इसलिए जो थोड़ी सी सेना अंग्रेजों की मेरठ में मौजूद थी, वह भी भयभीत हो जाने के कारण उस समय अपने कर्त्तव्य को निश्चित न कर सकी। परिणाम यह हुआ कि अनेक अंग्रेज, स्त्रियाँ और बच्चे बंगलों के अन्दर जल-जल कर परलोक को सिधार गये। इसके बाद १० तारीख़ की रात को ही मेरठ के समस्त सैनिक दिल्ली की ओर रवाना हो गये। उस समय अंग्रेजों के पास कोई भी ऐसी शक्ति न थी जो उन्हें दिल्ली जाने से रोक लेती।

मालसेन, ह्वाइट और विलसन नाम के ये तीनों इतिहास लेखक यह स्वीकार करते हैं कि मेरठ में निश्चित समय से पहले ही विप्लवकारियों द्वारा विद्रोह का प्रारंभ हो जाना अंग्रेजों के लिए बरकत और भारत के विप्लवकारियों के लिए हानि पहुँचानेवाला साबित हुआ। मालसेन स्पष्ट लिखता है कि यदि पूर्व निश्चय के अनुसार एक ही साथ और एक ही तारीख़ को समस्त भारत में स्वाधीनता का संग्राम हुआ होता, तो यह निश्चित था कि भारत में एक भी अंग्रेज ज़िन्दा न बचता और उसी समय भारत में अंग्रेजी-राज्य का अन्त हो गया होता।"

जे०सी० विलसन लिखता है कि "वास्तव में मेरठ शहर की स्त्रियों ने वहाँ के सिपाहियों को समय से पहले भड़का कर अंग्रेजी-राज्य को नष्ट होने से बचा लिया। फिर भी मेरठ में विद्रोह का आरम्भ होते ही भारत में एक किनारे से लेकर दूसरे किनारे तक एक भयानक और प्रचंड आग भड़क उठी।" दो

हज़ार सशस्त्र हिन्दुस्तानी सवार मेरठ से चलकर ११ मई को आठ बजे सबेरे दिल्ली पहुँच गये।

दिल्ली के नेताओं को उनके आने का पहले से पता था किन्तु अंग्रेज़ों को इसका गुमान तक न था। दिल्ली में कम्पनी की फ़ौज का अंग्रेज़ अफ़सर कर्नल रिप्ले समाचार को पाते ही ५४ नम्बर की देशी पलटन को जमा करके मेरठ के विद्रोहियों का सामना करने के लिए बढ़ा। आमना-सामना होते ही जिस समय मेरठ के सवारों ने 'अंग्रेज़ी-राज की क्षय' और 'सम्राट बहादुर-शाह की जय!' ऐसे नारे लगाये, उस समय दिल्ली के सिपाही बजाय तुरन्त हमला करने के, आगे बढ़कर अपने मेरठ के सिपाही भाइयों के साथ गले मिलने लगे। कर्नल रिप्ले घबड़ा गया और तुरंत वहीं पर मार डाला गया। दिल्ली की सेना के सब अंग्रेज़ अफ़सर मार डाले गये। संयुक्त सेना ने काश्मीरी दरवाज़े से दिल्ली में प्रवेश किया। दरियागंज के तमाम अंग्रेज़ी बँगले जला दिये गये। दिल्ली के क़िले पर तुरंत विप्लवकारियों का अधिकार हो गया। सम्राट बहादुरशाह और बेगम ज़ीनतमहल ने सोचा कि अब ३१ मई तक ठहरे रहना मूर्खता होगी।

इतने में मेरठ की पैदल सेना और तोपख़ाना भी दिल्ली पहुँच गया। मेरठ के तोपख़ाने ने लाल क़िले में प्रवेश करते ही सम्राट बहादुरशाह के नाम पर २१ तोपों की सलामी दी। चार्ल्स बॉल लिखता है कि सेना के भारतीय अफसरों ने सम्राट बहादुरशाह को जाकर सलाम किया और मेरठ का सब समाचार कह सुनाया। इन अफसरों में हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल थे। मेटकॉफ़ लिखता है कि सम्राट ने उन सबों से कहा कि मेरे पास कोई ख़ज़ाना नहीं है। मैं आप लोगों को तनख़ाहें

कहाँ से दूँगा ? इस पर सिपाहियों ने उत्तर दिया—"हम लोग हिन्दुस्तान भर के अंग्रेजी खज़ाने ला-लाकर आपके कदमों पर डाल देंगे।" बूढ़े सम्राट ने स्वाधीनता के संग्राम का नेतृत्व स्वीकार कर लिया और समस्त क़िला सम्राट की जय-ध्वनि से गूँज उठा। दिल्ली के सहस्रों नगर-निवासी विप्लवकारियों के साथ मिल गये। जो अंग्रेज जिसे जिस स्थान पर मिला उसने उसे उसी स्थान पर मार डाला। लिखा है कि जिस समय मेरठ की फ़ौज दिल्ली पहुँची उस समय दिल्ली के सहस्रों मुसलमान उनके चारों ओर इकट्ठे हो गये और दिल्ली के हिन्दू-निवासी स्थान-स्थान पर अपनी लुटियों में मेरठ से आये हुए सिपाहियों को ओलों और बताशों का शर्बत पिलाने लगे। दिल्ली का अंग्रेजी बैंक अधिकार कर लिया गया और अंग्रेजी इमारतों को मिट्टी में मिला दिया गया।

दिल्ली के अन्दर उस समय कोई भी गोरी पलटन न थी। किले के पास अंग्रेजों का एक बहुत बड़ा मैगजीन था, जिसमें लगभग नौ लाख कारतूस, दस हजार बन्दूक और बहुत सा गोला बारूद था। लैफ्टिनेण्ट विलोबी को सन्देशा भेजा कि मैगज़ीन हमारे हवाले कर दो। विलोबी ने इन्कार किया। मैगजीन के अन्दर नौ अंग्रेज और कुछ हिन्दुस्तानी थे। हिन्दुस्तानियों ने जब लाल किले के ऊपर सम्राट बहादुरशाह का हरा और सुनहला झंडा फहराते हुए देखा, तब वे अपने सिपाही भाइयों से आ मिले। यह हरा झंडा ही सन १८५७-५८ के विप्लव में समस्त भारत के अन्दर विप्लवकारियों के युद्ध का झंडा था। नौ अंग्रेजों ने कुछ देर वीरता के साथ शत्रुओं का सामना किया। अन्त में मैगज़ीन को बचा सकना असंभव देख, उन्होंने उसमें आग लगा

दी। लिखा है कि मैगज़ीन के उड़ने पर एक हज़ार तोपों के साथ छूटने का सा शब्द हुआ, जिससे समस्त दिल्ली के मकान हिल गये। नौ अङ्गरेज वीर भी उसी आग के भीतर समाप्त हो गये; और उसी के साथ २५ हिन्दुस्तानी और आसपास की गलियों में लगभग ३०० और नगर-निवासी खंड-खंड होकर उड़ गये। समस्त बन्दूक विप्लवकारियों के हाथ आ गई और प्रत्येक सिपाही को चार-चार बन्दूकें मिल गईं।

छावनी के अन्दर सब अंगरेज अफ़सर मार डाले गये। शहर के अन्दर अङ्गरेज़ों का क़त्लेआम ११ मई से १६ तक जारी रहा। इस बीच सैकड़ों अङ्गरेज जान बचाकर दिल्ली से भाग निकले। अनेक ने अपने मुँह काले कर लिये और हिन्दुस्तानी फ़क़ीर के समान कपड़े पहिन लिये। अनेक गर्मी से और मार्ग की कठिनाई से मर गये और अनेक को पास-पड़ोस के गाँववालों ने खत्म कर दिया। कुछ अंग्रेजों को दयालु ग्रामवालों ने आश्रय दिया और अपने यहाँ छिपा लिया। १६ मई से सन् १८५७ को भारत की प्राचीन राजधानी दिल्ली पूर्ण रूप से कंपनी के अधिकार से मुक्त हो गई और सम्राट बहादुरशाह फिर से दिल्ली का क्रियात्मक सम्राट माना जाने लगा।

इसमें सन्देह नहीं कि दिल्ली की इस घटना का प्रभाव भारत के शेष भाग पर बड़े ही महत्व का हो गया। नाना साहब और महान् विप्लव के अन्य संचालकों ने बहादुरशाह ही के नाम पर समस्त भारत के नरेशों, सैनिकों और प्रजा को अंग्रेजों विरुद्ध आमंत्रित किया था। बहादुरशाह का झंडा ही उस समय भारत भर के विप्लवकारियों का एकमात्र झंडा था। इस स्थल पर ध्यान देने योग्य बात है कि यद्यपि मेरठ, दिल्ली और उसके

आस-पास के ग्रामों में उन दिनों एक-एक अंग्रेज़ को चुन-चुन कर मारा गया, फिर भी एक भी अंग्रेज़ स्त्री का अपमान विप्लव-कारियों की ओर से नहीं किया गया। इसके प्रमाण में हम केवल कम्पनी की खुफिया पुलिस के प्रधान अफ़सर आनरेबुल सर विलियम म्योर के० सी० एस० आई० का यह बयान दे देना उचित समझते हैं। उनका कहना है कि "चाहे और कितना भी अत्याचार और रक्तपात क्यों न हुआ हो, जो कहानियाँ अंग्रेज स्त्रियों की बेइज्जती के कहे-सुने जाते थे, वे सब जहाँ तक मैंने देखा और जाँच की वहाँ तक वे सब आदि से लेकर अन्त तक निराधार थे।"

दिल्ली के स्वाधीन हो जाने का समाचार बिजली के समान तमाम भारतवर्ष में फैल गया। जिस-जिसने इस समाचार को सुना वही-वही ईश्वर को धन्यवाद देता हुआ प्रसन्नता प्रकट करने लगा। अनेक स्थानों के नेता उस समय तक भी यह न निश्चय कर पाये कि उन्हें अपने-अपने स्थानों में तुरंत विप्लव के कार्य आरंभ कर देना चाहिये अथवा निश्चित दिवस के आने तक की प्रतीक्षा करनी चाहिए। फिर भी ११ मई से लेकर ३१ मई तक समस्त उत्तरी भारत में स्थान-स्थान पर विप्लव के दावानल की ज्वाला भड़क उठी।

कंपनी की ६ नम्बर पैदल पलटन अलीगढ़, मैनपुरी, इटावा और बुलन्दशहर में बँटी हुई थी। मई महीने के आरंभ में एक ब्राह्मण प्रचारक बुलंदशहर की छावनी में सिपाहियों को विप्लव करने का उपदेश देने के लिये पहुँचा। पलटन के तीन सिपाहियों ने मुखबिरी करके उस ब्राह्मण को पकड़वा दिया। पलटन का मुख्य स्थान अलीगढ़ था। उस ब्राह्मण को फाँसी के लिये अलीगढ़

लाया गया। २० मई के संध्या समय समस्त भारतीय सिपाहियों के सामने उस उपदेशक ब्राह्मण को फाँसी पर लटका दिया गया। ब्राह्मण को फाँसी पर लटका हुआ देखकर उत्तेजना के कारण समस्त सिपाहियों का रक्त बात की बात में खौलने लगा विप्लव से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकों में लिखा हुआ है कि उसी समय तुरंत एक सिपाही क़तार से निकल कर अपनी तलवार से उसके शरीर की ओर संकेत करके अपने अन्य सिपाही भाइयों को उत्तेजित करते हुए कहने लगा, "भाइयों! यह शहीद हमारे लिए रक्त का स्नान कर रहा है।" ऐसी दशा में सिपाहियों के लिए ३१ मई तक की प्रतीक्षा कर सकना असंभव हो गया। उस समय की परिस्थितियों से विवश होकर ६ नम्बर की समस्त पलटन तुरंत बिगड़ खड़ी हुई किंतु इस पलटन के सिपाहियों ने शान्ति के साथ अपने अंग्रेज अफ़सरों से कहा कि यदि आप लोग अपनी जान बचाना चाहते हैं तो तुरंत अलीगढ़ छोड़ दीजिए। उसी समय अलीगढ़ के समस्त अंग्रेज अपनी स्त्रियों और बच्चों सहित अलीगढ़ से चल दिये और २० तारीख को आधी रात से पहले स्वाधीनता का हरा झंडा अलीगढ़ के ऊपर फहराने लगा। सिपाही बहुत सा खजाना और अस्त्र-शस्त्र लेकर दिल्ली की ओर रवाना हो गये।

अलीगढ़ का यह समाचार २२ तारीख को मैनपुरी पहुँचा। इस समाचार को सुनते ही वहाँ के समस्त सिपाही भी उसी दिन बिगड़ खड़े हुए। इन लोगों ने भी तमाम अंग्रेजों की जान बचा दी और फिर अलीगढ़ के सिपाहियों के सामान गोला, बारूद और हथियार ऊँटों पर लाद कर २३ मई को राजधानी दिल्ली की ओर रवाना हो

गये । स्वाधीनता का झंडा मैनपुरी के ऊपर भी फहराने लगा ।

ठीक ऐसी ही घटना इटावे में भी हुई । इटावे के कलक्टर मिस्टर ह्यूम ने पुलिस और जनता से सहायता के लिए कहा, किन्तु इन दोनों में से किसी ने भी उस कलक्टर की बात न मानी और उसकी समस्त आज्ञाओं का उल्लंघन करते हुए प्रत्यक्ष रूप से विप्लवकारियों का साथ दिया। असिस्टेण्ट मैजिस्ट्रेट लड़ाई में मारा गया। २३ मई को हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने खज़ाने पर अपना अधिकार कर लिया और जेलखाने को भी तोड़ दिया। किन्तु इतना सब होने पर भी अंग्रेजों को अपने बच्चों और स्त्रियों सहित भाग जाने का मौक़ा भी दिया। उस समय के इतिहास की पुस्तकों में भी लिखा हुआ है कि इटावे के कलक्टर मिस्टर ह्यूम एक भारतीय स्त्री का रूप धारण करके इटावे से निकल भागे। समस्त शहर में स्वाधीनता का ढिंढोरा पीट दिया गया। इस प्रकार ६ नम्बर पलटन के समस्त सिपाही अलीगढ़, बुलन्दशहर, मैनपुरी इटावा और आस-पास के इलाके को स्वाधीन करके कम्पनी के खज़ाने पर अधिकार करते हुए, अंग्रेजों को जान से न मारते हुए केवल हथियार और रसद साथ लेकर दिल्ली की ओर चल दिये। इन नगरों के शासन का प्रबन्ध नगर-निवासियों को सौंप दिया गया।

अजमेर के निकट नसीराबाद में कम्पनी की एक पलटन देशी पैदल की, एक कम्पनी गोरों की और कुछ तोपखाना रहा करता था । मेरठ के सिपाही इस समय दूर-दूर तक फैल गये थे जिनमें से कुछ नसीराबाद में भी पहुँचे। २८ मई को

वहाँ की हिन्दुस्तानी सेना विद्रोही हुई। गोरों की कम्पनी से उनका संग्राम हुआ। कुछ अंग्रेज़ मारे गये और शेष जान बचा कर भाग गये। देशी सिपाहियों के नेता दिल्ली-सम्राट के नाम पर नगर के शासन का प्रबन्ध करके ख़ज़ाना, हथियार और कई हज़ार सिपाहियों को साथ लेकर दिल्ली की ओर चल दिये।

रुहेलखंड का प्रान्त कुछ समय पहले ही रुहेल पठानों के स्वाधीन शासन में रह चुका था। बरेली वहाँ की राजधानी थी। अंतिम रुहेला नवाब का वंशज ख़ानबहादुर ख़ाँ इस समय कम्पनी के अधीन जजी के पद पर नियुक्त था। यह ख़ानबहादुर ख़ाँ ही रुहेलखंड में विप्लव का प्रधान नेता था।

उन दिनों बरेली में कम्पनी की ओर से ८ नम्बर देशी सवार, १८ और ६८ नम्बर पैदल पलटनें और कुछ तोपख़ाना रहता था। जनरल सिबल्ड वहाँ का सेनापति था। मेरठ के विप्लव की ख़बर १४ मई को बरेली पहुँची। मेरठ के विप्लव के बाद ही अंग्रेज प्रधान सेनापति (कमाण्डर-इन-चीफ़) ने हिन्दुस्तान की समस्त सेनाओं में इस बात की घोषणा कर दी थी कि चर्बी वाले नये कारतूस बन्द कर दिये गये और समस्त सिपाही पुराने कारतूसों का ही उपयोग करें, परंतु विप्लव-कारियों पर इस घोषणा का अब कोई भी प्रभाव नहीं पड़ सकता था। देहली से निम्न-लिखित पत्र रुहेलखंड की पलटनों के नाम पहुँचा—

"दिल्ली की सेना के सेनापति की ओर से बरेली और मुरादाबाद की पलटनों के सेनापतियों के नाम हार्दिक आलिंगन!

भाइयों ! दिल्ली में अंग्रेजों के साथ युद्ध बराबर हो रहा है। ईश्वर के आशीर्वाद से हमने अंग्रेजों को जो पहली बार हराया है, उसी से वे इतना घबरा गये हैं जितना कि किसी दूसरे अवसर पर दस बार हारने पर भी कभी न घबराते। अनगिनती हिन्दुस्तानी बहादुर दिल्ली में आ-आकर प्रतिदिन जमा हो रहे हैं। ऐसे अवसर पर अगर आप वहाँ भोजन कर रहे हों, तो हाथ यहाँ आकर धोइए। शाहों का बादशाह, जहाँपनाह, हमारा दिल्ली का शाहंशाह आपका स्वागत करेगा और आपको सेनाओं को पारितोषिक देगा। हमारे कान इस प्रकार आपकी ओर लगे हुए हैं जिस प्रकार रोज़ेदारों के कान अज़ान देने वाले की पुकार की ओर लगे रहते हैं। हम आपकी तोपों की आवाज़ सुनने के लिए बेचैन हैं। हमारी आँखें आपके दर्शनों की प्यासी उसी तरह सड़क पर लगी हुई हैं जिस तरह क़ासिद की आँखें लगी रहती हैं। आइए, आपका फ़र्ज़ है कि आप फ़ौरन आइए। हमारा घर आपका घर है। भाइयों ! आइए, बिना आपकी आमद की बहार के गुलाब में फूल नहीं आ सकते ! बिना बारिश के कली नहीं खिल सकती। बिना दूध के बच्चा नहीं जी सकता।"

इसमें सन्देह नहीं कि यह पत्र यथा समय बरेली पहुँच गया था। जिन-जिन सिपाहियों के सामने यह पत्र पढ़ा गया वे तुरंत दिल्ली जाने और अंग्रेजों को मार भगाने के लिए कमर कस कर तैयार हो गये। उस समय तक सिपाहियों पर अंग्रेजों और उनके सहायकों ने जो-जो अत्याचार किये थे वे प्राय: सभी को विदित हो चुके थे। अत्याचारों का बदला लेने के लिए समस्त भारतीय सैनिक अधीर होने लगे किंतु

रुहेलखंड के नेता ख़ानबहादुर खाँ इतने पर भी विप्लव की योजना के पूर्व निश्चय के अनुसार ३१ मई तक प्रतीक्षा करना उचित समझने लगे। कहने की आवश्यकता नहीं कि ख़ान-बहादुर खाँ और बरेली की समस्त देशी पलटनों का व्यवहार अंग्रेज़ों के साथ इतना सुन्दर और प्रशंसनीय रहा कि अन्त समय तक अंग्रेज़ों को उनकी वफ़ादारी में सन्देह करने का तनिक भी मौक़ा न मिल सका।

——

विप्लव के प्रचण्ड दिन

जैसे ही ३१ मई का सबेरा हुआ वैसे ही सबसे पहले बरेली के कमान ब्राउनलो का बंगला जलाया गया। ठीक ग्यारह बजे दिन को अचानक एक तोप छुटी। विप्लव आरंभ करने का यही संकेत था। यह सभी स्वीकार करते हैं कि बरेली का संगठन अच्छा था। ६८ नम्बर पलटन ने अंग्रेजों के बँगले में आग लगाना और अंग्रेजों को मारना आरंभ कर दिया। अंग्रेज नैनीताल की ओर भागने लगे। जनरल सिबल्ड और अन्य अनेक अंग्रेज अफ़सर मार डाले गये। केवल ३२ अंग्रेज जान बचा कर नैनीताल पहुँच सके। छः घण्टे के अन्दर बरेली के ऊपर स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा।

जिस समय अंग्रेजी झण्डा उतार कर उसके स्थान पर हरा झण्डा फहराया गया उसी समय तोपखाने के सूबेदार बख़्तख़ाँ ने विप्लवकारी सेनाओं का प्रधान सेनापतित्व ग्रहण किया। इतिहास-लेखक चार्ल्स बाल लिखता है कि बख़्त ख़ाँ ने सिपाहियों को उपदेश दिया कि स्वाधीनता प्राप्त कराने के बाद तुम्हें शान्ति और न्याय का व्यवहार करना चाहिये। समस्त प्रजा ने खानबहादुर खाँ को सम्राट की ओर से रुहेलखंड का सूबेदार स्वीकार किया। उसी दिन सूर्यास्त से पहले खानबहादुर खाँ की ओर से एक दूत सम्राट को रुहेलखंड की स्वाधीनता की सूचना देने के लिये दिल्ली की ओर रवाना हो गया।

बरेली से ४७ मील दूर शाहजहाँपुर में २८ नम्बर पैदल पलटन थी। ठीक बरेली ही के समान शाहजहाँपुर भी इस पलटन के प्रयत्नों द्वारा ३१ मई के संध्या समय तक स्वाधीन हो गया। बरेली के दूसरी ओर मुरादाबाद है। वहाँ पर २६ नम्बर देशी पलटन थी। १८ मई को अंग्रेज अफ़सरों को पता चला कि मेरठ के कुछ विप्लवकारी सिपाही मुरादाबाद के निकट आकर ठहरे हुए हैं। रात के समय २६ नम्बर के सिपाहियों को मेरठ के सिपाहियों पर हमला करने का हुकुम मिला। सिपाहियों ने उन पर हमला किया। लड़ाई के बाद इन सिपाहियों ने अपने असफ़रों को सूचना दी, केवल एक को छोड़कर शेष सब मेरठ भाग गये। कुछ दिनों के बाद पता चला कि ये सब मेरठ के सिपाही मुरादाबाद के सिपाहियों के साथ बारगों में आये और खाने-पीने के बाद आपस में बातें कीं और फिर वहीं आनंद के साथ रात बिताई।

३१ मई को सबेरे २६ नम्बर पलटन के सब सिपाही परेड पर जमा हुए। उन्होंने अपने अंग्रेज अफ़सरों को नोटिस दिया कि, "कम्पनी का राज्य समाप्त हो गया। आप सब लोग दो घंटे के अंदर मुरादाबाद छोड़ दीजिये, नहीं तो आप सब को मार डाला जायगा।" मुरादाबाद की जनता और पुलिस भी विप्लव के पक्ष में थी। कुछ अंग्रेज जिनमें वहाँ के जज, कलेक्टर और सिविल सर्जन भी शामिल थे, अपने बाल-बच्चों को लेकर मुरादाबाद से भाग निकले। मुरादाबाद का कमिश्नर पावेल और उसके कुछ साथी मुसलमान हो गये। उनको फिर जान से नहीं मारा गया। इसके बाद सिपाहियों ने खजाने और तमाम सरकारी माल पर अपना अधिकार कर लिया। सूर्यास्त से

पहले-पहले मुरादाबाद के ऊपर भी स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा।

बरेली, शाहजहाँपुर और मुरादाबाद के अतिरिक्त एक और बड़ा शहर रुहेलखंड के इलाक़े में है। वह शहर बदायूँ के नाम से प्रसिद्ध है। पहली जून की सन्ध्या के समय बदायूँ में विप्लव का कार्य आरंभ होता है। सिपाहियों, मुख्य-मुख्य नगर-निवासियों और पुलिस ने मिलकर ढिंढोरा पिटवा दिया कि अँग्रेजी राज्य का अन्त हो गया और सूबेदार खानबहादुरखाँ का शासन आरंभ हो गया। इतना सुनते ही बदायूँ के अंग्रेज़ जंगलों में भाग गये। उनमें से अनेक अंग्रेज़ बड़े कष्टों के साथ जंगलों में मर भी गये। इस प्रकार समस्त रुहेलखंड दो दिन के ही अन्दर कम्पनी के अत्याचार-पूर्ण शासन से निकल गया। इसके बाद एक नई सेना का संगठन कर सूबेदार खानबहादुर खाँ ने समस्त रुहेलखंड में शान्ति और सुशासन को स्थापित किया। अधिकांश महकमों में हिन्दुस्तानी कर्मचारी पहले के ही समान बहाल रखे गये और लगान दिल्ली के सम्राट के नाम पर वसूल किया जाने लगा। खानबहादुर खाँ ने अपने हाथ से रुहेलखंड की स्वाधीनता सब हाल लिख कर सम्राट को भेजा।

इतना ही नहीं, उसने एक ऐलान लिखकर समस्त रुहेलखंड में बँटवाया। उस ऐलान के मुख्य वाक्य इस प्रकार थे— "हिन्दुस्तान के रहने वालो! स्वराज्य का पाक दिन, जिसका बहुत अरसे से इन्तज़ार था, आ पहुँचा है। आप लोग इसे मंजूर करेंगे या इससे इंकार करेंगे? आप इस जबर्दस्त मौक़े से फायदा उठायेंगे या इसे हाथ से जाने देंगे? हिन्दू और मुसलमान भाइयों! आप सब को मालूम होना चाहिये कि

अगर ये अंग्रेज़ हिन्दुस्तान में रह गये तो हम सब को क़त्ल कर देंगे और आप लोगों के मज़हब को मिटा देंगे ! हिन्दुस्तान के बाशिन्दे इतने दिनों तक अंग्रेज़ों के धोखे में आते रहे और अपनी ही तलवारों से अपने गले काटते रहे हैं इसलिये अब हमें मुल्क़-फ़रोशी के अपने इस गुनाह का प्रायश्चित करना चाहिये। अंग्रेज़ अब भी अपनी पुरानी दग़ाबाज़ी से काम लेंगे। वे हिन्दुओं को मुसलमानों के खिलाफ़ और मुसलमानों को हिन्दुओं के खिलाफ़ उभारने की कोशिश करेंगे । लेकिन हिन्दू भाइयों ! उनके फ़रेब में न पड़ना। हमें अपने होशियार हिन्दू भाइयों को यह बताने की ज़रूरत नहीं है कि अंग्रेज कभी अपने पूरे वादे नहीं करते। ये लोग चाल और दग़ाबाज़ी में ताक़ हैं। ये हमेशा से सिवाय अपने मज़हब के और सब मज़हबों को दुनियाँ से मिटाने की कोशिश करते रहे हैं। क्या उन्होंने गोद लिये हुए बच्चों के हक़ नहीं छीन लिये हैं ? क्या उन्होंने हमारे राजाओं के राज्य और मुल्क नहीं हड़प लिये हैं ? नागपुर का राज्य किसने ले लिया ? लखनऊ की बादशाहत किसने छीन ली ? हिन्दू और मुसलमान दोनों को किसने पैरों तले रौंदा ? मुसलमानों ! अगर तुम कुरान की इज्ज़त करते हो तो और हिन्दुओं ! अगर तुम गो माता की इज्ज़त करते हो तो अपने छोटे छोटे तफ़र्क़ों को भूल जाओ और इस पाक जंग में शामिल हो जाओ। लड़ाई के मैदान में कूद कर एक झण्डे के नीचे लड़ो और खून की नदियों से अंग्रेजों का नाम हिन्तुस्तान से धो डालो ! × × × गाय का मारा जाना बन्द कर दिया जाय। इस पाक जंग में जो आदमी खुद लड़ेगा या जो धन से लड़ने वालों की मदद करेगा

दोनों को इस लोक में और परलोक में दोनों जगह निजात मिलेगी! लेकिन अगर कोई इस मुल्की जंग की मुखालफ़त करेगा तो वह अपने सर पर कुल्हाड़ी मारेगा और खुदकशी के गुनाह का जिम्मेवार होगा।"

बरेली, शाहजहाँपुर, मुरादाबाद और बदायूँ से कम्पनी की समस्त हिन्दुस्तानी सेना कम्पनी के खज़ानों, तोपों और अन्य हथियारों सहित बख्तखाँ के नेतृत्व में राजधानी दिल्ली की ओर रवाना हो गई। खानबहादुर खाँ और बख्तखाँ दोनों कि गिनती उस विप्लव के सबसे अधिक योग्य नेताओं में की जाती है।

रुहेलखंड की घटनाओं का वर्णन करने के पश्चात् उचित तो यही होता कि हम लखनऊ और कानपुर की घटनाओं का वर्णन करते किन्तु इन्हें कुछ देर के लिये बीच में ही छोड़कर हम बनारस और इलाहाबाद की घटनाओं की ओर दृष्टि डालना चाहते हैं। आशा है कि पाठकगण इस सम्बन्ध में हमारा साथ अवश्य देंगे।

बनारस में कम्पनी की ३७ नम्बर पैदल पलटन, एक लुधियाना की सिख पलटन और एक सवार पलटन थी। वहाँ का तोपखाना गोरों के हाथों में था। आगरे से कलकत्ते तक उस समय केवल दानापुर में एक पूरी गोरी रेजिमेण्ट मौजूद थी। अर्थात् यदि एक साथ सभी स्थानों में स्वाधीनता की लड़ाई शुरू होती तो अंग्रेजों के लिए कम से कम उत्तरी भारत में ठहर सकना सर्वथा असंभव था।

३१ मई को बनारस की बारगों में आग लगा दी गई। ३ जून को गोरखपुर और आज़मगढ़ के खज़ानों से सात लाख रुपये

नकद बनारस के लिये आ रहे थे। उसी दिन रात को १७ नंबर पलटन ने, जो आज़मगढ़ में थी, विप्लव आरंभ कर दिया। केवल दो अंग्रेजों को छोड़कर उन्होंने शेष सब अंग्रेजों की जान बख़्श दी। यहाँ तक कि उनके और उनके बाल-बच्चों के बनारस जाने के लिये गाड़ियों तक का प्रबन्ध कर दिया किंतु सात लाख के उस ख़ज़ाने पर, कम्पनी के गोले-बारूद पर और जेल-खाने, दफ़्तरों आदि पर विप्लवकारियों ने अपना अधिकार जमा लिया। आजमगढ़ की पुलिस ने विप्लवकारी सिपाहियों का पूरा साथ दिया। आजमगढ़ के नगर पर उसी रात को बड़ी धूमधाम के साथ स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा।

इस समय तक गवर्नर जनरल लार्ड कैनिङ्ग ने मेरठ के विद्रोह और दिल्ली की स्वाधीनता का समाचार पाते ही बंबई, मद्रास और रंगून से मँगाकर बहुत सी गोरी सेना बंगाल में जमा कर ली थी। ठीक उन्हीं दिनों ईरान के साथ अंग्रेजों का युद्ध समाप्त हुआ था और चीन के ऊपर अंग्रेज आक्रमण करने वाले थे किन्तु भारत में विप्लव हो जाने के कारण अंग्रेजों को चीन पर आक्रमण करने का विचार छोड़ देना पड़ा। एक विशाल गोरी सेना ईरान से चीन की ओर जा रही थी। लार्ड कैनिंग ने इस समस्त सेना को भारत में रोक लिया। इसमें से बहुत सी सेना लेकर सुप्रसिद्ध जनरल नील बनारस पहुँचा। उसके पहुँच जाने से ही बनारस के अंगरेजों के जी में आया। ४ जून को आजमगढ़ का समाचर बनारस पहुँचा। उसी दिन तीसरे पहर बनारस के अंग्रेज अफ़सरों ने देशी सिपाहियों से हथियार रखा लेने का निश्चय किया।

परेड के मैदान में जिस समय देशी सिपाहियों को हथियार

रख देने की आज्ञा दी गई, उस समय के सब सिपाही बजाय हथियार रख देने के मैगजीन पर और अंगरेज़ अफ़सरों पर टूट पड़े। तुरन्त सिख पलटन उनके मुक़ाबिले के लिये आ खड़ी हुई। अभी लड़ाई शुरू ही हुई थी कि अंग्रेज़ी तोपखाने ने आकर सब पर गोले बरसाने शुरू किये। यद्यपि सिख अंग्रेजों का साथ दे रहे थे तथापि उस समय की घबराहट में तोपखाने के अंग्रेज़ अफ़सर यह न समझ सके कि उनमें से कौन हिन्दू था और कौन सिख? उन्होंने दोनों पर गोले बरसाने शुरू कर दिये। विवश होकर सिखों को भी विप्लवकारियों का साथ देना पड़ा। सन् १८५७-५८ के तमाम विप्लव में कदाचित् यही एकमात्र अवसर था जब कि सिख सेना ने हिन्दू और मुसलमानों का साथ दिया।

बनारस की जनता विप्लवकारियों के साथ थी, किन्तु सिखों ने, वहाँ के कई रईसों नें और राजा चेतसिंह के वशंज बनारस के उपाधिधारी राजा ने उस समय, अंग्रेज़ों को पूरी सहायता दी। विप्लवकारी नगर छोड़कर इधर-उधर फैल गये। ५ जून को जौनपुर में विप्लव का आरंभ हुआ। उस विप्लव में कई अंग्रेज़ मारे गये। शेष अंग्रेजों को नगर छोड़कर चले जाने की आज्ञा दे दी गई। विप्लवकारियों ने खज़ाने पर अधिकार कर लिया। जौनपुर के बचे हुए अंग्रेज नावों में बैठकर बनारस की ओर चल दिये।

अपने-अपने नगरों को स्वाधीन करने के बाद आजमगढ़ और जौनपुर दोनों जगह के विप्लवकारी सिपाही फ़ैजाबाद की ओर चल दिये। दोनों नगरों के ऊपर हरा झण्डा फहराने लगा। यद्यपि बनारस नगर पर कम्पनी का अधिकार रहा, फिर भी

आस-पास का अधिकांश इलाका विप्लवकारियों के अधिकार में आ गया। जगह-जगह अंग्रेजों के नियुक्त किये हुए जमींदारों को हटाकर पुराने पैतृक जमींदार उनकी जगह नियुक्त कर दिये गये। जगह-जगह अंग्रेजी अदालतों, अंग्रेजी जेलों और अंग्रेजी दफ़्तरों का अन्त कर दिया गया। तार काट डाले गये। रेलें उखाड़कर फेंक दी गईं। गाँव-गाँव में हरा झण्डा लिये हुए स्वयं-सेवक पहरा देने लगे।

बनारस के प्रांत भर में विप्लवकारियों ने एक भी अंग्रेज स्त्री को नहीं मारा और जिन अंग्रेजों ने हथियार रख दिये, उन्हें शांति के साथ स्वयं गाड़ियों में बैठाकर नगर से चले जाने की आज्ञा दे दी।

अब हम इलाहाबाद की ओर दृष्टिपात करेंगे। यह बात प्रसिद्ध है कि सन् ५७ में भी विप्लवकारियों और अंग्रेजों दोनों की ही दृष्टि से इलाहाबाद का नगर बनारस की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व का था। कलकत्ते से पश्चिमोत्तर प्रदेशों को जाने वाली सब सड़कें इलाहाबाद में मिलती थीं। इलाहाबाद का क़िला भारत के सुविशाल क़िलों में से एक था। उसमें गोले-बारूद और अस्त्र-शस्त्रों का एक बहुत बड़ा संग्रह था। इतिहास की पुस्तकों में लिखा है कि तीर्थराज प्रयाग के पंडे आस-पास की हिन्दू जनता के अन्दर स्वाधीनता के युद्ध का प्रचार करने में बहुत भाग ले रहे थे। मुसलमानों में हिन्दुओं की अपेक्षा कहीं अधिक जोश था। चार्ल्स बाल लिखता है कि अंग्रेज सरकार के अधिकांश बड़े और छोटे देशी कर्मचारी इस संगठन में शामिल थे।

जिस समय मेरठ का समाचार इलाहाबाद पहुँचा, उस

समय इलाहाबाद में एक भी अंग्रेज सिपाही न था। वहाँ केवल ६ नम्बर देशी पलटन, लगभग २०० सिख सिपाही और मुट्ठी-भर अंग्रेज अफ़सर थे। अवध से देशी सवारों की एक पलटन और बुला ली गई थी। ६ नम्बर की पलटन ने अपने अंग्रेज अफ़सरों को इतनी सुन्दरता के साथ भुलावा देकर रखा कि उन अफ़सरों को अन्त समय तक उन पर सन्देह न हो पाया। दिल्ली का समाचार पाकर उन्होंने अपने अफ़सरों से कहा, "आप हमें दिल्ली भेज दीजिए, हम विद्रोहियों के टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे।" इस पर गवर्नर जनरल लार्ड कैनिङ्ग तक ने ६ नम्बर पलटन को शाबासी दी। लिखा है कि ६ जून को जब उनके अंग्रेज अफ़सर बारगों में उनसे मिलने के लिए गये तब कुछ सिपाहियों ने अपनी खैरख्वाही दिखाने के लिए लपककर उन्हें अपनी छाती से लगाया जब कि वही रात उनके विप्लव के लिए नियत थी। ६ नंबर की बारगें क़िले के बाहर थीं। जिस समय अंग्रेज अफ़सर खाना खा रहे थे, उसी समय सिपाहियों की बिगुल बजी। बिगुल के बजते ही विप्लव करने के लिए सिपाही निकल पड़े। फिर क्या था? विप्लवकारी अंग्रेजों पर टूट पड़ने के लिए आगे बढ़े। बात की बात में अनेक अंग्रेज मारे गये। शेष क़िले में जाकर छिप गये। अंग्रेजों ने सवार पलटनों को अपनी सहायता के लिए बुलाया। सवार तुरंत आकर जमा हो गये किन्तु परिमाण यह हुआ कि सब सवार बजाय विप्लव-कारियों पर आक्रमण करने के मैदान में पहुँचते ही उन सबों के साथ मिल गये। दोनों पलटनों के अधिकांश अफ़सर बहुत बुरी तरह मारे गये। इतना ही नहीं, विप्लवकारी सिपाहियों द्वारा अंग्रेजों के बँगलों में भी तुरंत आग लगा दी गई।

जिस समय विप्लवकारी सिपाही पूरे उत्साह के साथ निर्विघ्न विप्लव के कार्यों को सफल बना रहे थे, उस समय सिख पलटन किले के अन्दर थी। वह विप्लवकारी सिपाहियों का साथ नहीं दे रहे थी। यदि किले के सिख उस समय बुद्धिमानी से काम करते हुए विप्लवकारियों का साथ दे जाते तो इसमें कुछ सन्देह न था कि आध घंटे के अन्दर इलाहाबाद नगर का सुप्रसिद्ध और सुविशाल किला और उसके भीतर का तमाम सामान विप्लवकारियों के अधिकार में आ जाता। इस स्थल पर बड़े खेद के साथ लिखना पड़ता है कि ऐसे भयानक संकट के समय उन सिखों ने भारत-माता के परम शत्रु अंग्रेजों का साथ दिया। यही कारण है कि विप्लव के दिनों में भी अंग्रेजी झण्डा इलाहाबाद के किले पर फहराता रहा।

कुछ भी हो, इलाहाबाद की जनता ने विप्लवकारी सिपाहियों का पूरा साथ दिया। जनता का साथ पा जाने से विप्लवकारी सिपाहियों का उत्साह कई गुना अधिक बढ़ गया। अंग्रेज़ों के जितने मकान थे, सभी जला दिये गये। जेलखाने में जितने क़ैदी थे सभी तुरंत रिहा कर दिये गये। इसके बाद विप्लवकारी सिपाही खज़ाने को अपने अधिकार में कर लेने के लिए आगे बढ़े। बात की बात में उनका वहाँ भी अधिकार जम गया। दूसरी ओर रेल की पटरियाँ उखाड़ने और तार को काटने तथा तार के खंभों को तोड़ने का काम आरम्भ हो गया। निर्विघ्न ये काम तुरंत पूरे हो गये। कहा जाता है कि इलाहाबाद के खज़ाने में विप्लवकारियों को लगभग तीस लाख रुपये मिले। तारीख ७ जून को संध्या समय शहर और छावनी में हरे झण्डे का जुलूस निकाला गया। नगर-निवासियों और सिपाहियों ने झण्डे को

सलामी दी। शहर की कोतवाली के ऊपर हरा झण्डा फ़हराने लगा

इलाहाबाद के आस-पास के सैकड़ों गाँवों में हिन्दू और मुसलमान रैयत तथा ज़मींदार आदि सबों ने मिलकर अंग्रेजी राज्य का अन्त हो जाने की घोषणा कर दी और जिस तरह इलाहाबाद में स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा था उसी तरह हर एक गाँव में स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा। जगह-जगह अंग्रेजों के नियुक्त किये हुए नये ज़मींदार हटा दिये गये और पुराने ख़ानदानी ज़मींदार उनकी जगह नियुक्त कर दिये गये। लिखा हुआ मिलता है कि नगर के अन्दर दस-दस बारह-बारह वर्ष के लड़के हरे झण्डे हाथों में लेकर जुलूस बनाये हुए निकलने लगे। इतिहास लेखक सर जॉन के अपनी पुस्तक 'इण्डियन म्युटिनी में' लिखता है—

"न केवल गंगा के पार के इलाक़ों में ही, बल्कि गंगा और जमुना के बीच के इलाक़े में भी देहाती जनता बिगड़ खड़ी हुई। × × × शीघ्र ही हिन्दू अथवा मुसलमान एक भी मनुष्य न बचा जो हमारे विरुद्ध न हो गया हो।"

इलाहाबाद के स्वाधीन होने के बाद दो-चार दिन थोड़ी बहुत अराजकता रही। उसके बाद शहर के लोगों और आस-पास के कुछ ज़मींदारों ने मिलकर मौलवी लियाक़तअली नामक एक योग्य मनुष्य को सम्राट बहादुरशाह की ओर से इलाहाबाद के इलाक़े का सूबेदार नियुक्त किया। लियाक़त अली एक असाधारण योग्य व्यक्ति था। उसके चरित्र की पवित्रता के कारण सब लोग उसका बड़ा आदर करते थे। उसने ख़ुसरो बाग़

को अपना केन्द्र बनाया, शहर में पूरी शांति स्थापन कर दी और दिल्ली सम्राट को बराबर अपने यहाँ की सभी घटनाओं की सूचनाएँ भेजता रहा। इसके बाद मौलवी लियाक़त अली ने इलाहाबाद के किले पर अधिकार कर लेने का प्रयत्न किया। क़िले के भीतर जितने सिख सिपाही थे, उसने उन सबों को स्वाधीनता के संग्राम में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया किन्तु सिखों पर इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

सन् १८५७ के महान् विप्लव की घटनाओं का वर्णन इस समय हम यहीं तक करेंगे। यह हम मानते हैं कि विप्लवकारियों के सब से अधिक महत्वपूर्ण कृत्यों का वर्णन अभी बाकी है फिर भी यह कहना पड़ता है कि इसी समय से ही अंग्रेजों की ओर से प्रतिकार की आग भड़कनी शुरू हो गई। इसलिए उचित यही होगा कि पाठकगण यह भी जान लें कि अन्याय और अत्याचार के बल पर भारत में राज्य स्थापित करने वाले अंग्रेजों ने किस निर्दयता के साथ विप्लवकारियों को दबाने का प्रयत्न किया। जिन अंग्रेजों को प्राणों की भिक्षा दी गई थी वही अंग्रेज विप्लवकारियों के प्राणों के भूखे हो गये। कितने बड़े दुःख की बात है। लोगों का कहना है कि इलाहाबाद की सिख पलटन हमेशा ही अंग्रेजों की सहायता करती रही और उसी के कारण विप्लवकारी सिपाहियों को वैसी सफलता न प्राप्त हुई जैसी कि प्राप्त होनी चाहिए थी। कुछ भी हो विप्लवकारी अपने विप्लव के कार्यों में लगे हुए थे और अंग्रेज उनको दबाने के लिए उपाय सोचने में लगे हुए थे। इसके बाद फिर क्या हुआ, इसे अब हम आगे चलकर बतलायेंगे। पाठकों को चाहिए कि

पिछली समस्त घटनाओं को ध्यान में रखते हुए आगे कही जाने वाली घटनाओं पर विशेष रूप से मनन करें।

यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो यह समझ सकना असंभव हो जायगा कि किस प्रकार की नर-हत्याएँ करके अंग्रेज़ों ने हमारी स्वाधीनता के भावों को दबा रखने का प्रयत्न किया था।

अंग्रेज़ों का दमन-चक्र

यह हम पहले कह आये हैं कि मेरठ के विद्रोह और दिल्ली की स्वाधीनता का समाचार पाते ही उस समय का गवर्नर जनरल लॉर्ड कैनिंग मद्रास, रंगून और बम्बई से गोरी सेना को बुलाकर बंगाल में इकट्ठा करने लगा था और जो सेना ईरान से चीन की ओर जा रही थी उसे भी भारत में रोक लिया था। इतना ही नहीं, विप्लवकारियों का दमन करने के लिए भी लॉर्ड कैनिंग एक विशाल सेना के साथ, जिसमें अधिकांश गोरे कुछ सिख और कुछ मद्रासी थे, जनरल नील को बनारस की ओर रवाना कर चुका था।

बनारस का नगर उस समय तक अंग्रेजों के ही अधिकार में था। जनरल नील के बनारस पहुँचते ही सबसे पहले नगर में बड़ी-बड़ी गिरफ़्तारियाँ हुई। इसके बाद जनरल नील ने आस-पास के इलाक़े को फिर से अपने अधिकार में कर लेने के लिए अंग्रेजों और सिख सिपाहियों के कई अलग-अलग दस्ते बनाये। इस अवसर पर जरनल नील के आदेश से उसकी सेना ने भारतीय प्रजा के ऊपर जो भयंकर और अमानुषिक अत्याचार किये उन्हें हम अंग्रेज इतिहास-लेखकों की ही पुस्तकों से लेकर पाठकों के सामने उपस्थित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

जनरल नील इतना अत्याचारी था कि उसके सम्बन्ध में बस यही कह देना पर्याप्त है कि वह अपने गोरे तन में भयानक अत्याचार करने वाले दानव का काला मन रखता था। उसी

जनरल नील रूपी दानव के सिपाही जिस समय किसी गाँव में प्रवेश करते थे उस समय उस गाँव में हाहाकार मच जाता था। जितने मनुष्य उन्हें मार्ग में मिलते थे, उन्हें वे बिना किसी भेद-भाव अथवा सोच-विचार के तलवार के घाट उतार देते थे, या गोली से उड़ा देते थे अथवा आनन्द लूटने के लिए फाँसी पर लटका देते थे।

निरपराध जनता को फाँसी पर लटकाने के लिए स्थान-स्थान पर फाँसी के तख्ते खड़े किये गये थे और उन फाँसी के तख्तों पर चौबीस-चौबीस घण्टे बराबर काम होता रहता था। जब इनसे भी काम न चला तब अंग्रेज़ अफ़सरों ने बड़े-बड़े पेड़ों की डालों से फाँसी के तख्ते का काम लेना शुरू किया। जिस मनुष्य को फाँसी पर चढ़ाना होता था उसे प्रायः सबसे पहले हाथी पर बैठाकर घुमाया जाता था। फिर हाथी को किसी ऊँची डाल के पास ले जाकर खड़ा किया जाता था। इसके बाद उस मनुष्य की गर्दन रस्सी से डाल के साथ बाँध दी जाती थी। फिर हाथी को हटा लिया जाता था और उस भाग्यहीन मनुष्य की लटकती हुई लाश को उसी जगह छोड़ दिया जाता था।

के और मॉलेसन ने अपने विप्लव के इतिहास में लिखा है कि जो लोग फाँसी पर लटकाये जाते थे, उनके हाथों और पैरों को मन बहलाने की इच्छा से अंग्रेज़ सैनिकों द्वारा अंग्रेज़ी के अंकों आठ और नौ की शक्ल में बाँध दिया जाता था। इसे यों समझ लेना चाहिए कि जिन मनुष्यों को फाँसी पर लटकाया जाता था उनके सभी अंगों को तोड़-मरोड़ दिया जाता था तभी तो अंग्रेज़ी के अंक आठ और नौ (8 और 9) बन सकते थे।

जब इन सब अत्याचार-पूर्ण उपायों से भी पूर्ण रूप से संतोष लाभ न हुआ तब अंग्रेज अफसरों ने गाँव के गाँव जलाने आरम्भ कर दिये। गाँव के बाहर तोपें लगा दी जाती थीं और समस्त पुरुषों, स्त्रियों, बच्चों, और पशुओं समेत गाँव में आग लगा दी जाती थी। अनेक अंग्रेज़ अफ़सरों ने बड़े अभिमान के साथ इन हृदय-विदारक दृश्यों का वर्णन अपने पत्रों में किया है। आग इतनी होशियारी से लगाई जाती थी कि उससे एक भी गाँव का रहने वाला न बच सके। इतिहास लेखक चार्ल्स बॉल लिखता है कि माताएँ अपने दूध मुँहे बच्चों के साथ और असंख्य बूढ़े आदमी और औरतें जो अपनी जगह से हिलने-डोलने में असमर्थ थे, उन सबों को बिछौनों के अन्दर जलाकर राख के ढेर बना दिये गये।

एक अंग्रेज़ अपने एक पत्र में लिखता है—"हमने एक बड़े गाँव में आग लगाई। उस गाँव में लोग भरे हुए थे। हमने उन्हें घेर लिया और जब वे आग की लपटों में से निकल कर भागने लगे तब हमने उन्हें गोलियों से उड़ा दिया।"

अनेक स्थानों पर विप्लवकारियों ने अंग्रेज मर्द, और बच्चों को प्राणों की भिक्षा दी थी और असंख्य ग्रामों में ग्राम-निवासियों ने भागे हुए अंग्रेज़ों को अपने घरों में आश्रय दिया था किन्तु कम्पनी के पूरे इतिहास में अंग्रेज जाति के अन्दर वीरोचित गुणों का सदा अभाव ही मिला है। जनरल नील की दानवी सेना ने भी दोषी, निर्दोष, बालक, वृद्ध अथवा स्त्री-पुरुष का कभी भी कहीं पर कोई विचार नहीं किया।

जनरल नील के अत्याचारों के विषय में एक अंग्रेज इतिहास

लेखक लज्जित होकर लिखता है—"अच्छा यह है कि जनरल नील के प्रतिकार के विषय में कुछ लिखा ही न जाय।"

इतिहास लेखक सर जॉन के लिखता है "फ़ौजी और सिविल दोनों तरह के अंग्रेज़ अफ़सर अपनी-अपनी खूनी अदालतें लगा रहे थे, अथवा बिना किसी तरह के मुक़दमे का ढोंग रचे और बिना मर्द औरत या छोटे-बड़े का विचार किये, भारतवासियों का संहार कर रहे थे। इसके बाद खून की प्यास और भी अधिक भड़की। भारत के गवर्नर जनरल ने जो पत्र इंग्लैण्ड भेजे, उनमें हमारी ब्रिटिश पार्लिमेण्ट के काग़ज़ों में यह बात दर्ज है कि 'बूढ़ी औरतों और बच्चों का उसी तरह बध किया गया है जिस प्रकार उन लोगों का जो विप्लव के अपराधी थे।' इन लोगों को सोच समझ कर फाँसी नहीं दी गई, बल्कि उन्हें उनके गाँव के अन्दर जला कर मार डाला गया, शायद कहीं-कहीं उन्हें मौके-बेमौके गोली से भी उड़ा दिया गया। अंग्रेज़ों को अभिमान के साथ यह कहते हुए अथवा पत्रों में लिखते हुए भी संकोच न हुआ कि हमने एक भी हिन्दुस्तानी को नहीं छोड़ा और काले हिन्दुस्तानियों को गोली से उड़ाने में हमें बड़ा विनोद और आश्चर्यजनक आनन्द प्राप्त होता था। एक पुस्तक में जिसका बड़े-बड़े अंग्रेज़ अफ़सरों ने समर्थन किया है, लिखा है कि, सड़कों, चौराहों पर और बाजारों में जो लाशें टँगी हुई थीं, उनको उतारने में सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक मुर्दे ढोने वाली आठ-आठ गाड़ियाँ बराबर तीन-तीन महीने तक लगी रहीं और इस प्रकार एक स्थान पर ६ हज़ार मनुष्यों को झटपट ख़तम कर परलोक भेज दिया गया। ××× जब कोई अंग्रेज़ यह

पढ़ता है कि किसी काले रंग के बदमाश ने किसी मिस्टर चैम्बर्स या किसी मिस जे निंगस को काट डाला तो क्रोध के मारे उसका दम घुटने लगता है, किन्तु भारतवासियों के इतिहास में अथवा यदि इतिहास न हुए तो उनके परम्परागत वृत्तान्तों में हमारी जाति के विरुद्ध यह स्मरण रहेगा कि भारत की माताएँ, पत्नियाँ और बच्चे, जिनके नामों से हम इतनी अच्छी तरह परिचित नहीं है, अंग्रेजों के प्रतिकार की पहली बाढ़ के निर्दयता के साथ शिकार हुए।"

यह दशा कुछ थोड़े-से ग्रामों की ही नहीं की गई। हम यह कह चुके हैं कि जनरल नील ने अपनी फ़ौज को अनेक भागों में बाँट दिया था। एक-एक भाग में कई-कई अफ़सर होते थे। इनमें से एक अफ़सर अपने केवल एक दिन के कृत्य को अभिमान के साथ वर्णन करते हुए अपने किसी अंग्रेज़ मित्र को लिखता है—"किन्तु आप यह जान कर संतुष्ट होंगे कि मैंने बीस ग्रामों को ज़मीन से मिलाकर बराबर कर दिया।"

बनारस से जनरल नील अपनी विजयी सेना के साथ इलाहाबाद की ओर बढ़ा। रास्ते में उसने बनारस से इलाहाबाद तक असंख्य ग्रामों को ग्राम-निवासियों के साथ जला कर राख के ढेर बना दिये। ११ जून को जनरल नील इलाहाबाद पहुँचा। यदि इससे पूर्व क़िले के अन्दर सिख सिपाही विप्लवकारियों से मिल गये होते और क़िले के अन्दर असंख्य बन्दूकें और युद्ध की अन्य सामग्री विप्लवकारियों के अधिकार में आ गई होतीं, तो जनरल नील के लिये इलाहाबाद फिर से विजय कर सकना शायद असंभव होता।

जनरल नील जब इलाहाबाद पहुँचा तब दूर से यह देखकर चकित

रह गया कि इलाहाबाद के क़िले पर अभी तक अंग्रेज़ी झण्डा फहरा रहा है। इस पर भी वह इलाहाबाद जैसे क़िले के लिए किसी भारतवासी का विश्वास करने को तैयार न था। जैसे ही उसने किले के अन्दर पैर रखा वैसे ही किले के भीतर के समस्त सिख सिपाहियों को समीप के गाँव जलाने के लिए बाहर भेज दिया, और किला गोरे सिपाहियों के सुपुर्द कर दिया। सिखों ने सहर्ष जनरल नील के अत्याचारी आदेश का पालन किया। किला और किले के सामान की सहायता से अंग्रेजों ने १७ जून को खुसरो बाग़ पर हमला किया। दिन भर खूब घमासान संग्राम हुआ। विप्लव कारियों ने बड़ी वीरता के साथ सामना किया किन्तु अन्त में मौलवी लियाकतअली ने देख लिया कि नील की विशाल सेना के सामने उनका ठहर सकना असम्भव था। इसके अतिरिक्त लियाकतअली के पास उस समय तीस लाख का बड़ा खज़ाना था, जिसे वह शत्रु के हाथ में पड़ने देना न चाहता था।

इसलिए लियाकतअली अपने साथियों और खजाने सहित १७ जून की रात को कानपुर की ओर निकल गया। कानपुर के समर्पण के बाद लियाकतअली दक्खिन की ओर गया। वहीं से गिरफ़्तार करके उसे अण्डमन भेज दिया गया। वहाँ कई वर्ष तक निर्वासन का दण्ड भुगतने के बाद मौलवी लियाकतअली की मृत्यु हुई। इस समय इलाहाबाद से १५ मील पश्चिम महगाँव में जहाँ कि लियाकतअली का जन्म-स्थान था, उसकी एक कन्या अब तक जीवित है।

मौलवी लियाकतअली के कानपुर चले जाने के बाद १८ जून की रात को अंग्रेजों ने सिखों की मदद से इलाहाबाद के

नगर में प्रवेश किया। नगर में प्रवेश करते ही सिखों ने अंग्रेजों का जैसा साथ दिया उसका वर्णन न करना ही अच्छा है। केवल इतना ही समझ लेना चाहिए कि इस अवसर पर इलाहाबाद के नगर-निवासियों से जनरल नील और उसके सैनिक, चाहे अंग्रेज रहे हों या सिख सबों ने बड़े ही भयानक रूप से बदला चुकाया। उन सबों ने जिस भयानक रूप से बदला चुकाया उसका कुछ अनुमान इस एक घटना से लगाया जा सकता है कि अनेक छोटे-छोटे लड़कों को केवल इस अपराध में फाँसी पर लटका दिया गया कि वे हरे झण्डे हाथ में लेकर ढोल बजाते हुए जुलूस के रूप में शहर की गलियों में घूम रहे थे।

लन्दन 'टाइम्स' के सम्वाददाता सर विलियम रसल से कमाण्डर-इन-चीफ़ कॉलिन कैम्पबेल ने कहा था कि उन दिनों इलाहाबाद का एक अंग्रेज सौदागर विद्रोहियों का पता लगाने के लिये स्पेशल कमिश्नर नियुक्त किया गया था। वह अनेक हिन्दुस्तानी व्यापारियों का क़र्ज़दार था। सबसे पहला काम उसने यह किया कि अपने समस्त ऋणदाताओं को पकड़ कर फाँसी दे दी।

इलाहाबाद के चौक के अन्दर उन सात नीम के वृक्षों में से अभी तक मौजूद हैं, जिनकी डालों पर, थोड़े दिनों के अन्दर ही, कहा जाता है कि लगभग आठ सौ निर्दोष नगर-निवासियों को फाँसी दे दी गई थी। इस फाँसी के ढंग का वर्णन करते हुए हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान पंडित बालकृष्ण भट्ट, जिनकी आयु सन् १८५७ में लगभग १५ वर्ष की थी, कहा करते थे कि अहियापुर मुहल्ले का रहने वाला एक मनुष्य समाचार सुनकर फाँसियाँ देखने के लिये चौक में पहुँचा। जो अंग्रेज फाँसी दिलवा रहा था उसने पूछा—'तुम क्यों खड़े हो?' उसने

उत्तर दिया—'सुना था कि यहाँ फाँसियाँ लग रही हैं, इसलिये केवल देखने आया था, साहब ने आज्ञा दी, इसे भी फाँसी दे दो। तुरंत वह निर्दोष और चकित दर्शक एक नीम पर लटका दिया गया। जो काम सात नीम के वृक्षों पर चौक में हो रहा था वही काम उस समय सैकड़ों अन्य वृक्षों पर इलाहाबाद और उसके आस-पास के इलाके में बड़ी निर्दयता के साथ किया जा रहा था।

नगर के कुछ लोगों ने बचने के लिये नावों में बैठकर नगर से भाग जाना चाहा किन्तु क़िले के नीचे तोपें लगी हुई थीं और अंग्रेज सेना किनारे पर मौजूद थी। नावों में भागते हुए लोगों पर किनारे से गोलियों और गोलों की बौछार की गई और उन्हें वहीं समाप्त कर दिया गया। इलाहाबाद के अपने एक दिन के कृत्यों का वर्णन करते हुए एक अंग्रेज अफ़सर लिखता है—

"एक यात्रा में मुझे अद्भुत आनंद प्राप्त हुआ। हम लोग एक तोप लेकर एक स्टीमर पर चढ़ गये। सिख और गोरे सिपाही शहर की तरफ़ बढ़े। हमारी नाव ऊपर को चलती जाती थी और हमने अपनी बन्दूकों से गोलियाँ बरसानी शुरू कीं। मेरी पुरानी दो नली बन्दूक़ ने कई काले आदमियों को गिरा दिया। मैं बदला लेने का इतना प्यासा था कि मैंने दाएँ और बाएँ ग्रामों में आग लगानी शुरू की। लपटें आसमान तक पहुँचीं और चारों ओर फैल गईं। हवा ने उन्हें फैलाने में सहायता दी, जिससे विदित होता था कि दग़ाबाज़ बदमाशों से बदला लेने का दिन आ गया है। प्रतिदिन हम लोग विद्रोही ग्रामों को जलाने और मिटा देने के लिये निकलते थे और हमने बदला ले लिया है। × × × लोगों का जीवन हमारे हाथों में है और मैं तुम्हें

विश्वास दिलाता हूँ कि हम किसी को नहीं छोड़ते। × × × अपराधी को एक गाड़ी के ऊपर बैठाकर किसी पेड़ के नीचे ले जाया जाता है। उसकी गर्दन में रस्सी का फन्दा डाल दिया जाता है। फिर गाड़ी हटा ली जाती है और वह लटका रह जाता है।"

इलाहाबाद के इस सर्वव्यापी संहार से माताएँ या बच्चे, बूढ़े या अपाहज, कोई न बच सके। इतिहास लेखक होम्स बड़े दुःख के साथ लिखता है—"बूढ़े आदमियों ने हमें कोई नुकसान न पहुँचाया था, असहाय स्त्रियों से, जिनकी गोद में दूध-पीते बच्चे थे, हमने उसी तरह बदला लिया, जिस तरह बुरे से बुरे अपराधियों से।"

जिस स्थान का वर्णन चार्ल्स बाल के पूर्वोक्त उद्धरण में किया गया है केवल उस एक स्थान के विषय में इतिहास लेखक के स्वीकार करता है कि वहाँ पर छ हज़ार भारतवासियों का संहार किया गया। निस्संदेह अकेले इलाहाबाद के इलाके में नील ने इतने भारतवासियों का संहार किया जितने अंग्रेज पुरुष, स्त्रियों और बच्चों का समस्त भारत के अन्दर भी सन् १८५७-५८ भर में विप्लवकारियों ने नहीं किया।

सर जान कैम्पबेल लिखता है—"और मैं जानता हूँ कि इलाहाबाद में बिल्कुल बिना किसी तमीज़ के क़त्लेआम किया गया था। × × × और इसके बाद नील ने वे काम किये जो क़त्लेआम से भी अधिक मालूम होते थे, उसने लोगों को जान-बूझ कर इस प्रकार की यातनाएँ दे देकर मारा जिस प्रकार की यातनाएँ, जहाँ तक हमें प्रमाण मिले हैं, भारतवासियों ने कभी किसी को नहीं दी।"

बनारस के समान इलाहाबाद के नगर पर भी अंग्रेजों का फिर से अधिकार हो गया। यद्यपि जनरल नील और उसके साथियों ने इलाहाबाद निवासियों से बदला चुकाने में कोई कसर नहीं की, फिर भी चार्ल्स बॉल लिखता है कि शहर और आस-पास के गाँव के लोगों ने अंग्रेजों का इतना बहिष्कार कर रखा था कि अपने मुर्दे और घायलों को ढोने के लिये उन्हें डोलियाँ अथवा मजदूर तक नहीं मिल रहे थे। कोई गाँव वाला उन्हें रसद देने के लिये तैयार न होता था। चार्ल्स बॉल लिखता है कि जो कोई अंग्रेज का काम करता था, देहाती उसके हाथ और नाक काट डालते थे। इसके ऊपर जून की गर्मी, नतीजा यह हुआ कि अंग्रेजी कैम्प में हैजे की बीमारी शुरू हो गई।

— —

कानपुर और नाना साहब

अब हम इलाहाबाद से हटकर सन् १८५७ की राष्ट्रीय योजना के उद्भव स्थान कानपुर की ओर आते हैं। घटनाओं का क्रम इस समय तक जैसा कहा गया है उसी के अनुसार कानपुर की घटनाओं की ओर पाठकों को ले जाना हम इस समय उचित समझ रहे हैं।

नाना साहब, उसके दो भाई बाला साहब और बाबा साहब, नाना साहब का भतीजा राव साहब और चतुर अजीमुल्ला खाँ कानपुर में विप्लव के प्रधान नेता थे। इनके अतिरिक्त प्रसिद्ध मराठा सेनापति तात्या टोपे भी, जिसके अद्भुत पराक्रम का वर्णन कुछ और आगे बढ़कर किया जायगा, उस समय बिठूर में नाना साहब के दरबार में मौजूद था।

सर ह्यू व्हीलर कानपुर की अंग्रेजी सेना का सेनापति था। व्हीलर के अधीन तीन हजार देशी सिपाही और लगभग एक सौ अंग्रेज सिपाही थे। दिल्ली की स्वाधीनता का समाचार नाना साहब को १५ मई को मिला और सर ह्यू व्हीलर को १८ मई को। इस पर एक अंग्रेज लेखक लिखता है—

"निस्सन्देह विप्लव के अत्यन्त आश्चर्यजनक पहलुओं में से एक यह रहा है कि भारतवासियों को दूर-दूर के स्थानों की समस्त महत्वपूर्ण घटनाओं की सूचना अत्यन्त शीघ्र और असन्दिग्ध रूप में मिलती रहती है। खबर ले जाने वाले

मुख्यकर हरकारे होते हैं। जो असाधारण वेग के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को सन्देश ले जाते हैं।"

दिल्ली के स्वाधीन हो जाने का समाचार जैसे ही कानपुर के निवासियों के कानों में पहुँचा वैसे ही पूर्ण उत्साह के साथ हिंदू और मुसलमान सभी बड़े-बड़े जलसे करने लगे। ऐसा कोई भी स्थान न रह गया था जहाँ किसी भी प्रकार का उत्सव न मनाया गया हो। ठीक ऐसे ही अवसर पर कानपुर की छावनी में सिपाहियों की गुप्त सभाएँ होने लगीं। स्कूलों, बाजारों और सार्वजनिक स्थानों में आगामी स्वाधीनता के संग्राम की चर्चा होने लगी। फिर भी नाना साहब ने ३१ मई तक चुप रहने का निश्चय किया और सर ह्यू व्हीलर ने गंगा के दक्षिण में एक नया स्थान घेर कर क़िलेबन्दी शुरू की, ताकि आवश्यकता के समय कानपुर के अंग्रेज उसमें आश्रय ले सकें।

जिस समय व्हीलर अपने और अपने सैनिकों के लिए आश्रय का स्थान बनाने का प्रयत्न कर रहा था उसी समय उसकी सहायता के लिए लखनऊ से कुछ और सेना कानपुर पहुँच गई। आश्चर्य की बात यह है कि उस समय तक भी अंग्रेजों को नाना साहब पर पूर्ण विश्वास था। जब कि ३१ मई को कानपुर में विप्लव करने की तैयारी में नाना साहब और उनके सहायक लगे हुए थे तब उसके पहले ही व्हीलर ने नाना साहब को सन्देशा भेजा कि आप आकर कानपुर की रक्षा करने में अंग्रेजों का हाथ बटाइए। उस समय भी अर्थात् २२ मई सन् १८५७ को नाना साहब ने कुछ सेना और दो तोपों के साथ बिठूर से निकल कर कानपुर नगर में प्रवेश किया। व्हीलर ने कम्पनी का खजाना

नाना साहब को सौंप दिया। नाना साहब ने अपने दो सौ सिपाही खज़ाने पर पहरा देने के लिए नियुक्त कर दिये।

कम्पनी की देशी सेना के दो मुख्य नेता थे। सूबेदार टीकासिंह और सूबेदार शम्सुद्दीन खाँ। नाना साहब के दो मुख्य विश्वस्त सहायक ज्वालाप्रसाद और मुहम्मदअली थे। इन चारों और नाना साहब तथा अजीमुल्ला खाँ में प्रायः नावों में बैठकर गङ्गा के ऊपर दो-दो घण्टे गुप्त मंत्रणाएँ हुआ करती थीं। सर ह्यू व्हीलर ने कम्पनी का मैगज़ीन भी नाना साहब की रक्षा में छोड़ दिया था। कानपुर के अन्दर उस समय अंग्रेज़ इतना डरे हुए थे कि २४ मई को रमजान के बाद की ईद थी। उसी दिन रानी विक्टोरिया की सालगिरह के उपलक्ष में हमेशा तोपों की सलामी दी जाती थी। किन्तु २४ मई सन् १८५७ को कानपुर में इसलिए कोई तोप नहीं छोड़ी गई कि कहीं उससे हिन्दुस्तानी सिपाही न भड़क उठें। एक अंग्रेज अफ़सर लिखता है कि जिस समय विप्लव की कोई झूठी अफवाह भी नगर में उड़ जाती थी, तुरंत शहर के सब अंग्रेज भागकर अपने बाल-बच्चों के साथ जनरल व्हीलर के नये क़िले में जाकर जमा हो जाते थे।

४ जून की आधीरात को अचानक कानपुर की छावनी में तीन फ़ायर हुए। सिपाहियों को विप्लव के कार्य आरंभ करने के लिए यही पूर्व निश्चित सूचना थी। सबसे आगे सूबेदार टीकासिंह घोड़े पर लपका। उसके पीछे-पीछे सैकड़ों सवार और हज़ारों पैदल मैदान में निकल आये। पूर्व निश्चय के अनुसार कुछ ने अंग्रेजी इमारतों में आग लगा दी, कुछ दूसरों को सूचना देने के लिए गये और कुछ ने जगह-

जगह से अंग्रेजी झण्डों को गिराकर उनकी जगह हरे झण्डे फहरा दिये। नवाबगंज में नाना साहब का पड़ाव था। नाना साहब के सिपाही विप्लवकारियों के साथ मिल गये। ५ जून को सवेरे तक अंग्रेजी खजाना और मेगजीन दोनों विप्लवकारियों के हाथों में आ गये। भारतीय सेना और नगर-निवासियों ने मिलकर दिल्ली-सम्राट के अधीन नाना साहब को अपना राजा चुना। फ़ौज के लिए अफ़सर और नगर के लिए शासक उसी समय चुने गये। ५ जून को ही हाथी के ऊपर दिल्ली सम्राट के झण्डे का जुलूस बड़े समारोह के साथ शहर तथा छावनी में निकाला गया। इसके बाद नगर-निवासियों ने बड़े हर्ष के साथ नाना साहब की समस्त आज्ञाओं का पालन किया।

दिल्ली सम्राट के अधीन राजा चुने जाने के दूसरे दिन अर्थात् ६ जून को सवेरे नाना साहब ने जनरल व्हीलर को चेतावनी दी कि आज आप क़िला हमारे सुपुर्द कर दीजिए, नहीं तो संध्या समय क़िले पर आक्रमण किया जायगा। उसी दिन संध्या समय विप्लवकारी सेना ने अंग्रेजी क़िले को घेरना आरम्भ कर दिया। कानपुर के प्रायः समस्त अंग्रेज स्त्री, पुरुष और बच्चे उस समय इस क़िले के अन्दर मौजूद थे। चेतावनी देने के बाद जो अंग्रेज किसी कारणवश क़िले से बाहर रह गये या कानपुर शहर में मौजूद थे, उन्हें मार डाला गया। नाना साहब के साथ तोपों की कमी न थी। नाना साहब की तोपों ने अब कानपुर के क़िले के अन्दर गोले बरसाने आरम्भ कर दिये। किले के अन्दर अंग्रेज इतनी तेज़ी के साथ मरने लगे कि उस समय की इतिहास की पुस्तकों में लिखा है कि उन्हें दफ़न करना तक कठिन हो गया।

क़िले के अन्दर केवल एक कुआँ था। नाना साहब की विप्लवकारी सेना ने उस कुएँ को निशाना बनाकर इस ढंग से गोले बरसाये कि क़िले के अन्दर रहने वाले अनेक अंग्रेज़ पुरुष और स्त्री पानी न मिलने के कारण प्यास से तड़पने लगे। २१ दिन तक यह गोलाबारी होती रही। कुछ ऐसे भी लोग थे जो विप्लवकारियों के गोलों से बच गये थे किन्तु पेचिस, बुख़ार और हैज़े के चंगुल में पड़कर वे भी परलोक को सिधार गये। क़िले की दीवारों पर से कम्पनी की तोपें भी बड़े साहस और धैर्य के साथ अपना कार्य करती रहीं। विप्लवकारियों के कठिन पहरे के कारण अंग्रेज़ों के लिए किसी भी प्रकार का संदेशा बाहर भेज सकना अत्यन्त कठिन हो गया। फिर भी कम्पनी का एक वफ़ादार हिन्दुस्तानी नौकर जनरल व्हीलर का संदेशा लेकर लखनऊ पहुँचा। यह संदेशा एक पक्षी के परों के नीचे बँधा हुआ था। भाषा कुछ अंग्रेज़ी, कुछ लातीनी और कुछ फ़्रान्सीसी मिली हुई थी। पत्र का शब्दार्थ केवल इतना ही था, "मदद! मदद!! मदद!!! हमें मदद भेजो, नहीं तो हम मर रहे हैं। हमें मदद मिल जाय तो हम आकर लखनऊ को बचा लेंगे।"

इन्हीं सब बातों से पता चलता है कि उस समय कानपुर के क़िले में रहने वाले अंग्रेज़ों की वास्तविक स्थिति कैसी थी। और उस समय कितनी होशियारी के साथ नाना साहब के गुप्तचर काम करते थे और कितनी सुन्दरता के साथ वे अंग्रेज़ी क़िले के अन्दर के समाचार ला-लाकर नाना साहब के पास पहुँचाते थे।

जब कि अंग्रेज़ी कैम्प की ऐसी बुरी हालत थी, तब नाना

साहब के पास चारों ओर के जमींदारों की ओर से धन और जन दोनों की सहायता धड़ाधड़ चली आ रही थी। नाना साहब और उसके समस्त साथियों तथा सहायकों का उत्साह बढ़ा हुआ था। नाना साहब के अधीन उस समय लगभग चार हज़ार सेना थी। कानपुर की हिन्दू और मुसलमान स्त्रियाँ उस समय अपने घरों से निकल-निकल कर गोला-बारूद इधर-उधर ले जाने, सैनिकों को भोजन पहुँचाने और ठीक अंग्रेज़ी क़िले की दीवार के नीचे तोपचियों को मदद देने का काम कर रही थीं।

इन सब स्त्रियों में उस समय कानपुर की एक वेश्या अज़ीजन का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। एक इतिहास लेखक लिखता है कि यह अज़ीजन हथियार बाँधे हुए घोड़े पर चढ़ी हुई बिजली के समान शहर की गलियों और छावनी में दौड़ती फिरती थी। कभी वह गलियों के अन्दर थके हुए और घायल सिपाहियों को दूध और मिठाई बाँटती थी और कभी अंग्रेज़ी क़िले के ठीक दीवार के नीचे लड़ने वालों के उत्साह को बढ़ाती थी।

ठीक उस समय जब कि अंग्रेज़ी क़िले को घेर लेने का काम हो रहा था, नाना साहब ने शहर के शासन का पूरा प्रबन्ध किया। शहर के प्रमुख लोगों को जमा करके उनके बहुमत से हुलाससिंह नामक एक मनुष्य को मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया। फ़ौज को रसद पहुँचाने का काम मुल्ला नामक एक मनुष्य के सुपुर्द कर दिया गया। दीवानी के मुक़दमों के लिये ज्वालाप्रसाद, अज़ीमुल्ला खाँ और बाबा साहब की एक अदालत तुरंत बना दी गई। इतिहास लेखक टामसन लिखता है कि अपराधियों को कड़े दण्ड दिये जाते थे और नगर में पूर्ण रूप से सुव्यवस्था और शान्ति दिखाई पड़ती थी।

१८ जून और २३ जून को दो गहरे संग्राम हुए। अन्त में कोई दूसरा उपाय न देखकर २५ जून सन् १८५७ को जनरल व्हीलर ने अपने किले के ऊपर सुलह का सुफ़ेद झण्डा गाड़ दिया। नाना साहब ने तुरन्त लड़ाई बंद कर दी। इसके साथ ही नाना साहब ने एक पत्र जनरल व्हीलर के पास भेजा जिसमें लिखा था—"रानी विक्टोरिया की प्रजा के नाम—जिन लोगों का डलहौज़ी की नीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा है, और जो हथियार रख देने और आत्म-समर्पण कर देने के लिए तैयार हैं, उन्हें सुरक्षित इलाहाबाद पहुँचा दिया जायगा।"

२६ तारीख को दोनों ओर के प्रतिनिधियों में बातचीत हुई। इस बातचीत के सम्बन्ध में यह एक बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि अज़ीमुल्ला खाँ अंग्रेज़ी भाषा का विद्वान था, फिर भी ज्यों ही अंग्रेज़ प्रतिनिधि ने अंग्रेज़ी में बातचीत प्रारंभ की, अज़ीमुल्ला ने उसका घोर विरोध किया। उसने अपने तर्क से अंग्रेज़ प्रतिनिधियों का मस्तक ऐसा झुका दिया कि वे कुछ भी उत्तर न दे सके। अपनी प्रतिभा के कारण, अजीमुल्ला खाँ ने अंग्रेज़ प्रतिनिधियों को विवश किया कि सारी बातचीत हिन्दुस्तानी में की जाय। परिणाम यह हुआ कि सारी बातचीत हिन्दुस्तानी में ही हुई।

अन्त में किले के अन्दर के सब अंग्रेज़ों ने अपने आप को नाना साहब के सुपुर्द कर दिया। किला, तोपखाना और भीतर के तमाम अस्त्र-शस्त्र तथा खज़ाना नाना साहब के हाथों में दे दिया गया। नाना साहब की तरफ से वचन दिया गया कि आत्म-समर्पण करने वाले समस्त अंग्रेज़ों को नावों में बैठाकर

और मार्ग के लिए भोजन आदि का आवश्यक सामान देकर इलाहाबाद भेज दिया जायगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उसी रात को चालीस बड़ी-बड़ी नावों का इन्तज़ाम कर दिया गया। उनमें रसद का प्रर्याप्त सामान भी रख दिया गया। २७ जून को सबेरे अंग्रेज़ी झण्डा किले पर से उतार दिया गया और सम्राट बहादुरशाह का झण्डा बड़े सजधज के साथ उसी स्थान पर फहरा दिया गया। इसके बाद समस्त अंग्रेज़ों को हाथियों और पालकियों में बैठाकर किले से डेढ़ मोल दूर सतीचौरा घाट पर पहुँचा दिया गया।

किन्तु इतने ही दिनों के अन्दर इलाहाबाद और उसके आस-पास के इलाके से असंख्य मनुष्य जिनके घर-द्वार, सगे-संबंधियों और बाल-बच्चों को जनरल नील और उसके निर्दय सिपाहियों ने जलाकर राख के ढेर बना दिए थे, वे सब शरणार्थी के रूप में कानपुर नगर में आ-आकर एकत्रित हो रहे थे और अपने अपने दु:ख भरे कथानक को आँसुओं को बहाते हुए लोगों से कहने लगे थे। इन लोगों के बयानों और इलाहाबाद में कम्पनी के अंग्रेज़ अफ़सर और उनकी दानवी सेना के क्रूर अत्याचारों को सुन-सुन कर कानपुर की सहृदय जनता और वहाँ की देशी सेना के सिपाहियों का क्रोध भड़कने लगा। इसका परिमाण कितना भयानक हुआ इसे हम अपने पाठकों को बता देना उचित समझते हैं।

२७ जून को सबेरे दस बजे नावें सतीचौरा घाट से अङ्गरेजों को लेकर चलने वाली थीं। उस समय नाना साहब अपने महल में था। घाट पर सिपाहियों और जनता की भीड़ थी।

नाना साहब

कहा जाता है कि क्रोध से उन्मत्त सिपाहियों में से किसी एक ने पहले कर्नल ईवर्ट पर हमला किया। तुरन्त मार-काट शुरू हो गई। करीब-करीब समस्त अंग्रेज इतिहास लेखक स्वीकार करते हैं कि ज्यों ही नाना साहब को इस दुर्घटना का समाचार मिला, उसने तुरंत आज्ञा भेजी कि, "अंग्रेज पुरुषों को मारो किन्तु बच्चों और स्त्रियों को कोई हानि न पहुँचाओ।" नाना साहब की आज्ञा के पहुंचते ही १२५ अंग्रेज स्त्रियाँ और बच्चे कैद करके सौदाकोठी पहुँचा दिये गए। अंग्रेज पुरुषों को लाइन बाँध कर सतीचौरा घाट पर खड़ा किया गया। उनमें से एक ने जो शायद पादरी था, प्रार्थना की कि मरने से पहले मुझे इजाजत दी जाय कि मैं अपने भाइयों को इंजील में से कुछ ईश्वर प्रार्थना पढ़ कर सुना दूँ। उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गई।

जब वह प्रार्थना कर चुका तब हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने समस्त अंग्रेजों के सिर तलवार से कत्ल कर दिये। अंग्रेज पुरुषों में से केवल चार एक नाव में बैठकर भाग निकले। इस प्रकार ७ जून को कानपुर के अन्दर, जो लगभग एक हजार अंग्रेज थे, उनमें से २७ जून की शाम को केवल चार आदमी अपनी फुर्ती से और १२५ स्त्रियाँ और बच्चे नाना साहब की उदारता से जीवित रहे।

यह सभी को स्वीकार करना पड़ेगा कि निस्सन्देह सतीचौरा का हत्याकाण्ड किसी भी दृष्टिकोण से वीरोचित कार्यों के लिए प्रशंसा के योग्य नहीं था। निःशस्त्र मनुष्यों पर हथियार उठाना युद्ध के सदाचार में भी क्षमा के योग्य नहीं कहा गया है। इसके अतिरिक्त नाना साहब ने इन लोगों से प्राणदान का वादा भी

कर लिया था। दूसरी ओर हमें यह स्मरण रखना होगा कि सतीचौरा घाट के अमानुषिक अत्याचार की ज़िम्मेदारी एक दर्जे तक दानवी कृत्य करने वाले जनरल नील और उसके साथियों के उन सर्वापेक्षा अधिक वीभत्स अत्याचारों पर है जिन्होंने कानपुर के हिन्दुस्तानी सिपाहियों के मानवोचित आंतरिक भावों को उचित ढंग से काम में लाने के लिए ठीक ठिकाने तक भी नहीं रहने दिया था। साधारण बुद्धि का ऐसा ही कोई मनुष्य होगा जिसमें प्रतिशोध की भावना न उत्पन्न होती हो। जब आज से ६० वर्ष पहले का यह कथानक पढ़ लेने पर हममें उत्तेजना उत्पन्न होने लगती है तब फिर भला उस समय के लोगों में क्यों न उत्तेजना उत्पन्न हो और फिर उन लोगों में जिनके परिवारों तथा सम्बन्धियों के साथ क्रूरता और निर्दयतापूर्ण दानवी अत्याचार किये गये हों।

नाना साहब ने क़ैदी अंग्रेज़ स्त्रियों और बच्चों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार किया उसके विषय में अनेक झूठी अफ़वाहें उन दिनों भारत और इंग्लैण्ड में उड़ाई गईं। उन सब झूठी अफ़वाहों को इस समय दुहराना हम उचित नहीं समझते। इस सम्बन्ध में इतना कह देना ही पर्याप्त है कि बाद में अंग्रेज़ों का ही एक कमीशन इन इलज़ामों की जाँच करने के लिए नियुक्त हुआ। पूरी जाँच करने के बाद इस कमीशन ने फैसला दिया कि पूर्वोक्त तमाम अफ़वाहें बिल्कुल झूठी थीं। इन अफ़वाहों के विषय में जस्टिस मैक्कार्थी एक स्थान पर लिखता है—

"लोगों की क्रोधाग्नि को इस तरह की अफ़वाहें उड़ा-उड़ा कर भड़काया गया कि आम तौर पर स्त्रियों की बेइज्ज़ती की गई और निर्दयता के साथ उनके अंग-भंग किये गये। सौभाग्य-

वश ये अफ़वाहें झूठी थीं। × × × सच यह है कि सिवाय उनसे नाज पिसवाने के और किसी प्रकार का भी अपमान अंग्रेज़ स्त्रियों का नहीं किया गया। × × × साधारण अर्थों में किसी स्त्री पर अत्याचार नहीं किया गया। न किसी अंग्रेज स्त्री के कपड़े उतारे गये। न किसी को बेइज़्ज़ती की गई और न जान-बूझकर किसी का अंग भंग किया गया।"

इतना ही नहीं, सतीचौरा घाट के हत्याकाण्ड के आरंभ की गड़बड़ी में कुछ हिन्दुस्तानी सिपाही चार अंग्रेज़ स्त्रियों को पकड़ कर ले गये थे। यह समाचार पाते ही नाना साहब ने तुरंत उन सिपाहियों को कड़ा दंड दिया और चारो अंग्रेज़ स्त्रियों को उनसे वापस ले लिया। कैदी स्त्रियों और बच्चों के साथ नाना साहब का व्यवहार अत्यंत उदार था। उन्हें खाने के लिये चपाती और गोश्त दिया जाता था। कोई कड़ी मेहनत उनसे नहीं ली जाती थी। बच्चों को दूध मिलता था और दिन में तीन-तीन बार उन्हें हवा खाने के लिए बाहर आने की इजाज़त। थी स्वयं जनरल नील अपनी रिपोर्ट में लिखता है—

"आरंभ में उन्हें खराब खाना दिया गया, किन्तु बाद में उन्हें अच्छा खाना दिया जाने लगा। साफ़ कपड़े मिलने लगे और खिदमत के लिए नौकर दे दिये गये।" इनमें से केवल कुछ स्त्रियों को अपने खाने भर के लिए थोड़ा सा आटा पीसना पड़ता था। अब हम इन अंग्रेज़ कैदियों से हटकर कानपुर के शेष वृत्तान्त की ओर आते हैं।।

२८ जून सन् १८५७ को कानपुर नगर छावनी और आस-पास के इलाके पर से अंग्रेज़ी राज्य के समस्त चिन्ह मिटाने के

पश्चात् नाना साहब ने एक बड़ा दरबार किया। छः पलटन पैदल दो पलटन सवार, अनेक जमींदार और असंख्य जनता इस दरबार में उपस्थित थी। सबसे पहले सम्राट बहादुरशाह के नाम पर १०१ तोपों की सलामी हुई। इसके बाद २१ तोपों की सलामी नाना साहब की हुई। नाना साहब ने सिपाहियों और जनता को धन्यवाद दिया। एक लाख रुपये बतौर इनाम के फ़ौज में बाँटे गये। दरबार के बाद नाना साहब कानपुर से बिठूर गए। बिठूर में पहली जुलाई सन् १८५७ को नाना साहब धुन्धपंत विधिवत् पेशवा की गद्दी पर बैठा। इस प्रकार सन् १८५७ के महान विप्लव में क्षण भर के लिए पेशवा की मृतप्राय सत्ता फिर से जीवन लाभ करती हुई दिखाई देने लगी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस समय नाना साहब पेशवा की गद्दी पर बैठा था उस समय जनता यही कहने लगी थी कि परमात्मा की असीम दया से फिर से धर्म-राज्य स्थापित हो गया। अंग्रेज़ों के कारण जो जनता सभी प्रकार के कष्टों का अनुभव कर रही थी उसने विश्वास कर लिया कि अब उसके कष्टों का अंत हो गया। जिधर दृष्टि जाती थी उधर ही-जनता के अन्दर एक नया उत्साह दिखाई पड़ता था।

झाँसी की रानी और लखनऊ की बेग़म

कानपुर के वृत्तान्त के बाद अब हम पाठकों को झाँसी की ओर ले जाना चाहते हैं। यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि किस प्रकार लॉर्ड डलहौजी ने राजा गंगाधरराव के दत्तक पुत्र बालक दामोदरराव के उत्तराधिकार को नाजायज़ कहकर झाँसी की रियासत को जबर्दस्ती कम्पनी के राज्य में मिला लिया था।

गंगाधरराव की मृत्यु के बाद १३ मार्च सन् १८५४ को झाँसी की रियासत के कम्पनी के राज्य में मिलाये जाने की घोषणा प्रकाशित हुई। समस्त प्रजा में इस घोषणा से घोर असंतोष उत्पन्न हो गया। विधवा रानी लक्ष्मीबाई ने, जिसकी आयु उस समय १८ वर्ष की थी और जिसने अपने बालक पुत्र की ओर से असाधारण योग्यता के साथ राज्य का समस्त कार्य सम्हाल लिया था, इस घोषणा का विरोध किया। किन्तु उसके विरोध की कुछ भी सुनवाई न हुई और न भविष्य के लिए कोई आशा ही रही। इतना ही नहीं, राजा गंगाधरराव मरते समय जो लगभग साढ़े चार लाख रुपये के जवाहरात, और ढाई लाख रुपये नक़द छोड़ गया था, लॉर्ड डलहौजी ने इस समस्त सम्पत्ति को ज़बर्दस्ती छीनकर कम्पनी के खजाने में जमा कर लिया और कहा कि जब दामोदरराव बालिग़ होगा तब यह सब धन उसे तुरंत दे दिया जायगा। डलहौजी ने स्पष्ट लिखा कि दत्तक पुत्र को बालिग़ होने पर

पिता की इस निजी सम्पत्ति को प्राप्त करने का अधिकार होगा, किन्तु गद्दी का कभी नहीं।

रानी लक्ष्मीबाई को इस समस्त सम्पत्ति और राज्य के बदले में पाँच हजार रुपये मासिक पेनशन देने का वादा किया गया। वादे को रानी ने तिरस्कार के साथ अस्वीकार किया। विधवा रानी के साथ इससे भी कहीं अधिक अन्याय किया गया। इतिहास लेखक सर जान के लिखता है—

"उस पर दोषारोपण किये गये, क्योंकि हम लोगों में यह प्रथा है कि × × × पहले किसी देशी नरेश का राज्य ले लेते हैं और फिर पद-च्युत नरेश या उसके उत्तराधिकारी की झूठी बुराइयाँ करने लगते हैं। कहा गया कि रानी लक्ष्मीबाई केवल बच्ची है और दूसरों के प्रभाव में रहती है। यह भी कहा गया कि रानी को नशे का व्यसन है। यह बात कि रानी केवल बच्ची नहीं है, उसकी बातचीत से पूरी तरह साबित है; और उसके नशा करने की बात बिल्कुल झूठी कल्पना मालूम होती है।"

निस्संदेह किसी भी मनुष्य के साथ और विशेषकर किसी स्त्री के साथ इससे बढ़कर अन्याय नहीं किया जा सकता। रानी लक्ष्मीबाई के व्यक्तिगत चरित्र के विषय में हम केवल एक विद्वान् अंग्रेज की राय इस स्थल पर और उद्धृत करते हैं, जो उस समय लक्ष्मीबाई के रहन-सहन इत्यादि से भली भाँति परिचित था। मेजर मैलकम ने १६ मार्च सन् १८५५ को गवर्नर जनरल के नाम एक सरकारी पत्र में लिखा था—"रानी का चरित्र अत्यंत उच्च है और झाँसी में हर मनुष्य उसे अत्यंत आदर की दृष्टि से देखता है।"

उस समय के समस्त इतिहास से यह साबित है कि लक्ष्मी बाई वास्तव में अत्यंत सुचरित्र, योग्य, वीर और असाधारण बुद्धि की स्त्री थी। युद्ध-विद्या में वह अत्यंत निपुण थी। उसके माता-पिता बिठूर में पेशवा के दरबार में रहा करते थे। लिखा है कि बिठूर के दरबार में कुमारी लक्ष्मीबाई अत्यंत सर्वप्रिय थी। छोटी आयु में ही निशानेबाजी और शस्त्रों के उपयोग में अत्यंत निपुण हो गई थी। सात वर्ष की अल्पावस्था में वह घोड़े की बड़ी दक्ष सवार थी और प्राय: नाना साहब और उनके भाइयों के साथ शिकार के लिए जाया करती थी।

वीर लक्ष्मीबाई झाँसी की गद्दी के इस अपमान और झाँसी की प्रजा के साथ इस अन्याय को सहन न कर सकी। सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम की वह एक मुख्यतम नेत्री थी। पूर्व निश्चय के अनुसार ४ जून सन् १८५७ को झाँसी में विप्लव आरम्भ हुआ। कम्पनी की सेना सन् १८५४ की घोषणा के बाद ही झाँसी पहुँच चुकी थी और कम्पनी का राज्य स्थापित हो चुका था। ४ जून को सबसे पहले १२ नम्बर देशी पलटन के हवलदार गुरुबख्शसिंह ने क़िले के मेगज़ीन और ख़ज़ाने पर अधिकार कर लिया। उसके बाद रानी लक्ष्मीबाई ने महल से निकलकर और शस्त्र धारण कर स्वयं विप्लवकारी सेना का सेनापतित्व ग्रहण किया। उस समय लक्ष्मीबाई की आयु केवल २१ वर्ष की थी। ७ जून को रिसालदार कालेखाँ और तहसीलदार मुहम्मद हुसेन ने रानी की ओर से क़िले पर आक्रमण किया। क़िले के अन्दर की हिन्दुस्तानी सेना ने भी साथ दिया। ८ जून को कहा जाता है कि रिसालदार कालेखाँ की आज्ञा से किले के अन्दर के ६७ अंग्रेज़, जिनमें पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे शामिल थे,

कत्ल कर दिये गये। इतिहास लेखक सर जॉन के लिखता है कि इस हत्याकाण्ड से रानी लक्ष्मीबाई का कोई सम्बन्ध न था। न उसका कोई आदमी मौके पर मौजूद था और न उसने उसको इजाज़त दी थी। अन्त में उसी दिन झाँसी पर से कम्पनी का राज्य हटा दिया गया। बालक दामोदर के वली की हैसियत से रानी लक्ष्मीबाई फिर से झाँसी की गद्दी पर बैठी। कम्पनी के झण्डे की जगह दिल्ली सम्राट् की पताका झाँसी के क़िले पर फहराने लगी। सारी रियासत में ढिंढोरा पिटवा दिया गया— "ख़ल्क़ ख़ुदा का, मुल्क बादशाह (अर्थात् दिल्ली के सम्राट) का हुकुम रानी लक्ष्मीबाई का।"

सन् १८५७-५८ के सब से अधिक भयंकर संग्राम अवध की धरती पर लड़े गये। अवध की सल्तनत के अंग्रेज़ी राज्य में मिलाये जाने और अवध निवासियों के दुःखों और शिकायतों का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं जो पाठकों को स्मरण होगा; अब हमें इतना ही कहना है कि अवध के ज़मींदारों, वहाँ की पुलिस, वहाँ की फ़ौज और क़रीब-करीब समस्त जनता ने स्वाधीनता के उस महायुद्ध की सफलता पर अपना सर्वस्व लगा दिया था। वास्तव में विप्लव की तैयारी कहीं भी इतनी अच्छी न थी जितनी कि अवध में थी। हज़ारों मौलवी और हज़ारों पंडित एक-एक बाग़ और एक-एक गाँव में आगामी युद्ध के लिए लोगों को तैयार करते फिरते थे।

सर हेनरी लारेन्स अवध का चीफ़ कमिश्नर था। लखनऊ छावनी के कुछ सिपाही मंगल पांडे की फाँसी के बाद अपने आप को न रोक सके। मई के प्रारंभ में वहाँ पर अंग्रेज़ों के कुछ

मकान जला दिये गये। चार्ल्स बॉल लिखता है कि ३ मई को सात नम्बर पलटन के सात उच्छृङ्खल सिपाही लेफ्टिनेण्ट मीकम के खेमें में पहुँचे और कहने लगे—"हमें आपसे कोई निजी झगड़ा नहीं है किंतु आप फिरंगी हैं, इसलिए हम आपको मार डालेंगे।" भयभीत किन्तु चतुर लेफ़्टिनेण्ट ने उनसे दया की प्रार्थना की और कहा—"मुझ एक गरीब आदमी को मारने से आपको क्या लाभ होगा,आपकी शत्रुता तो इस राज्य से है।" दया में आकर सिपाहियों ने उसे छोड़ दिया किन्तु यह समाचार तुरन्त सर हेनरी लारेन्स तक पहुँचा। उसने एक चाल से सात नम्बर पलटन के हथियार रखा लिये।

१२ मई को सर हेनरी लारेन्स ने एक बहुत बड़ा दरबार किया, जिसमें उसने हिन्दुस्तानी भाषा में एक जोरदार भाषण किया। इस जोरदार भाषण में उसने हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों को कम्पनी सरकार की वफ़ादारी का महत्व दर्शाया। उसने मुसलमान सिपाहियों से कहा कि पंजाब में महाराजा रणजीतसिंह ने इस्लाम धर्म की कितनी तौहीन की थी और हिन्दुओं को यह याद दिलाया कि सम्राट औरंगजेब ने हिन्दू धर्म पर किस तरह कुठार चलाया था, और दोनों को बतलाया कि केवल अंगरेज ही एक दूसरे से तुम्हारी रक्षा कर सकते हैं। इसके बाद उसने अपने खैरख़ाह सिपाहियों को दुशाले, तलवारें और पगड़ियाँ इनाम में दीं, किन्तु इन सब बातों का परिणाम और अधिक बुरा हुआ। हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों को और पूरी तरह दिखाई दिया कि अंगरेज किस प्रकार हमें पुराने झगड़ों की याद दिलाकर और एक दूसरे से लड़ाकर दोनों को पराधीन बनाये रखना चाहते हैं।

१३ मई को मेरठ के विप्लव का समाचार लखनऊ पहुँचा। १४ मई को दिल्ली की स्वाधीनता का समाचार आया। सर हेनरी लारेन्स ने अब लखनऊ शहर के निकट दो स्थानों में खास तौर पर किलेबन्दी शुरू कर दी, ताकि आवश्यकता के समय लखनऊ के अंग्रेज इनमें आश्रय ले सकें—एक मच्छी भवन और दूसरे रेजिडेन्सी। लखनऊ की समस्त अंग्रेज स्त्रियाँ और बच्चे इन स्थानों में पहुँचा दिये गये और समस्त अंग्रेज पुरुषों को फ़ौजी कवायद सीखने का हुकुम हो गया।

अवध की सरहद नैपाल से मिली हुई है। सर हेनरी लारेन्स ने विशेष दूत भेजकर नैपाल दरबार के प्रधान मंत्री सेनापति जंगबहादुर से प्रार्थना की कि आप इस संकट में अपनी सेना से अंग्रेजों की सहायता कीजिए।

ठीक ३० मई की रात को ६ बजे छावनी की तोप छुटी। विप्लव के आरंभ होने का यही चिन्ह नियत था। सबसे पहले ७१ नम्बर पलटन की बन्दूकों की आवाज़ सुनाई दी। अंग्रेजों के बंगले जला दिये गये। जो अंग्रेज मिला, उसे मार डाला गया। ३१ मई को सबेरे हेनरी लारेन्स ने कुछ गोरी सेना और ७ नम्बर देशी सवार पलटन को साथ लेकर विप्लवकारियों पर आक्रमण किया उस समय तक ७ नम्बर पलटन अंग्रेजों की ओर थी, किन्तु मार्ग में ही इस पलटन ने भी कम्पनी का झंडा फेंक कर हरा झंडा हाथ में ले लिया। उन सबों को वहीं छोड़ कर अपने थोड़े से अंग्रेज सिपाहियों के साथ लॉरेन्स को रेजिडेन्सी में आकर शरण लेनी पड़ी। ३१ मई के संध्या-समय तक ४८ और ७१ नम्बर पैदल और ७ नम्बर सवार और अन्य देशी पलटनों में भी स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा।

लखनऊ से लगभग ५० मील उत्तर-पश्चिम में सीतापुर है। वहाँ पर कम्पनी की तीन देशी पलटनें थीं। ३ जून को इन पलटनों ने कम्पनी का झण्डा फेंककर हरा झण्डा हाथ में ले लिया। उन्होंने खज़ाने पर अधिकार कर लिया और जो अंग्रेज़ मिला उसे मार डाला। कहा जाता है कि २४ अंग्रेज़ सीतापुर में मारे गये और कुछ ने आस-पास के ज़मींदारों के यहाँ जाकर आश्रय ग्रहण किया।

सीतापुर को स्वाधीन करने के बाद वहाँ के सिपाही फ़र्रुखाबाद पहुँचे। कम्पनी ने फ़र्रुखाबाद के नवाब तफ़ज्जलहुसेन खाँ को गद्दी से उतार दिया था। फ़र्रुखाबाद के क़िले में बहुत से अंग्रेज़ों ने शरण ले ली थी। एक प्रकार के भयानक संग्राम करने के बाद विप्लवकारियों ने फर्रुखाबाद के किले पर अधिकार कर लिया, वहाँ के समस्त अंग्रेज़ों को मार डाला और पदच्युत नवाब को फिर से वहाँ की गद्दी पर बैठा दिया। पहली जुलाई तक फर्रुखाबाद की रियासत में एक भी अंग्रेज़ शेष न था।

मुहम्मदी, मालन, बहरायच, गोंडा, सिकरोरा, मेलापुर इत्यादि आस-पास के समस्त इलाके १० जून सन् १८५७ तक पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो गये। स्थान-स्थान पर अनेक अंग्रेज़ मारे गये, अनेक भाग निकले और कुछ को आस-पास के जमींदारों ने अपने यहाँ शरण दी।

यहाँ पर यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि अवध के जिन जमींदारों और ताल्लुकेदारों ने इस अवसर पर स्वाधीनता के संग्राम में खुले तौर से भाग लिया, उनमें से अनेक ने अपने महलों के अन्दर अंग्रेज़ अफ़सरों और बच्चों को शरण देने में

बड़ी उदारता दिखलाई। उस समय के बचे हुए अनेक अंग्रेजों के पत्रों और रिपोर्टों में इसका उल्लेख पाया जाता है।

अवध के पूर्वी भाग में फ़ैजाबाद का नगर सब से प्रधान था। सर हेनरी लॉरेन्स ने स्वीकार किया है कि फैज़ाबाद ज़िले के ताल्लुकेदारों के साथ अंग्रेजों ने घोर अन्याय किया। उनमें से कुछ की पूरी जागीरें छीन ली गई थीं और कुछ के आधे गाँव बिना किसी कारण के ले लिए गये थे। मौलवी अहमदशाह, जिसका थोड़ा-सा परिचय हम पहले ही दे आये हैं, इन्हीं पदच्युत ताल्लुकेदारों में से था। अवध की सल्तनत के छिनने के समय से मौलवी अहमदशाह ने अपने जीवन का समस्त समय इस स्वाधीनता के महायुद्ध की तैयारी में लगा रखा था। फैज़ाबाद से लखनऊ और आगरे तक वह बराबर दौरे करता रहता था। विप्लव की आवश्यकता पर उसने अनेक स्थानों में उत्तेजक भाषण दिए और अनेक पत्रिकाएँ लिखीं। अंग्रेजों को जिस समय इसका पता चला उस समय उन्होंने मौलवी अहमद-शाह की गिरफ़्तारी की आज्ञा दी। अवध की पुलिस ने उसे गिरफ़्तार करने से इंकार किया। इसलिए फ़ौज भेजनी पड़ी। अहमदशाह पर बग़ावत का मुकदमा तुरंत चलाया गया। उसे फाँसी का हुकुम सुना दिया गया और फाँसी की तारीख तक के लिए उसे फ़ैज़ाबाद के जेलखाने में बन्द कर दिया गया।

मौलवी अहमदशाह की गिरफ़्तारी ने फ़ैज़ाबाद के इलाके भर में आग लगा दी। फ़ैज़ाबाद के शहर में उस समय दो पैदल पलटन, कुछ सवार और थोड़ा-सा तोपखाना था। तुरंत फ़ैज़ाबाद के सिपाहियों और जनता ने मिलकर स्वतंत्रता का झण्डा खड़ा कर दिया। परेड के ऊपर देशी सिपाहियों ने अपने

अंग्रेज़ अफ़सरों से साफ़ कह दिया कि इस समय के बाद हम केवल अपने हिन्दुस्तानी अफ़सरों की आज्ञा का पालन करेंगे। सूबेदार दलीपसिंह ने तुरन्त आगे बढ़कर समस्त अंग्रेज अफ़सरों को क़ैद कर लिया। जेलखाने की दिवारें तोड़ दी गईं। मौलवी अहमदशाह की बेड़ियाँ काट डाली गईं। फ़ैज़ाबाद के समस्त सिपाहियों और जनता ने मौलवी अहमदशाह को अपना नेता चुना। मौलवी अहमदशाह ने फैज़ाबाद के समस्त अंग्रेज़ को लिख भेजा कि आप सब लोग तुरन्त फैज़ाबाद छोड़ दीजिए। उसने सब अंग्रेज़ों को नावों में बैठाकर फैज़ाबाद से रवाना कर दिया। उन्हें मार्ग के लिए खाने-पीने का सामान और कुछ मार्ग का व्यय तक भी दे दिया गया। फैज़ाबाद शहर में शान्ति और व्यवस्था का प्रबन्ध तुरन्त कर दिया गया। ६ जून को प्रातःकाल शहर और आस-पास के इलाके में घोषणा कर दी गई कि अब से कम्पनी की हुकूमत का अन्त हो गया है और वाजिदअली शाह की हुकूमत फिर से कायम हो गई।

शाहगंज के ताल्लुकेदार राजा मानसिंह को इससे पूर्व मालगुज़ारी के कुछ झगड़े में अंग्रेज़ कैद कर चुके थे। मानसिंह इस समय विप्लव के नेताओं में से था; फिर भी उसने विप्लव के अन्य नेताओं की इजाज़त से २६ अंग्रेज स्त्रियों और बच्चों को अपने किले के अन्दर तक सुरक्षित रखा। मौलवी अहमदशाह की आज्ञा के अनुसार खास फैज़ाबाद के शहर में एक भी अंग्रेज़ नहीं मारा गया।

फैज़ाबाद के बाद ६ जून को सुलतानपुर और दस जून को सालोनी में स्वाधीनता का हरा झण्डा फहराने लगा। सालोनी

के जमींदार सरदार रुस्तमशाह और काला के राजा हनुमंतसिंह दोनों ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि बिना अंग्रेज़ी-राज्य को हिन्दुस्तान से मिटाये, विश्राम न लेंगे। फिर भी इन दोनो भारतीय नरेशों ने अपने आश्रित अंग्रेज़ों और उनके बाल-बच्चों के साथ असाधारण उदारता का व्यवहार किया। राजा हनुमंतसिंह के विषय में इतिहास लेखक मॉलेसन लिखता है—"इस उदार राजपूत की अधिकांश जागीर अंग्रेज़ों की नई लगान पद्धति के कारण छीनी जा चुकी थी। वह इस अन्याय और अपमान को बहुत महसूस करता था। फिर भी वह स्वभाव से इतना उदार था कि जिस क़ौम ने उसको करीब-करीब बर्बाद कर किया था, उस कौम के भागे हुए अफ़सरों के साथ वह वैसा ही व्यवहार करता था, जैसा किसी भी दुःखित मनुष्य के साथ। उसने मुसीबत में उनकी सहायता की, उसने उन्हें उनके स्थानों सुरक्षित पहुँचा दिया। किंतु जब बिदा होते समय कप्तान बैरो ने राजा हनुमन्तसिंह से कहा कि—"मुझे आशा है, आप इस विप्लव के शान्त करने में अंग्रेज़ों की सहायता करेंगे।" तक तो राजा हनुमन्तसिंह सीधा खड़ा हो गया और बोला—"साहब! तुम्हारे मुल्क के लोग हमारे मुल्क में घुस आये और उन्होंने हमारे बादशाह (वाजिदअलीशाह) को निकाल दिया। तुमने अपने अफ़सरों को ज़िलों में भेजा ताकि वे पुराने रईसों और जमींदारों के पट्टों की जाँच करे। एक बार ही में तुमने मुझसे वे सब जमीनें छीन लीं जो चिरकाल से मेरे कुटुम्ब में चली आती थीं। मैंने सब सहन कर लिया। अचानक तुम सब पर यह आफ़त आई, तुमने मुझे बर्बाद किया था और तुम मेरे ही पास आये मैंने तुम्हें बचा दिया। किंतु अब—अब मैं अपनी

समस्त सेना इकट्ठी करके लखनऊ जा रहा हूँ और तुम्हें मुल्क से बाहर निकालने की कोशिश करूँगा।"

इतिहास से पता चलता है कि उस समय अवध के अन्दर अनेक हिन्दू और मुसलमानों के विचार हनुमन्तसिंह के विचारों के ही समान अंग्रेजों के विरुद्ध उग्र हो रहे थे किंतु इतना सब होने पर भी वे सब हिन्दू और मुसलमाम समान रूप से हनुमन्तसिंह के ही आदर्श के थे अर्थात् उन सबों में जितना प्रबल स्वाधीनता का प्रेम था उतना ही आदर्शमयी वीरोचित उदारता भी थी। सारांश यह कि ३१ मई और १० जून के बीच केवल लखनऊ शहर के एक भाग को छोड़कर समस्त अवध अंग्रेजी राज्य के चंगुल से निकल गया। प्रसिद्ध इतिहास का विद्वान फ़ारेस्ट लिखता है —

"इस प्रकार दस दिन के भीतर अवध से अंग्रेजी राज्य स्वप्न की तरह मिट गया। उसका कोई अवशेष तक बाकी न रहा। फ़ौज ने हमारे विरुद्ध विद्रोह किया। जनता ने पराधीनता की बेड़ियाँ तोड़कर फेंक दी किन्तु उनमें से किसी ने बदला नहीं लिया, किसीने अन्याय नहीं किया। एक दो अपवादों को छोड़कर शेष समस्त वीर और विद्रोही जनता ने भागते हुए अंग्रेजों के साथ स्पष्ट दयालुता का व्यवहार किया। अवध-निवासियों के जिन शासकों (अर्थात् अंग्रेज अफ़सरों) ने अपनी सत्ता के दिनों में अत्यन्त अच्छी (?) नीयत से अनेक लोगों के साथ घोर अन्याय किया था, उन शासकों का जब पतन हो गया तब अवध-निवासियों ने उनके साथ अपने व्यवहार में उच्च श्रेणी की उदारता और दयालुता का व्यवहार किया। अवध-निवासियों के ये गुण साफ चमकते हुए दिखाई दे रहे थे।"

लार्ड डलहौजी का बयान है कि वाजिदअली शाह के अत्याचारों से अवध की प्रजा दुःखी थी ! किन्तु जिस प्रकार सन् १८५७ में समस्त अवध के जमींदारों, जागीरदारों राजाओं, सिपाहियों, किसानों, सौदागरों, सारांश यह कि समस्त हिन्दू और मुसलमानों ने वाजिदअलीशाह को फिर से अवध के सिंहासन पर बैठाने के लिए दस दिन के भीतर अवध से अंग्रेजी राज्य को उखाड़ कर फेंक दिया, उससे वाजिदअलीशाह के शासन की सर्वप्रियता और कम्पनी के शासन की अप्रियता दोनों का साफ पता चल जाता है। अवध के अन्दर उस समय एक गाँव भी ऐसा न बचा होगा जिसने कम्पनी के झण्डे को फाड़ कर न फेंक दिया हो।

अवध के भिन्न-भिन्न भागों से जमींदारों के सिपाही और स्वयंसेवक सहस्रों की संख्या में अब लखनऊ में बेगम हज़रत महल के झण्डे के नीचे आकर इकट्ठे होने लगे। अवध-निवासियों की इस स्वाधीनता की लड़ाई में बेगम हज़रत महल के अधीन अवध की अनेक स्त्रियाँ तक मर्दाना भेष पहनकर और हथियार बाँध कर अपने अलग दल बना कर लड़ रही थीं। लखनऊ शहर का एक भाग अभी तक अंग्रेजों के अधिकार में था। दो पलटन सिखों की, एक पलटन गोरों की और कुछ तोपखाना इस समय लारेन्स के पास था। कानपुर के अंग्रेजी किले को विप्लवकारियों का समूह अभी तक घेरे हुए था। कानपुर में अंग्रेजों के पराजित होने का समाचार २८ जून को लखनऊ पहुँचा। लखनऊ के विप्लवकारियों ने अंग्रेजों पर आक्रमण करने के लिए चिनहट नामक स्थान पर धावा बोल दिया।

कानपुर को पराजय का समाचार सुनकर सर हेनरी लारेन्स

का साहस उसका साथ छोड़ चुका था। २६ जून को लोहे के पुल के पास कम्पनी की सेना जमा हुई। एक अत्यन्त घमासान संग्राम हुआ। अन्त में हार कर सर हेनरी लारेन्स को पीछे हटना पड़ा। अंग्रेजों की तोपें मैदान में रह गई। सर हेनरी लारेन्स को लौटकर रेजीडेन्सी में आश्रय लेना पड़ा। इसके बाद विप्लवकारियों ने मच्छी भवन और रेजीडेन्सी दोनों को घेर लिया। अंग्रेजों ने मच्छी भवन के मैगजीन में आग लगा दी। मच्छी भवन भी विप्लवकारियों के अधिकार में आ गया।

लखनऊ के अन्दर समस्त अंग्रेजी सत्ता अब रेजीडेन्सी के मकान में कैद हो गई। उसमें लगभग एक हजार और आठ सौ हिन्दुस्तानी थे। अस्त्र-शस्त्र और खाने-पीने का सामान प्रर्याप्त था। विप्लवकारियों ने चारों ओर से रेजीडेन्सी को घेरे रखा। लखनऊ के शेष नगर और समस्त अवध पर वाजिद्-अलीशाह के पुत्र शाहजादे बिरजिस क़द्र की ओर से बेगम हजरत महल का शासन कायम हो गया।

इतिहास लेखक मालेसन लिखता है—"समस्त अवध ने हमारे विरुद्ध हथियार उठा लिये थे। न केवल बाजाब्ता फौज ही बल्कि पदच्युत नवाब की फौज के साठ हजार आदमी, जमींदार उनके सिपाही, ढाई सौ किले—जिनमें बहुतों पर भारी तोपें लगी हुई थीं सब के सब हमारे विरुद्ध खड़े हो गये। इन लोगों ने कम्पनी के शासन को अपने नवाबों के शासन के साथ तौल कर देख लिया था और एक मत से यह फैसला कर लिया था कि उनके अपने नवाबों का शासन कम्पनी के शासन से बेहतर था।"

———

सन् ५७ के पंजाबी और सिख

अभी तक हमने जो कुछ वर्णन किया है उससे पाठक यह भली भाँति समझ गये होंगे कि सन् १८५७ के विप्लव को दबाने के लिए उस समय के गवर्नर जनरल लॉड कैनिंग ने किन-किन उपायों को काम में लाने का प्रयत्न किया था और किस प्रकार उनके आदेश का पालन करते हुए जनरल नील ने बनारस और इलाहाबाद में क्रूरता के साथ नर-संहार के कार्य आरंभ कर दिये थे किंतु वे सब क्रूरता के कार्य ही भारत में अंग्रेजी-सत्ता स्थापित करने वाले अंग्रेजों के लिए घातक प्रमाणित हुए। इतना ही नहीं, परिणाम यह हुआ कि कानपुर, झाँसी, सीतापुर, फर्रुखाबाद, फैजाबाद; सुलतानपुर, और लखनऊ आदि सभी स्थानों में उस समय की स्वाधीनता का हरा झंडा फहराने लगा और कम्पनी का जो झंडा था वह विप्लवकारियों द्वारा फाड़ कर फेंक दिया गया।

अब हम उन सब घटनाओं का वर्णन करेंगे जिनका सम्बन्ध दिल्ली, पंजाब और उत्तर-पश्चिमी इलाके से है। पाठकों को यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि सन् १८५७ के महान् विप्लव की योजना करने वालों के दृष्टिकोण से उस स्वाधीनता के समस्त महायुद्ध का केन्द्रस्थल उस समय दिल्ली ही था। सम्राट् बहादुरशाह के नाम पर विसव का श्रीगणेश किया गया था उस समय को जनता के हृदय पर आसन ग्रहण करने वाला सम्राट् बहादुरशाह ही समस्त विप्लवकारियों

की सुनहली आशाओं का मुख्य केन्द्र-बिन्दु था और बहुत अंशों में यह सत्य भी था कि दिल्ली की सफलता पर भारत की स्वाधीनता का निर्भर होना स्वभावत: स्वयंसिद्ध था।

इसीलिए समस्त भारत के अंग्रेजों और विप्लवकारियों, दोनों की ही दृष्टि दिल्ली पर ही लगी हुई थी। समस्त भारत से सेनाएँ आ-आकर दिल्ली में इकट्ठी हो रहीं थीं और भारत के भिन्न-भिन्न भागों से उस समय की अंग्रेजी कम्पनी के खजाने ला-लाकर सम्राट् बहादुरशाह के चरणों पर अर्पण कर देती थीं। इसी प्रकार अंग्रेजों ने भी दिल्ली को फिर से जीत लेने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा देना उचित समझ लिया था। हम यह समझ रहे हैं कि पाठकों का हृदय दिल्ली की घटनाओं को जान लेने के लिए उत्सुक हो रहा होगा किंतु विषय की गंभीरता को पूर्ण रूप से समझने के लिए हम पाठकों से यही निवेदन करेंगे कि वे अधिक अधीर न हों। इसका कारण यही है कि दिल्ली के महत्वपूर्ण स्वाधीनता के महायुद्धों का वर्णन करने से पहले हमें उत्तर-पश्चिमी भारत और पंजाब की ओर एक दृष्टि अवश्य डालनी होगी। क्योंकि यह मानी हुई बात है कि स्वाधीनता-संग्राम में भारतीयों को असफल बनाने के लिए उसी ओर से ही अंग्रेजों ने सम्राट् बहादुरशाह, समस्त विप्लवकारी समुदाय और दिल्ली पर आक्रमण करने का आयोजन किया था।

जिस समय गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग ने मेरठ और दिल्ली के स्वाधीन हो जाने के समाचार को सुना, उस समय वह अपने कर्तव्य को निश्चय कर सकने में भी समर्थ न हुआ। कुछ भी हो, विशेष रूप से विचार कर लेने के बाद उसने

एक ओर मद्रास, कलकत्ता, रंगून आदि स्थानों से फौज जमा करके जनरल नील के अधीन बनारस और इलाहाबाद को ओर रवाना कर दिया और दूसरी ओर कमाण्डर-इन-चीफ़ (प्रधान सेनापति) ऐनसन को, जो उस समय शिमले में था, पंजाब से सेना इकट्ठी कर लेने के बाद तुरंत दिल्ली पर चढ़ाई करने और फिर से दिल्ली और दिल्ली सम्राट् बहादुरशाह को जीत लेने के लिए आदेश कर दिया।

ठीक ऐसे ही अवसर पर गवर्नर जनरल लॉर्ड कैनिंग ने भारतीय सिपाहियों के मनोमालिन्य को दूर कर सान्त्वना देने के लिए समस्त भारत में अपनी एक घोषणा प्रकाशित करा दी। उस घोषणा का तात्पर्य यह था कि—"कम्पनी की सरकार का कोई विचार न कभी किसी के धर्म में हस्तक्षेप करने का था और न है। यदि सिपाही चाहें तो अपने कारतूस स्वयं बना सकते हैं और जिन लोगों ने आज तक कम्पनी की सरकार का नमक खाया है उनके लिए विप्लव में भाग लेना घोर पाप है।" किंतु जब विप्लव की प्रचंड अग्नि जल चुकी थी तब फिर भला इन सब घोषणाओं का क्या प्रभाव पड़ सकता था।

विप्लव करने वाली जनता और सिपाहियों ने उस घोषणा को पढ़ा-पढ़ाया, सुना-सुनाया किंतु कोई भी विप्लव से किनारा कसने को तैयार न हुआ। जनरल ऐनसन ने परिस्थिति को भली भाँति समझ लिया और यह भी समझ लिया कि फिर से दिल्ली विजय करने के लिए केवल पंजाब से ही सेना मिल सकती थी। राजनीति के क्षेत्र में जिन विद्वानों का नाम श्रद्धा के साथ लिया जाता है, उन सब का कहना है कि जिस प्रकार अवध, रुहेलखंड, कानपुर आदि स्थानों के लोगों ने भारत से

अंग्रेजों को भगाने के लिए विप्लवकारियों का साथ तन, मन, धन से दिया था, यदि उस समय उन्हें स्वाधीनता-प्रेमी विप्लव-कारियों का साथ पंजाब ने दिया होता तो दिल्ली या दिल्ली सम्राट बहादुरशाह अथवा भारत को फिर से विजय कर सकना अंग्रेजों के लिए सर्वथा असम्भव होता। पंजाब का चीफ़ कमिश्नर सर जॉन लारेन्स पंजाब और पंजाब की जनता के स्वभाव और विचार से भली भाँति परिचित था और किस प्रकार वहाँ की जनता को अपने अनुकूल बनाकर उससे विप्लव को दबाया जा सकेगा, इसको भी अच्छी तरह समझता था। इसीलिए पंजाब को और विशेषकर सिखों को उस महान संकट के समय अंग्रेज सरकार का भक्त बनाए रखने के लिए पंजाब के चीफ़ कमिश्नर सर जॉन लारेन्स ने जिन-जिन उपायों का अवलम्बन किया था, वे सभी उपाय अंग्रेजों के दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण थे।

उस समय अंग्रेजों द्वारा सिखों को भड़काने के लिए उन्हें यह समझाया गया कि औरंगजेब जैसे मुसलमान बादशाहों ने तुम्हारे धर्म पर किस तरह हमले करते रहे हैं और किस प्रकार निष्ठुर औरंगजेब ने दिल्ली के अन्दर तुम्हारे पूज्य गुरु तेग़-बहादुर का सिर कलम करवा दिया था। शायद तुम सब इन सब अत्याचारों को न भूले होगे और भूलना भी न चाहिये। इसके बाद सिखों को यह भी बताया गया कि अब तुम सब बहादुर सिखों को अंग्रेजों की सहायता से अपने गुरु और धर्म के शत्रुओं से बदला लेने और दिल्ली जैसे शाही नगर को जमीन से मिला देने का सुन्दर अवसर मिल रहा है। इतना ही नहीं, बल्कि बूढ़े सम्राट बहादुरशाह के नाम से एक बनावटी घोषणा भी उन दिनों जगह-जगह दीवारों पर लगी हुई दिखाई पड़ी, जिसमें

लिखा था कि सम्राट बहादुरशाह का पहला फ़रमान यह है कि सिखों को मार डाला जाय। इतिहास का लेखक मेटकॉफ लिखता है कि जिस समय यह बनावटी घोषणा प्रकाशित की गई, ठीक उसी समय दिल्ली का बूढ़ा सम्राट बहादुरशाह हाथी पर सवार होकर दिल्ली की सड़कों और गलियों में अपने मुख से यह एलान करता फिर रहा था कि स्वाधीनता का यह समस्त युद्ध केवल फ़िरंगियों के साथ है और किसी भी भारतवासी को किसी तरह की कोई हानि न पहुँचाई जाय।

कहने की आवश्यकता नहीं कि सर जॉन लारेन्स की इन समस्त चालों का अत्यंत अधिक प्रभाव पड़ा। सम्राट बहादुर शाह और विप्लव के अन्य प्रमुख नेताओं ने सिखों और सिख राजाओं को अपनी ओर कर लेने के लिए भर सक प्रयत्न किये किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि वे अपने उन प्रयत्नों में सफल न हो सके। बहादुरशाह ने अपना विशेष दूत, जिसका नाम ताजुद्दीन था, पटियाला, नाभा और झिंद के राजाओं तथा अन्य प्रधान-प्रधान सिख सरदारों के पास भेजा। सिख राजाओं तथा सिख सरदारों से मिलने के बाद जो परिणाम निकला, उस सम्बन्ध में ताजुद्दीन ने सम्राट बहादुरशाह को एक पत्र लिखा, जिसके कुछ वाक्य इस प्रकार के थे:—

"पंजाब के सिख सरदार सब सुस्त, और कायर हैं। बहुत कम आशा है कि वे विप्लवकारियों का साथ दें। ये लोग फ़िरंगियों के हाथों के खिलौने बने हुए हैं। मैं स्वयं इन लोगों से एकान्त में मिला। मैंने उनसे बातचीत की और उनके सामने अपना कलेजा पानी कर दिया। मैंने उनसे कहा, आप लोग फ़िरंगियों का साथ क्यों दे रहे हैं और क्यों देश की आज़ादी के साथ

विश्वासघात कर रहे हैं? क्या स्वाधीन भारत में आप इससे अच्छी दशा में न रहेंगे? इसलिए कम से कम अपने फ़ायदे के लिए ही आपको दिल्ली के बादशाह का साथ देना चाहिए।' इस पर उन सब सिख सरदारों ने जवाब दिया, 'देखिए, हम सब मौके के इन्तज़ार में हैं। ज्यों ही हमें सम्राट का हुकुम मिलेगा, त्यों ही हम एक दिन के अन्दर इन सब काफ़िरों को मार डालेंगे।'××× लेकिन मेरा ख़्याल है कि उन सब सिख सरदारों पर कभी भी भरोसा नहीं किया जा सकता।"

ताजुद्दीन के पत्र आने के कुछ दिनों बाद थोड़े से सवार सम्राट बहादुरशाह का सन्देश लेकर इन समस्त सिख राजाओं के पास पहुँचे किंतु उन सब के पहुँचने से पहले ही लॉर्ड कैनिंग और सर जान लॉरेन्स के जहरीले तीर भी सिख राजाओं के दिलों और दिमागों पर चल चुके थे। उन तीरों का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा हुआ था कि अदूरदर्शी सिख राजाओं ने दिल्ली के बूढ़े सम्राट बहादुरशाह के सन्देशे का तिरस्कार कर दिया और पत्र लाने वाले सवारों को भी निर्दयता से मरवा डाला।

अपने कूटनीति से पूर्ण इन उपायों में सफल होते ही पंजाब की जनता को अपनी ओर रखने तथा अबाध रूप से अनुकूल बनाने के लिए सर जॉन लॉरेन्स ने एक और साधारण सा उपाय यह किया कि उसने आरंभ में ही पंजाब की जनता से ६ प्रतिशत ब्याज पर कम्पनी के नाम से कर्ज लेना आरंभ कर दिया। इसके दो परिणाम हुए। पहिला परिणाम यह हुआ कि वह रकम बड़े ही संकट के समय कम्पनी के काम आई और दूसरे परिणाम में यह समझ लेना चाहिए कि पंजाब के जिन असंख्य साहू-

कारों ने कम्पनी को कर्ज दिया, उन्हें कम्पनी के शासन के अधीन बने रहने में ही अपना हित दिखाई देने लगा।

जिस समय की घटनाओं का वर्णन हम कर रहे हैं उस समय लखनऊ के विप्लवकारी नेताओं का थोड़ा-सा पत्र-व्यवहार काबुल के अमीर दोस्त मुहम्मद खाँ के साथ होना आरंभ हुआ था। यह हम नहीं जानते कि अफ़ग़ानिस्तान में उसके मुक़ाबले के लिए अंग्रेजों ने किन-किन उपायों का सहारा लिया था किंतु इतिहास की पुस्तकों से इतना पता अवश्य चलता है कि सरहद की मुसलमान क़ौमों को अपनी ओर बनाये रखने के लिए सर जॉन लॉरेन्स ने आवश्यकता से अधिक धन व्यय किया और उन्हें अपने अनुकूल बनाये रखने के उद्देश्य से उनमें प्रचार करने के लिए अनेक मुल्लाओं को नौकर रखा था।

विप्लव के दिनों में पंजाब के अन्दर सिख और गोरी पलटनों के अतिरिक्त हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों की भी अनेक पलटनें थीं। ये लोग राष्ट्रीय स्वाधीनता-युद्ध को सफल बनाने के लिए विप्लव में भाग लेने की कसमें खा चुके थे। इनके अतिरिक्त पंजाब के अनेक नगरों की साधारण हिन्दू और मुसलमान जनता भी विप्लव के साथ पूरी सहानुभूति रखती थी। इसीलिए हमें यह देखना होगा कि इन सब के वीरोचित प्रयत्नों को असफल करने के लिए अंग्रेज अफसरों ने कौन-कौन से नये उपाय काम में लाने की चेष्टाएँ कीं और उन सब चेष्टाओं में उन्हें कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई।

उन दिनों पंजाब की सब से बड़ी और महत्वपूर्ण छावनी लाहौर के समीप मियाँ मीर में थी। मियाँ मीर की छावनी में

गोरे सिपाहियों की तुलना में हिन्दुस्तानी सिपाही ठीक चौगुने थे। पंजाब की हिन्दुस्तानी सेना के सिपाहियों ने यह तय कर रखा था कि सब से पहले मियाँ मीर के सिपाही लाहौर के किले पर चढ़ाई करेंगे और अंग्रेजों को जीत कर किले पर अपना पूरा अधिकार कर लेंगे और फिर पेशावर, अमृतसर, फ़िलौर और जालंधर की पलटनें एक साथ विप्लव करना आरंभ कर देंगी।

मियाँ मीर की पलटनें रॉबर्ट मॉण्टगुमरी के अधीन थीं। मेरठ का समाचार पाते ही मॉण्टगुमरी पूर्ण रूप से सावधान हो गया था। उसे अपने एक विशेष गुप्तचर द्वारा सूचना मिली कि मियाँ मीर की हिन्दुस्तानी सेना के सिपाही भी विप्लव के लिए तैयार हो चुके हैं। इस समाचार को पाते ही मॉन्टगुमरी ने १३ मई को तुरन्त लगभग एक हज़ार हिन्दुस्तानी सिपाहियों को परेड पर जमा किया और गोरे सवार तोपखाने सहित उन सब सिपाहियों के चारों ओर खड़े कर दिये गये। इसके बाद सिपाहियों से हथियार रखने के लिये कहा गया। ऐसी दशा में जब सिपाहियों ने दूसरा कोई लाभकारी उपाय न देखा तब तुरन्त अपने-अपने हथियार रख दिये। उसके बाद वे सब चुपचाप अपनी बारगों में चले गये।

इस घटना के बाद ही गोरों की एक पलटन लाहौर के क़िले में भेजी गई। उसने भी वहाँ पहुँच कर वहाँ के तोपखाने की सहायता से क़िले के अन्दर रहने वाले देशी पलटनों के सिपाहियों से हथियार रखा लिये। इसके बाद उन सबों को क़िले से बाहर बारगों में भेज दिया और लाहौर के किले पर स्वयं अधिकार कर लिया। इसमें सन्देह नहीं कि दूरदर्शी मॉन्टगुमरी

के उचित समय के उचित साहस और उसके फुर्तीलापन ने पंजाब को कम्पनी के हाथों से निकल जाने से बचा लिया और समस्त विप्लव की भावी प्रगति पर उसका बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। सर जॉन लॉरेन्स एक स्थान पर लिखता है—"यदि पंजाब चला जाता तो हम अवश्य बर्बाद हो जाते उत्तरी प्रान्तों तक सहायता पहुँच सकने से बहुत पहले ही समस्त अंग्रेजों की हड्डियाँ धूप में पड़ी सूखती होतीं। इतना ही नहीं, इंग्लैन्ड भी कभी उस आपत्ति के कारण न तो पनप सकता था और न एशिया में फिर से अपनी सत्ता को ही स्थापित कर सकता था।"

उस समय फ़िरोज़पुर में कम्पनी का एक बहुत बड़ा मैगज़ीन था। १३ मई को यह देखने के लिये कि वहाँ के हिन्दुस्तानी सिपाहियों के मानसिक विचार किस प्रकार के हैं अंग्रेजों ने उन्हें परेड पर बुला कर इकट्ठा किया। सिपाहियों का व्यवहार इतना सुन्दर और प्रशंसनीय रहा कि अंग्रेज़ अफ़सरों का सन्देह उन पर से जाता रहा। किन्तु उसी दिन थोड़ा सा समय बीत जाने पर फिरोज़पुर के हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने विप्लव करना आरंभ कर दिया। उन सिपाहियों के विप्लव करते ही अंग्रेजों ने मैगज़ीन में आग लगा दी। फ़िरोजपुर नगर के निवासियों ने विप्लवकारियों का पूरा साथ दिया। अंग्रेजों के मकान जला डाले गये। जो अंग्रेज़ जिस-जिस स्थान पर मिला उसे उसी स्थान पर मार डाला। इसके बाद वहाँ की हिन्दुस्तानी सेना के समस्त सिपाही दिल्ली की ओर रवाना हो गये। गोरी पलटन ने कुछ दूर तक उन सबों का पीछा किया किन्तु अन्त में असफल होकर उसे फ़िरोज़पुर लौट आना पड़ा।

पेशावर के विषय में कहा जाता है कि वहाँ पर २४, २७

और ५१ नम्बर पैदल और सवार इन्हीं चार देशी पलटनों ने २२ मई सन् १८५७ को विप्लव करने का निश्चय कर रखा था। ये चारों पलटनें पेशावर के आस-पास अलग-अलग छावनियों में थीं। मियाँ मीर की छावनी का समाचार पाते ही पेशावर के अंग्रेज़ अफ़सरों ने झेलम के आस-पास गोरी सेना को और अपने विश्वास-पात्र भारतीय सिपाहियों की पलटनों को जमा किया। २२ मई को प्रातःकाल कुछ गोरी सेना और कुछ तोपें चारों स्थानों पर भेज दी गईं और पहले कही गई चारों पलटनों को सन्देह पर घेर कर उनसे हथियार रखा लिये गये।

हथियार रखा लेने के बाद इन सब हिन्दुस्तानी सिपाहियों को अपनी बारगों में रहने का आज्ञा दी गई। लिखा हुआ मिलता है कि २२ तारीख की रात को उनमें से कुछ सिपाहियों ने नगर की ओर जाना चाहा। चूँकि अंग्रेज अफ़सरों को यह डर था कहीं नगर में या आस-पास विप्लव न खड़ा हो जाय इसलिए उन सिपाहियों को नगर जाने से रोक दिया गया और तुरन्त उनमें से १३ या १४ को इसलिए फाँसी पर लटका दिया गया ताकि दूसरों को सबक़ मिले। इतना ही नहीं, बारगों के बाहर तोपें भी लगा दी गईं। फिर इन सिपाहियों में से किसी को भी बाहर निकलने का साहस न हो सका। फिर भी बाद में इसमें से अनेक को फाँसी दी गई और अनेक को तोप के मुँह से बाँध कर उड़ा दिया गया।

पेशावर के समीप होती मर्दान में ५५ नम्बर पैदल पलटन थी। इस पलटन के कर्नल स्पॉटिश वुड को पूरा विश्वास था कि मेरी पलटन विद्रोह न करेगी। पंजाब के दूसरे अंग्रेज अफ़सरों

ने आग्रह भी किया कि इस पलटन से भी हथियार रखा लिये जाँय। कर्नल ने इस आग्रह का घोर विरोध किया। पंजाब सरकार ने हथियार रखा लेने के पक्ष में फ़ैसला दिया। कहा जाता है कि इस फैसले पर कर्नल स्पॉटिश वुड ने अपने कमरे में जाकर आत्महत्या कर ली।

कर्नल स्पॉटिश वुड के न रहने पर पेशावर से गोरी सेना और तोपें होती मर्दान में रहने वाली पलटन से हथियार रखा लेने के लिए भेजी गई। इस समाचार को पाते ही ५५ नम्बर के कुछ सिपाहियों ने होती मर्दान के क़िले से निकल कर भागना चाहा किन्तु कम्पनी की गोरी सेना ने, जो उनसे संख्या में अधिक थी और जिसके पास भारी तोपें थीं, उन सबों को घेर लिया और १५० सिपाहियों को उसी स्थान पर मार डाला गया। फिर भी कुछ सिपाही भाग कर निकल ही गये। जो रह गये वे सब तुरन्त गिरफ़्तार कर लिये गये। उस समय के इतिहास की पुस्तकों को देखने से पता चलता है कि ५५ नम्बर पलटन के कैदियों के साथ अधिक भयंकर व्यवहार किया गया, और इसलिए कि उससे दूसरे सिपाहियों को भी शिक्षा मिल सके और वे विद्रोह करने का साहस न करें। प्रसिद्ध है कि उन सब सिपाहियों का कोर्ट मार्शल हुआ, उन्हें दंड दिया गया और उनमें से प्रति तीसरे सिपाही को तोप के मुँह से उड़ाने के लिये चुन लिया गया। एक अंग्रेज अफ़सर, जो इन लोगों के तोप से उड़ाये जाने के समय उपस्थित था, उस दृश्य का वर्णन करते हुए लिखता है—"उस दिन को परेड का दृश्य विचित्र था। परेड पर लगभग नौ हज़ार सिपाही थे। × × × एक चौरस मैदान के तीन ओर सेना खड़ी कर दी गई।

चौथी और दस तोपें थीं। × × × पहले दस कैदी तोपों के मुँह से बाँध दिये गये। इसके बाद तोपखाने के अफ़सर ने अपनी तलवार हिलाई, तुरन्त तोपों की गर्जना सुनाई दी और धुएँ के ऊपर हाथ, पैर और सिर चारों ओर हवा में उड़ते हुए दिखाई देने लगे। यह दृश्य चार बार दोहराया गया। हर बार समस्त सेना में से एक ज़ोर की गूँज सुनाई देती थी जो दृश्य की वीभत्सता के कारण लोगों के हृदयों से निकलती थी। उस समय से प्रति सप्ताह एक या दो बार उस तरह के प्राण-दंड की परेड होती रहती है और हमें उसकी इतनी आदत हो गई है कि अब हम पर उसका कोई असर नहीं होता। × × ×

इतिहास लेखक के लिखता है कि ५५ नम्बर पलटन के अधिकांश सिपाहियों की निर्दोषिता को कर्नल निकल्सन और सर जॉन लारेन्स दोनों ने अपने पत्रों में स्वीकार किया है। फिर भी इस पलटन के छिपे और भागे सिपाही जून और जुलाई के महीनों में बराबर दूर-दूर से पकड़ कर लाये जाते थे और इसी प्रकार तोप के मुँह से उड़ाये जाते थे। कभी-कभी और भी अधिक वीभत्स तरीक़ों से उनके प्राण लिये जाते थे।

उन दिनों विप्लव के संदेह पर लोगों का तोपों के मुँह से उड़ाया जाना एक साधारण-सी बात थी, जो अनेक स्थानों पर और अनेक बार दोहराई गई। १० नम्बर पलटन के हथियार संदेह पर ही रखा लिये गये। इन सब सवारों में घोड़े उनके अपने थे। इनके ये घोड़े इनसे छीन लिये गये और आठ हज़ार नक़द रुपये भी, इन सब सवारों के पास थे, बल-पूर्वक ले लिये गये। लिखा है कि घोड़ों को बेचकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के खजाने में पचास हजार रुपये जमा किये

गये। सिपाहियों को बल-पूर्वक नावों में बैठाकर सिन्धु नदी के प्रवाह में कहीं पर भेज दिया गया। कहा नहीं जा सकता कि उन सबों का अंत में क्या हुआ। एक अंग्रेज अफ़सर जो उस समय मौजूद था, लिखता है, "मुझे आशा है कि वहाँ पर उन में से प्रत्येक माता के पुत्र को नदी की तेज धार में डूबने का मौका मिल जायगा।"

पेशावर और उसके आस-पास के इलाके में विप्लवकारियों को अथवा विप्लव के संदेह पर लोगों को भयंकर यंत्रणाएँ दे देकर मारा गया, जिनके विषय में इतिहास लेखक के लिखता है—"यद्यपि मेरे पास बहुत से पत्र मौजूद हैं, जिनमें यह बयान किया गया है कि हमारे अफ़सरों ने किस प्रकार की वीभत्स और क्रूर यंत्रणाएँ लोगों को पहुँचाईं, तथापि मैं उनके विषय में एक भी शब्द नहीं लिखता, ताकि यह विषय ही अब संसार के सामने न रहे।"

अब हम पेशावर की घटनाओं का वर्णन बन्द करके जालन्धर दोआब की घटनाओं का वर्णन आरंभ करते हैं। जालन्धर, फ़िलौर और लुधियाने की देशी पलटनें चुपचाप किन्तु सच्ची लगन और दृढ़ता के साथ विप्लव करने की तैयारी कर रही थीं। ६ जून को अचानक जालन्धर की सेना ने आधी रात के समय विप्लव करने की घोषणा की। सेना जालन्धर में मौजूद थी किन्तु देशी पलटनें इस तरह अचानक बिगड़ी की अंग्रेजी सेना कर्त्तव्य-विमूढ़ हो गई। जालंधर के सिपाहियों ने वहाँ के अंग्रेजों का संहार करने में अपना समय नष्ट नहीं किया। वे तुरन्त दिल्ली की ओर रवाना हो गये।

फ़िलौर के सिपाहियों को सूचना देने के लिये जालंधर के सिपाहियों ने अपने में से एक सवार को भेज दिया। उसी समय फ़िलौर की देशी पलटनों के सिपाही भी बिगड़ खड़े हुए। इसके बाद जालंधर के सिपाही फ़िलौर पहुँच गये। दोनों जगहों की पलटनें एक दूसरे से गले मिलीं और फिर दिल्ली की ओर बढ़ीं। रास्ते में सतलज नदी पड़ती थी जिसके दूसरे तट पर लुधियाने का नगर था। लुधियाने के अंग्रेज़ अफ़सरों को जालंधर और फ़िलौर के विद्रोह का पता लगने से पूर्व ही वहाँ की देशी पलटनों के सिपाहियों को इसकी सूचना मिल गई। लुधियाने के अंग्रेज़ अफ़सरों ने सतलज के ऊपर का नावों का पुल तुरन्त तोड़ दिया।

इसके बाद अंग्रेज़ों और सिख पलटनें तथा महराजा नाभा की कुछ पलटनें सतलज नदी के तट पर फ़िलौर से आने वाली विप्लवकारी सेना को रोकने के लिये इकट्ठी दी गईं। विप्लव-कारियों को जब इसका पता चला तब उन्होंने रात्रि के समय चुपचाप चार मील ऊपर से सतलज को पार करने का विचार किया। किंतु जैसे ही उनमें से कुछ सिपाही सतलज के उस पार पहुँचे वैसे ही अंग्रेज़ों और सिखों ने उन पर बड़ी ही शीघ्रता के साथ तोपों के गोले बरसाने आरम्भ कर दिये। रात के करीब-करीब दस बजे थे अर्थात् अँधेरे पाख की अष्टमी के चाँद के निकलने में अभी दो घण्टे बाकी थे, इसलिये उस अंधकार में विप्लवकारी सिपाहियों को यह भी पता नहीं चलता था कि शत्रु की सेना किस ओर है। उनकी तोपें भी अभी नदी को पार न कर पाई थीं फिर भी उसी दशा में वे वीर सिपाही दो घण्टे तक अपने शत्रुओं का मुकाबिला करते रहे। इतने में किसी सिपाही की एक गोली अंग्रेज़ी सेना के कमाण्डर विलियम्स की छाती में

जाकर लग गई। गोली के लगते ही वह वहीं धरती पर गिरकर ढेर हो गया। इसके बाद प्रातःकाल तक घमासान संग्राम होता रहा। अंत में सिखों और अंग्रेजों को विवश होकर पीछे हट जाना पड़ा।

विजय लाभ करने के कारण विप्लवकारी सिपाहियों में हर्ष और उल्लास की बाढ़-सी आ गई। पूर्ण प्रसन्नता-पूर्वक दोपहर के समय उन सबों ने लुधियाने में प्रवेश किया। पंजाब में लुधियाने का नगर विप्लव का एक विशेष महत्वपूर्ण केन्द्र था। विप्लव-कारियों की दृष्टि इस पर विशेष रूप से लगी रहा करती थी। आस-पास का जितना इलाका था, वह सब लुधियाने के ही संकेतों पर चलने के समय की प्रतीक्षा कर रहा था। इसलिए जिस समय विप्लवकारी सिपाहियों ने लुधियाने के नगर में प्रवेश किया उस समय प्रसन्नता की चरम सीमा से जनता ने उन सबों का स्वागत किया और उन सबों के साथ विप्लव में भाग लेने लगे। परिणाम यह हुआ कि सारा दिन लुधियाने के नगर में विप्लव के कार्य होते रहे। जेलखाना तोड़ दिया गया, अंग्रेजों के जितने मकान थे, वे सब तुरंत जला दिये गये। विप्लवकारी सिपाहियों ने कम्पनी के सरकारी खजाने को अपने अधिकार में कर लिया। इसके बाद जालन्धर, फिलौर और लुधियाने की देशी पलटनों के समस्त सिपाही एक होकर गले मिले और फिर स्वाधीनता के युद्ध में भाग लेने के लिये विजय के गीत गाते हुये दिल्ली की ओर रवाना हो गये। सन् १८५७ के विप्लव में पंजाब की ओर से यही मुख्य सहायता कही जा सकती है।

पंजाब के शासकों को उस समय सबसे अधिक संदेह पूर्वी

प्रांतों के रहने वालों पर था, जिन्हें पंजाब में 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं। इसलिए विप्लव के आरम्भ के दिनों में पंजाब के अनेक शहरों और गाँवों से हजारों निरपराध और प्रतिष्ठित हिन्दुस्तानियों को बल-पूर्वक पंजाब से निर्वासित कर सतलज के इस पार भेज दिया गया : इसके पश्चात् पंजाब के अंग्रेजों के लिये अपने यहाँ की अंग्रेजी और सिख सेनाओं को दिल्ली विजय करने के लिये भेज देना और भी अधिक सरल हो गया।

विप्लव का प्रधान केन्द्र दिल्ली

अब हम पाठकों का ध्यान फिर से विप्लव के प्रधान केन्द्र दिल्ली की ओर ले जाना चाहते हैं। अभी हम अपने पाठकों को बताये हुए चले आ रहे हैं कि गवर्नर जनरल लॉर्ड कैनिंग ने दिल्ली के स्वाधीन हो जाने का समाचार पाते ही कमाण्डर-इन-चीफ़ जनरल ऐनसन को आज्ञा दी कि तुम तुरंत दिल्ली पर धावा बोलकर फिर से दिल्ली और दिल्ली के सम्राट बहादुरशाह को जीत लो। लॉर्ड कैनिंग की इस आज्ञा को शीरोधार्य कर जनरल ऐनसन शिमले से अम्बाले पहुँचा। अम्बाले पहुँच कर उसने दिल्ली पर हमला करने की पूरी तैयारी करनी आरंभ कर दी। निस्संदेह इस कार्य में जनरल ऐनसन को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और तैयारी के सभी कार्यों को समाप्त करने में आवश्यकता से अधिक समय लग गया।

इसका मुख्य कारण यह था कि अम्बाले और उसके आस-पास कोई भी हिन्दुस्तानी किसी तरह की सहायता अंग्रेजों को देने के लिए तैयार न था। उस समय ऐनसन को न गाड़ियाँ मिलती थीं और न मज़दूर, न रसद मिलती थी और न चारा। इतिहास लेखक के लिखता है— "हर श्रेणी के हिन्दुस्तानी हमसे दूर रहे। ये लोग चुपचाप बैठे हुए इस बात की प्रतीक्षा कर रहे थे कि परिस्थिति किस ओर को मुड़ती है। पूँजीपतियों से लेकर कुलियों तक सभी एक समान हमें सहायता देने में संकोच करते

थे क्योंकि उन्हें सन्देह था कि शायद हमारी सत्ता एक दिन के अंदर उखड़कर फिंक जाय।

ऐनसन के सामने दूसरी कठिनाई एक और थी। अम्बाले और दिल्ली के बीच में पंजाब की तीन प्रसिद्ध रियासतें पटियाला, नाभा और झीन्द के इलाके पड़ते थे। यदि उस समय ये तीनों प्रमुख रियासतें देश का साथ दे जातीं तो इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता कि कम्पनी के अंग्रेजों के लिए फिर से दिल्ली विजय कर सकना सर्वथा असंभव होता और भारत माता की धरती से अंग्रेजी राज्य की जड़ें उस समय वास्तव में एक ही झटके से उखाड़कर फेंक दी गई होतीं।

यदि पटियाला, नाभा और झिन्द तटस्थ भी रहते तो भी परिमाण अंग्रेजी राज्य के लिए कदाचित् इतना ही अनिष्टकारी होता। किन्तु जनरल ऐनसन और अंग्रेजी राज्य दोनों के ही सौभाग्य से इन तीनों प्रमुख रियासतों ने उस समय हिन्दुस्तानी विप्लवकारियों के विरुद्ध अंग्रेजों को धन, जन और सामान तीनों ही अंगों से पूर्ण रूप से सहायता दी। इतना ही नहीं, सर जॉन लारेन्स और उसके साथियों की नीतिज्ञता के कारण ऐनसेन को अपने साथ के लिए पंजाब से आशा से भी अधिक अंग्रेजी सेना मिल गई।

जनरल ऐनसन के लिए अब अम्बाले से दिल्ली का रास्ता साफ हो गया और दिल्ली के विप्लवाकरियों को पंजाब से और अधिक सहायता प्राप्त कर सकना प्रत्येक दृष्टिकोण से असंभव हो गया। पटियाला के राजा ने अपनी सेना और उसके साथ अपना तोपखाना भेजकर थानेश्वर की रक्षा की। झीन्द के राजा

ने पानीपत की रक्षा का भार अपने कन्धों पर ले लिया। इन सब तैयारियों के बाद कमान्डर-इन-चीफ़ जनरल ऐनसन अपनी अंग्रेज़ो और सिख सेना के साथ (जिसमें बहुत सी सेना इन्हीं तीन रियासतों की थी) २५ मई को अम्बाले से दिल्ली की ओर रवाना हुआ।

इस प्रकार पूर्ण रूप से शक्ति सम्पन्न हो जाने पर भी जनरल ऐनसन का हृदय इस भयानक परिस्थिति में भीतर ही भीतर घबरा रहा था। मार्ग में २७ मई को हैज़े से कर्नाल में उसकी मृत्यु हो गई। सर हेनरी बर्नार्ड उसकी जगह कमान्डर-इन-चीफ़ बनाया गया।

अम्बाले से दिल्ली की यात्रा में अंग्रेजों ने जो जो न कहने योग्य अत्याचार किये, वे किसी भी अंश में जनरल नील के अत्याचारों से कम अमानुषिक न थे। रास्ते में असंख्य लोगों को जो पंजाब से दिल्ली की ओर जा रहे थे इस सन्देह में कि वे दिल्ली के विप्लवकारियों की सहायता के लिए जा रहे हैं, पकड़-पकड़कर मार डाला गया। उस समय की संकटपूर्ण परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए यह स्वीकार किया जा सकता है कि इस प्रकार रास्ते पर चलनेवालों को मार डालना किसी अंश तक संदिग्ध राजनैतिक सम्बन्धों के कारण क्षम्य है किन्तु एक अंग्रेज अफ़सर जो उस विजय की यात्रा में सेना के साथ था, लिखता है कि अम्बाले से दिल्ली तक रास्ते की जनता के ऊपर अंग्रेजी सत्ता का दबदबा फिर से स्थापित करने के लिए असंख्य ग्रामों में असंख्य निरपराध ग्राम-निवासी अत्यन्त कठोर यातनाएँ दे देकर मार डाले गये। उनके सरों से एक एक कर बाल उखाड़े जाते थे, उनके शरीरों को संगीनों से बींधा जाता था और सबसे अन्त में, नहीं,

नहीं, मृत्यु से पहले, भालों और नुकीली संगीनों के द्वारा इन सब हिन्दुस्तानी ग्राम-निवासियों के मुँह में गाय का मांस ठूँस दिया जाता था।

एक ओर उन्हें ये यातनाएँ दी जाती थीं और दूसरी ओर उनकी आँखों के सामने फाँसियाँ तैयार की जाती थीं। फाँसियाँ तैयार हो जाने के बाद उन्हें इस अधमरी अवस्था में उन फाँसियों पर लटका दिया जाता था। यद्यपि यह सभी जानते थे कि इनमें से अधिकांश ग्राम-निवासियों ने कभी भी अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध हथियार नहीं उठाये थे फिर भी इन निरपराध ग्राम-निवासियों को दंड देने से पहले दिखावे के लिए एक फ़ौजी अदालत बैठाई जाती थी। जो फ़ौजी अफ़सर उस अदालत के जज बनाये जाते थे उनसे पहले ही इस बात की कि वे एक भी कैदी को फाँसी से न बचने देंगे, शपथ ले ली जाती थी। इसके बाद ग्राम-निवासियों को दूर तक क़तार में खड़ा कराया जाता था और फिर उन्हें बात की बात में मौत की सज़ा का फ़ैसला सुना दिया जाता था।

मेरठ की सेना, जो १० मई सन् १८५७ को कर्तव्य-विमूढ़ हो गई थी, अब जनरल बर्नार्ड की सेना के साथ मिल जाने के के लिए मेरठ से बढ़ी। इन दोनों में मेल होने से पहले ही दिल्ली की विप्लवकारी सेना ने आगे बढ़कर हिन्दन नदी के तट पर ३० मई को मेरठ की अंग्रेजी सेना पर धावा बोल दिया। जब संग्राम होने लगा तब विप्लवकारी सेना की बाईं ओर का भाग थोड़ा-सा कमजोर पड़ गया। उस ओर उनकी पाँच तोपें थीं और अंग्रेजी सेना ने उन तोपों पर अपना अधिकार करना चाहा। विप्लवकारी सेना उस ओर से पहले ही हट चुकी थी, केवल एक सिपाही तोपों के बीच में किसी प्रकार छिपा हुआ रह

गया था। ठीक उसी समय जब कि कई अंग्रेज अफ़सर और सिपाही तोपों पर अधिकार करने के लिए पहुँचे, इस भारतीय सिपाही ने चुपके से मैगज़ीन में आग लगा दी। उस भारतीय सिपाही के साथ-साथ कई अंग्रेज वहीं जलकर राख के ढेर बन गए।

इतिहास-लेखक के इस अज्ञात सिपाही की सूझ और उसकी वीरता की प्रसंशा करते हुए लिखता है—"इससे हमें यह शिक्षा मिली कि विप्लवकारियों में इस प्रकार के वीर और साहसी लोग मौजूद थे, जो राष्ट्रीय हित के लिये उसी समय प्राण देने को तैयार थे।"

उस दिन दिल्ली की विप्लवकारी सेना पीछे लौट गई। दूसरे दिन ३१ मई को वह मेरठ की अंग्रेजी सेना का सामना करने के लिये फिर दिल्ली नगर से निकली। सामना होते ही दोनों ओर से गोलेबारी होने लगी। लिखा हुआ मिलता है कि उस दिन अंग्रेज़ी सेना के बहुत से सिपाही मारे गये। संध्या के समय दिल्ली की विप्लवकारी सेना अंग्रेज़ी सेना को एक बार तितर-बितर करके फिर दिल्ली की ओर सकुशल लौट गई।

इस संग्राम के दूसरे दिन अर्थात् १ जून को मेजर रीड के अधीन एक गोरखा पलटन मेरठ की अंग्रेज़ी सेना की सहायता के लिये रणभूमि के मौके पर पहुँच गई। अम्बाले से जनरल बर्नार्ड के अधीन अंग्रेज़ और सिख सेना भी ७ जून को इस सेना से आकर मिल गई। दिल्ली नगर को व्यूह बना कर घेर लेने के लिये बहुत-सा सामान महाराजा नाभा की ओर से इन लोगों के पास पहुँच गया। इसके बाद यह विशाल सेना संयुक्त हो कर दिल्ली के निकट अलीपुर तक पहुँच गई। दिल्ली की

विप्लवकारी सेना फिर एक बार इस विशाल अंग्रेजी सेना का सामना करने के लिये निकली।

बुन्देले की सराय के समीप ८ जून सन् १८५७ को सवेरे से संध्या तक भयंकर संग्राम हुआ। विप्लवकारी सेना का सेनापति उस समय सम्राट बहादुरशाह का एक पुत्र मिर्जा मुग़ल था, जीवन में जिसने शायद कभी भी लड़ाई का मैदान न देखा था। दूसरी ओर एक से एक बढ़कर योग्य सेनापति; उस पर सिख और गोरखा सिपाहियों की सहायता। संध्या समय तक दिल्ली की विप्लवकारी सेना को फिर नगर के अन्दर लौट जाना पड़ा। उनकी कई तोपें शत्रु के हाथ आ गईं और कम्पनी की सेना दिल्ली की दीवार के नीचे तक निर्विघ्न पहुँच गई।

उस समय दिल्ली नगर के अन्दर एक विचित्र प्रकार का उत्साह था। भिन्न-भिन्न प्रांतों से सिपाहियों का समूह और खजाना आकर दिल्ली में जमा हो रहा था। दूर-दूर से सम्राट बहादुरशाह के नाम वफ़ादारी के पत्र आ रहे थे। नगर के अंदर बारूद बनाने और अस्त्र-शस्त्र ढालने के लिए अनेक कार-खाने खुल गये थे, जिनमें अनेक तोपें रोजाना ढलती थीं और हजारों मन बारूद तैयार होती थी। सम्राट बहादुरशाह का एक सेवक जहीर अपनी पुस्तक 'दास्ताने ग़दर' में लिखता है कि अकेले चूड़ी वालों के मुहल्ले के एक कारखाने में सात सौ मन बारूद रोजाना तैयार होती थी। सम्राट बहादुरशाह प्रायः हाथी पर सवार होकर नगर में निकला करता था और जनता तथा सिपाहियों को प्रोत्साहित करता रहता था। ऐलान किया जा चुका था जो मनुष्य गो-हत्या के अपराध का भागी होगा उसके

हाथ कलम करवा लिये जायेंगे या उसे गोली से उड़ा दिया जायगा।

वास्तव में गो-हत्या के विषय में इस प्रकार की आज्ञा सम्राट बाबर के समय से चली आती थी। धर्मान्ध या अदूरदर्शी सम्राट औरंगजेब तक ने इस हितकर आज्ञा पर अमल क़ायम रखा था किंतु कम्पनी का राज्य स्थापित होने के समय से ही गोरी सेना के आहार के लिए दिल्ली और उसके आसपास के इलाके में फिर से गो-हत्या शुरू हो गई थी। मथुरा और दोआब में जो भयंकर असंतोष उत्पन्न हो गया था, उसका कम्पनी के द्वारा गो-हत्या का होना ही बताया जाता है। कुछ भी हो अंग्रेजों द्वारा गो-हत्या होने के कारण ही सम्राट बहादुरशाह को वास्तविक सत्ता हाथ में लेते ही फिर एक बार उस तीन सौ वर्ष की पुरानी आज्ञा को दोहराना पड़ा। विप्लव के प्रारम्भ में अर्थात् दिल्ली के स्वाधीन होते ही सम्राट बहादुरशाह की ओर से एक घोषणा समस्त भारत में प्रकाशित की गई थी जिसके कुछ वाक्य इस आशय के थे—

"ऐ हिन्दुस्तान के फ़रज़न्दों! अगर हम इरादा कर लें तो बात की बात में दुश्मन का खातमा कर सकते हैं! हम दुश्मन का नाश कर डालेंगे और अपने धर्म अपने, देश को जो हमें जान से भी ज्यादा प्यारे हैं खतरे से बचा लेंगे।"

इस घोषणा के कुछ ही दिनों बाद सम्राट बहादुरशाह की ओर से एक दूसरी घोषणा प्रकाशित हुई जिसकी प्रतियाँ समस्त भारत के अन्दर यहाँ तक कि दक्षिण के बाजारों और छावनियों में भी हाथों हाथ बँटती हुई पाई गईं। इस घोषणा में लिखा हुआ था—

"तमाम हिन्दुओं और मुसलमानों के नाम—हम महज़ अपना धर्म समझ कर ही जनता के साथ शामिल हुए हैं। इस मौके पर जो कोई कायरता दिखलायेगा या भोलेपन के कारण दग़ाबाज़ फ़िरंगियों के वादों पर एतबार करेगा, वह शीघ्र शर्मिन्दा होगा और इंगलिस्तान के साथ अपनी वफ़ादारी का उसे वैसा ही इनाम मिलेगा जैसे लखनऊ के नवाबों को मिला। इसके अलावा इस बात की ज़रूरत है कि इस जंग में तमाम हिन्दू और मुसलमान मिलकर काम करें और किसी समझदार नेता की हिदायतों पर चलकर इस तरह का व्यवहार करें कि जिससे अमनो अमन क़ायम रहे और ग़रीब लोग सन्तुष्ट रहें और उनका अपना रुतबा और उनकी शान बढ़े। जहाँ तक मुमकिन हो सकता है, सबको चाहिये कि इस एलान की नक़ल करके किसी आम जगह पर लगा दें × × ×"

इसके बाद एक और तीसरी घोषणा सम्राट बहादुरशाह की ओर से बरेली में प्रकाशित हुई। उसमें लिखा था—"हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और मुसलमानों, उठो! भाइयों उठो! खुदा ने जितनी बरकतें इन्सान को अता की हैं उनमें सबसे क़िमती बरकत आज़ादी है। क्या वह ज़ालीम नाकस जिसने धोखा दे-देकर यह बरकत हमसे छीन ली है, हमेशा के लिए हमें उससे महरूम रख सकेगा? क्या खुदा की मरज़ी के खिलाफ़ इस तरह का काम हमेशा जारी रह सकता है? नहीं नहीं! फ़िरंगियों ने इतने जुल्म किये हैं कि उनके गुनाहों का प्याला लबरेज हो चुका है। यहाँ तक कि अब हमारे पाक मजहब को नाश करने की नापाक ख्वाहिश भी उनमें पैदा हो गई है। क्या तुम अब भी ख़ामोश बैठे रहोगे? खुदा अब यह नहीं चाहता कि तुम खामोश

रहो, क्योंकि उसने हिन्दू और मुसलमानों के दिलों में अंग्रेजों को अपने मुल्क से बाहर निकालने की ख्वाहिश पैदा कर दी है और खुदा के फ़जल और तुम लोगों की बहादुरी के प्रताप से जल्दी ही अंग्रेजों को इतनी कामिल शिकस्त मिलेगी कि हमारे मुल्क हिन्दुस्तान में उनका ज़रा भी निशान न रह जायगा। हमारी इस फ़ौज में छोटे और बड़े की तमीज़ भुला दी जायगी और सबके साथ बराबरी का बर्ताव किया जायगा; क्योंकि इस पाक जंग में अपने धर्म की रक्षा के लिए जितने लोग तलवार खींचेंगे वे सब एक समान यश के भागी होंगे। वे सब भाई भाई हैं, उनमें छोटे बड़े का कोई भेद नहीं। इसलिए मैं फिर तमाम हिन्दू भाइयों से कहता हूँ, उठो और ईश्वर के बताए हुए इस परम कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए मैदान जंग में कूद पड़ो।"

कहा जाता है कि सम्राट बहादुरशाह के असली ऐलान उर्दू में था और यहाँ के इतिहास लेखकों को उन सब की उर्दू प्रतिलिपि नहीं मिल सकी। सन् १८५७ के स्वाधीनता के इस युद्ध के सम्बन्ध के इसी प्रकार के सब पत्रों और ऐलानों को अंग्रेजों के ही अनुवादों अथवा प्रतिलिपियों से हिन्दी के लेखकों को अनुवाद करना पड़ा है। कुछ भी हो इस स्थल पर हम पाठकों से इतना ही निवेदन करेंगे कि वे सब मूल घटना पर ही विशेष ध्यान दें क्योंकि हम उस समय का वर्णन करते चले आ रहे हैं जिस समय दिल्ली का नगर पूर्ण रूप से विप्लवकारियों के अधिकार में था।

बुन्देले की सराय की लड़ाई के बाद ही कम्पनी की सेना ने दिल्ली से पश्चिम में 'पहाड़ी' पर अधिकार कर लिया। यह ऐसा

स्थान था जहाँ से बड़ी सुगमता के साथ दिल्ली पर आक्रमण किया जा सकता था फिर भी काफी समय तक कम्पनी के अंग्रेज अफ़सर परस्पर आक्रमण करने का परामर्श ही करते रहे क्योंकि विप्लवकारियों से वे इतना भयभीत हो चुके थे कि सहसा दिल्ली पर आक्रमण करने का साहस अंग्रेज सेनापतियों को न हो सका। इतने ही समय में दिल्ली की विप्लवकारी सेना ने बाहर निकल कर अंग्रेजी सेना पर बार बार आक्रमण करना आरम्भ कर दिया।

सबसे पहले १२ जून को दिल्ली की विप्लवकारी सेना ने अंग्रेजों पर आक्रमण किया। इतिहास लेखक के लिखता है कि उस दिन के युद्ध में कम्पनी का एक वह हिन्दुस्तानी सिपाहियों की टोली जिसकी वफादारी पर अंग्रेज को पूर्णरूप से विश्वास था विप्लव-कारियों की सेना से जा मिली। अंग्रेजी सेना को काफी नुक़सान पहुँचाने के बाद दिल्ली की विप्लवकारी सेना फिर से नगर के अन्दर लौट गई।

इस युद्ध के बाद अंग्रेजी सेना को दिल्ली में प्रवेश करने का साहस न हो सका। वह जिस स्थान पर थी वहीं बनी रही और इधर विप्लवकारी सेना ने प्रायः प्रतिदिन प्रातःकाल शहर से निकलकर अंग्रेजी सेना पर आक्रमण करने लगी था और संध्या समय तक अंग्रेजी सेना को काफी नुकसान पहुँचा कर फिर नगर में वापस चली जाती थी। उन्हीं दिनों दिल्ली में एक नियम यह भी था कि जो नई पलटन बाहर से दिल्ली में आती थी, वह अपने आने के अगले दिन सबेरे तक एक बार अंग्रेजी सेना पर अवश्य चढ़ाई करती थी। इन चढ़ाइयों में १७, २० और

२३ जून की चढ़ाइयाँ और लड़ाइयाँ अधिक भयंकर थीं। जिस बहादुरी के साथ विप्लवकारी सेनाओं ने इन लड़ाइयों में अंग्रेज़ों, सिखों और गोरखों की सम्मिलित सेनाओं पर आक्रमण किया, उन्हें बार-बार अपने स्थानों से हटा दिया और उनके अनेक अफ़सरों और सैनिकों को समाप्त कर दिया,। उस बहादुरी की लॉर्ड रॉबर्ट्स और अन्य अंग्रेज़ अफ़सरों ने अपनी रिपोर्टों में मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। कमाण्डर-इन-चीफ़ बर्नार्ड ने अब निश्चय कर लिया कि जब तक और अधिक सेना सहायता के लिए पंजाब से न आये, तब तक दिल्ली पर आक्रमण करना और सफलता के साथ विजय प्राप्त कर सकना सर्वथा असंभव है।

२३ जून प्लासी की शताब्दी का दिवस था। उस दिन के आक्रमण के लिए दिल्ली में विशेष रूप से तैयारियाँ हो रही थीं। ज्यों ही प्रातःकाल हुआ त्यों ही शहरपनाह की तोपों ने अंग्रेज़ी सेना के ऊपर गोले बरसाने आरंभ कर दिये। विप्लवकारी सेना शहर से बाहर निकली और सम्मिलित अंग्रेज़ी सेना पर भयानक रूप से टूट पड़ी। अत्यंत घमासान युद्ध हुआ। उस दिन के घोर युद्ध के विषय में मेजर रीड लिखता है—

"लगभग बारह बजे विप्लवकारियों ने हमारी समस्त सेना के ऊपर एक अत्यंत भयानक आक्रमण किया। कोई भी मनुष्य उतना अच्छा नहीं लड़ सकता था जितना अच्छा कि विप्लवकारियों का प्रत्येक सैनिक लड़ता था। उन्होंने हमारी समस्त पलटनों पर बार-बार आक्रमण किया और एक बार मुझे ऐसा मालूम होता था कि हम मैदान खो बैठे।"

इस प्रकार की भावना को लेकर जिस समय अंग्रेज़ हिम्मत हारने वाले थे ठीक उसी समय उनके सौभाग्य से उनका संकट

दूर करनेवाली एक और नई सेना पंजाब से उनकी सहायता के लिए आ पहुँची। अब विप्लवकारियों के लिए कार्य कुछ भी सरल न रहा, फिर भी संध्या समय तक वे सब युद्ध के मैदान में डटे रहे। अन्त में दोनों ओर की सेनाएँ थककर युद्ध के मैदान से पीछे हट गईं। इसमें सन्देह नहीं कि टक्कर बराबर का था इसीलिए दोनों ओर की सेनाओं के दिलों में एक दूसरे को वीरता के लिए स्वाभाविक ढङ्ग से आदर उत्पन्न हो गया।

यदि सिखों ने अंग्रेजों का साथ न दिया होता और नयी पंजाबी सेना समय पर अंग्रेजों की सहायता के लिए न पहुँची होती, तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता कि २३ जून सन् १८५७ को दिल्ली की युद्ध-भूमि में कम्पनी की सेना का सर्वनाश हो गया होता; और फिर भारत में अंग्रेजों का अपनी सत्ता स्थापित कर सकना एक प्रकार असंभव ही था।

सन् १८५७ की २ जुलाई को मुहम्मद बख्त ख़ाँ के अधीन रुहेलखंड की सेना ने दिल्ली नगर में प्रवेश किया। सम्राट बहादुरशाह और नगर-निवासियों की ओर से इस नवागत सेना का विशेष रूप से स्वागत किया गया। मुहम्मद बख्त ख़ाँ ने पहुँचते ही सम्राट बहादुरशाह से भेंट की। इतने ही समय के बीच दिल्ली में जगह-जगह की सेनाओं के आने के कारण प्रबन्ध की कुछ शिथिलता-सी दिखाई देने लगी थी और सेना-पति मिर्ज़ा मुग़ल में सुशासन स्थापित करने की योग्यता भी नहीं दिखाई देती थी। अनेक प्रकार की शिकायतें सम्राट बहादुरशाह के कानों तक पहुँचीं। बूढ़े सम्राट ने अपने पुत्र मिर्ज़ा मुग़ल को हटाकर उसके स्थान पर मुहम्मद बख्त ख़ाँ को दिल्ली को

समस्त सेनाओं का प्रधान सेनापति और दिल्ली का गवर्नर नियुक्त किया। मुहम्मद बख्त खाँ वास्तव में अत्यंत योग्य और वीर था। उसने सम्राट बहादुरशाह से कहा कि यदि इसके बाद कोई शाहज़ादा भी नगर के अन्दर शासन प्रबन्ध में बाधा डालेगा या प्रजा के साथ किसी भी प्रकार का अन्याय अथवा अनुचित व्यवहार करेगा, तो मैं तुरंत उसके नाक-कान कटवा डालूँगा। सम्राट बहादुरशाह ने यह सब तुरन्त स्वीकार कर लिया।

मुहम्मद बख्त खाँ की नियुक्ति की घोषणा समस्त दिल्ली नगर में करा दी गई। मुहम्मद बख्त खाँ के साथ लगभग चौदह हज़ार पैदल, दो या तीन सवार पलटन और अनेक तोपें थीं। वह अपनी सेना को छः महीने का वेतन पेशगी दे चुका था। इसके अतिरिक्त उसने चार लाख रुपये नकद लाकर सम्राट को भेंट में दिये थे। मुहम्मद बख्त खाँ ने दिल्ली नगर में सुशासन स्थापित किया और आज्ञा दे दी कि कोई नगर-निवासी बिना हथियार के न रहे। जिन लोगों के पास हथियार न थे, उन लोगों को बिना मूल्य हथियार दिये गये। इसके बाद यदि कोई सिपाही पूरी कीमत दिये किसी से कोई वस्तु लेता था तो सिपाही का एक हाथ काट दिया जाता था।

मुहम्मद बख्त खाँ की नियुक्ति के दिन ही रात रो ८ बजे महल के अन्दर सम्राट बहादुरशाह, बेगम ज़ीनत महल, सेनापति मुहम्मद बख्त खाँ तथा अन्य प्रधान-प्रधान नेताओं में सलाह हुई। ३ जुलाई को एक आम परेड हुई, जिसमें लगभग बीस हज़ार सैनिक मौजूद थे। इतने ही समय में नये-नये अंग्रेज अफ़सर और अनुभवी सेनापति पंजाब से और अधिक

बहादुरशाह की गिरफ्तारी

सेनाएँ ला-लाकर अंग्रेजी सेना में सम्मिलित होते गये। फिर भी प्रधान सेनापति जनरल बर्नार्ड को दिल्ली की सेना पर आक्रमण करने का साहस न हो सका। ४ जुलाई को मुहम्मद बख्त खाँ ने अपनी सेना सहित अंग्रेजी सेना पर हमला किया।

कम्पनी की सेना को दिल्ली की दीवारों के नीचे पड़े हुए एक महीने से ऊपर हो चुका था। अनेक अंग्रेज अफ़सरों के बयानों से साबित है कि अंग्रेजों को विश्वास था कि दिल्ली पहुँचने के थोड़े घण्टे बाद ही हम दिल्ली पर विजय प्राप्त कर लेंगे। किन्तु अब वह विश्वास नैराश्य में बदला हुआ सा दिखाई दे रहा था। इस नैराश्य में ही ५ जुलाई सन् १८५७ को जनरल बर्नार्ड भी हैज़े से मर गया। जनरल रीड ने उसका स्थान लिया। इस प्रकार विप्लव के आरम्भ होने से अब तक कम्पनी के दो प्रधान सेनापति (कमाण्डर-इन-चीफ़) मर चुके थे। जनरल रीड तीसरा सेनापति था किन्तु अभी तक अंग्रेज दिल्ली को नहीं जीत सके थे। और दिल्ली की विप्लवकारी सेना अंग्रेजी सेना पर बराबर आक्रमण करती रही।

९ जुलाई को मुहम्मद बख्त खाँ के अधीन दिल्ली की विप्लवकारी सेना ने इतना भयानक आक्रमण किया कि अंग्रेजी सेना के सवारों को उनके सामने से भाग जाना पड़ा और अंग्रेजी तोपों के मुँह तुरन्त बन्द हो गये। इतना ही नहीं, उस दिन के भयानक संग्राम में अनेक अंग्रेज अफ़सर मारे भी गये। इतिहास लेखक के लिखता है कि उस दिन की हार पर अंग्रेज सिपाही इतने लज्जित और कुपित हुए कि उन्होंने अपने कैम्प में जाकर अपने निरपराध ग़रीब भिश्तियों और अनेक काले नौकरों को मार डाला। अपने इन हिन्दुस्तानी नौकरों

की वफादारी और उनकी सेवाओं का उन सबों ने कुछ भी ख्याल नहीं किया, क्योंकि "इन गोरे सिपाहियों के हृदयों में समस्त काले एशिया निवासियों के प्रति प्रचंड घृणा भड़क रही थी।"

१४ जुलाई के आक्रमण में अंग्रेजों की इससे भी अधिक बुरी हालत हुई। उस आक्रमण की भयानकता और उसके कारण परिस्थिति का बिगड़ जाना, साथ ही साथ सर्वापेक्षा अधिक दुर्दशा होना, इन सब बातों से जनरल रीड के भी हृदय में धड़कन होने लगी और वह शीघ्र ही बीमार पड़ गया। परिणाम यह हुआ कि अपने पद से इस्तीफ़ा देकर वह १५ जुलाई को स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए पहाड़ पर चला गया। उसके स्थान पर जनरल विलसन नियुक्त किया गया। अंग्रेज़ी सेना का यह चौथा प्रधान सेनापति अर्थात् कमाण्डर-इन-चीफ़ था।

दिल्ली की मीनारों के ऊपर स्वाधीनता की पताका को लहराते हुए दो महीने हो चुके थे। भारत भर में अनेक अंग्रेज़ यह कहने लगे थे कि "जो सेना दिल्ली को घेरने के लिए नित्य प्रयत्न किया करती है, आश्चर्य की बात यही है कि वह स्वतः दिन-प्रतिदिन अपने शत्रुओं द्वारा घिरती चली आ रही है।

इस स्थल पर ध्यान देने योग्य बात इतनी ही है कि अंग्रेज़ी सेना केवल दिल्ली की पश्चिमी दीवार के नीचे थी, शेष तीनों ओर से विप्लवकारियों के सहायक और शुभ-चिन्तकों के लिए आने-जाने का मार्ग नित्य के समान खुला हुआ था। उस समय अंग्रेज़ी सेना में बहुत से आदमी बड़ी गंभीरता के साथ यह विचार

कर रहे थे कि दिल्ली-विजय करने का विचार छोड़ कर थोड़े से समय के लिए किसी दूसरी ओर ध्यान दिया जाय। सत्य बात तो यह थी कि अंग्रेज़ी सेना के समस्त सैनिक हिम्मत हार चुके थे। मुहम्मद बख्तखाँ ऐसे दक्ष सेनापति के अधीन जितनी भी विप्लवकारी सेना थी वह सब तरह से समर्थ थी। उसके भयानक आक्रमणों से अंग्रेज़ी सेना का जो अब तक पूर्ण रूप से ह्रास नहीं हो सका था, वह सब उन लोगों के लिए सौभाग्य की बात थी। इधर सम्राट बहादुरशाह अपने प्रधान सेनापति मुहम्मद बख्त खाँ से इतना प्रसन्न था कि उसके किसी भी प्रबंध में टीका-टिप्पणी करना भी उसे प्रिय न था। सम्राट से उत्साहित और सम्मानित मुहम्मद बख्त खाँ पूर्ण स्वतंत्रता के साथ अपने कार्यों को सफल बनाने का प्रयत्न कर रहा था, इसीलिए अंग्रेजी सेना अपनी सफलता की आशा छोड़ चुकी थी।

——

इलाहाबाद और कानपुर की घटनाएँ

कुछ देर के लिए उचित होगा कि हम अपना ध्यान दिल्ली की ओर से हटा लें और अन्य विप्लव के केन्द्रों की ओर दृष्टिपात कर यह समझने का प्रयत्न करें कि उस समय उन सब केन्द्रों में क्या हो रहा था। इस स्थल पर यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि जिस तरह सिखों ने अंग्रेजी-सेना को पूर्ण रूप से सहायता पहुँचाकर भारतीय स्वधीनता के प्रयत्नों को बहुत बड़ी हानि पहुँचाई थी उसी तरह अनेक राजपूत तथा मराठा नरेशों ने भी अपनी अनिश्चितता द्वारा हनि पहुँचाई।

जिन दिनों भारत भर में अंग्रेजों को भगा देने के लिए प्रयत्न किये जा रहे थे, उन्हीं दिनों जयाजीराव सींधिया ग्वालियर की गद्दी पर था। उसकी समस्त भारतीय सेना जो अत्यंत सन्नद्ध थी, राष्ट्रीय योजना में भाग ले रही थी। १४ जून को ग्वालियर की सेना ने कम्पनी के विरुद्ध विप्लव का झंडा खड़ा कर दिया। उन सबों ने ग्वालियर में रहने वाले अंग्रेजों के मकान जला दिये और अंग्रेज अफ़सरों तथा नगर के अन्य अंग्रेजों को मार डाला किन्तु इतना सब करने पर भी उन सबों ने किसी अंग्रेज स्त्री अथवा बच्चे को छुआ तक नहीं। इन सब को उन्होंने केवल गिरफ़तार कर लिया। कुछ अंग्रेज आगरे की ओर भाग निकले। ग्वालियर की समस्त रियासत से कम्पनी का प्रभाव और प्रभुत्व दोनों ही समूल नष्ट कर दिये गये।

फिर भी महाराज सींधिया अपनी अनिश्चितता के कारण संकोच में पड़ा रहा। निस्संदेह महाराज सींधिया उस समय कम्पनी के साथ मित्रता निबाहने के स्थान पर यदि खुलकर विप्लवकारियों का साथ दे बैठता और अपनी विशाल सेना के साथ (जो इस समय नेता न होने के कारण निकम्मी थी) दिल्ली पर चढ़ाई कर देता तो दिल्ली के भीतर की विप्लवकारी सेना और बाहर से सींधिया की सेना इन दोनों के बीच में पिसकर कम्पनी की सेना वहीं समाप्त हो गई होती और और विप्लवकारियों के पक्ष को भारत भर में अनंत बल प्राप्त हो जाता।

क़रीब क़रीब ग्वालियर के ही समान स्थिति इन्दौर के महराजा होलकर की भी थी। १ जुलाई को सआदत ख़ाँ के अधीन इन्दौर की सेना ने इन्दौर की रेज़िडेन्सी पर हमला किया। वहाँ पर जितने अंग्रेज़ थे, उन सबों को प्राणों की भिक्षा दे दी गई। वे तुरंत इन्दौर छोड़ कर भाग गये किंतु आश्चर्य की बात तो यह है कि अंग्रेज इतिहास लेखक भी इस बात का निश्चय नहीं कर पाते कि महाराजा होलकर की सहानु-भूति वास्तव में अंग्रेजों के साथ थी या विप्लवकारियों के साथ। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस तरह के अवसरों पर जब कि भारतीय नरेश अंत तक अपना निश्चय न कर सके, रियासतों की सेनाओं और कम्पनी की हिन्दुस्तानी सेनाओं ने हर जगह देश का साथ दिया। ठीक ऐसी ही स्थिति कच्छ और राजपूताने की रियासतों की भी थी। इतिहास लेखक मॉलेसन लिखता है कि जयपुर और जोधपुर के राजाओं ने अपनी

सेनाओं को आदेश दिया कि जाकर अंग्रेजों की सहायता करो, किन्तु सिपाहियों और उनके अफ़सरों ने तुरंत उस आदेश को मानने से इन्कार कर दिया ।

भरतपुर और अन्य कई रियासतों की भी ठीक यही हालत थी। ५ जुलाई को विप्लवकारी सेना ने आगरे पर आक्रमण किया। उस समय आगरे में थोड़ी-सी गोरी सेना मौजूद थी। भरतपुर के राजा ने अंग्रेज़ों की सहायता करने के लिए अपनी सेना से कहा। कुछ समय तक तक तो भरतपुर की सेना मौन रही किंतु जब राजा ने उन सबों को भेजना निश्चय कर लिया तब भरतपुर की सेना ने जाने से साफ़ इन्कार कर दिया और कहा, "हम अपने देश-वासियों के विरुद्ध न लड़ेंगे।"

जनरल पालवेल की गोरी सेना और विप्लवकारियों में एक भयानक संग्राम हुआ, जिसमें दिन भर की लड़ाई के बाद गोरी सेना को हार कर पीछे हट जाना पड़ा। ३ जुलाई को आगरे के नगर के ऊपर हरा झंडा फहराने लगा। उसी दिन वहाँ का शहर कोतवाल, समस्त पुलिस और हिन्दू-मुसलमानों ने मिल कर हरे झंडे का एक बहुत बड़ा जुलूस निकाला और ऐलान कर दिया कि आज से आगरे के ऊपर अंग्रेज़ी राज्य के स्थान पर दिल्ली के सम्राट का आधिपत्य फिर से स्थापित हो गया। किंतु इन भारतीय नरेशों की उस समय की अनिश्चितता ने विप्लव को अधिक नुक़शान पहुँचाया, इस में कुछ भी संदेह नहीं है। इन नरेशों से अधिक समझदार उनके सैनिक ही कहे जा सकते हैं।

यहाँ तक देशी नरेशों के सम्बन्ध में अपने पाठकों को बतला चुकने के बाद अब हम फिर कानपुर और इलाहाबाद

की ओर आते हैं। इलाहाबाद के शहर और क़िले पर अंग्रेज़ों का अधिकार फिर से हो चुका था। उत्तरी भारत में विप्लव को दमन करने की दृष्टि से इलाहाबाद अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान था। इसलिए लार्ड कैनिंग अब कलकत्ते से इलाहाबाद आ गया और जब तक विप्लव को शान्त नहीं किया जा सका तब तक इलाहाबाद को ही अपनी राजधानी बनाये रखना निश्चय कर लिया।

इधर कानपुर में अंग्रेज़ों की जो दशा हुई थी उसका समाचार जिस समय इलाहाबाद पहुँचा और जब यह भी विदित हुआ कि कानपुर में अंग्रेज़ों की मुसीबतों का वर्णन कर सकना साधारण-सी बात नहीं है अर्थात वहाँ के अंग्रेज़ों पर परमात्मा के कोप से मुसीबतों का पहाड़ ही टूट पड़ा है, उस समय इलाहाबाद की रक्षा के लिए थोड़-सी सेना रखकर शेष सेना को मेजर रिनॉड के अधीन कानपुर के अंग्रेज़ों की सहायता के लिए जनरल नील ने भेज दी। जनरल नील की स्थापित की हुई मर्यादा के अनुसार दोनों ओर के ग्रामों में आग लगाती हुई यह सेना कानपुर की ओर बढ़ी।

जून के अन्त में हैवलॉक नाम का एक दूसरा जनरल इलाहाबाद में आ पहुँचा। इतने ही समय के अन्दर कानपुर में अंग्रेज़ों की पराजय और सतीचौरा घाट के हत्याकाण्ड का समाचार भी इलाहाबाद में आ गया। जनरल हैवलॉक भी अब अंग्रेज और सिख सेना तथा तोपखाने के साथ कानपुर की ओर तुरंत बढ़ा। आगे चलकर हैवलाक और रिनॉड की सेनाएँ एक साथ हो गईं। इसके बाद रास्ते के गाँवों को गाँवों में रहने वालों के

साथ जलाने का काम पहले के ही समान होता रहा। कम्पनी की सेना की इस अत्याचारी यात्रा के विषय में सर चार्ल्स डिल्क नामक एक इतिहास लेखक इस प्रकार लिखता है—

"सन् १८५७ में जो पत्र इंग्लैण्ड पहुँचे उनमें एक ऊँचे दर्जे का अफ़सर, जो कानपुर की ओर बढ़ने वाली अंग्रेजी सेना के साथ था; लिखता है कि, 'मैंने आज की तारीख में बहुत से शिकार मारे और विप्लवकारियों को उड़ा दिया।' यह स्मरण रखना चाहिए कि जिन लोगों को इस तरह फाँसी दी गई या तोप से उड़ाया गया वे हथियार-बन्द विप्लवकारी न थे। बल्कि गाँवों के रहनेवाले थे और जिन्हें केवल 'सन्देह पर' पकड़ लिया जाता था। इस यात्रा में गाँव के गाँव इस निर्दयता के साथ जला डाले गए और इस निर्दयता के साथ निरपराध ग्राम-निवासियों का संहार किया गया कि जिसे देखकर एक बार मुहम्मद तुग़लक़ भी लज्जित हो जाता।"

अंग्रेजी सेना को कानपुर की ओर बढ़ने का समाचार पाकर नाना साहब ने ज्वालाप्रसाद और टीकासिंह के अधीन कुछ सेना कम्पनी की सेना का सामना करने के लिए तुरन्त भेज दिया। १२ जुलाई को फतहपुरके निकट दोनों सेनाओं में एक संग्राम हुआ जिसमें कानपुर की विप्लवकारी सेना को हार कर पीछे हट जाना पड़ा। इसके बाद अंग्रेजों ने फतहपुर के नगर में बड़ी प्रसन्नता के साथ प्रवेश किया।

इसके कुछ समय पहले फतहपुर का नगर अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर चुका था। वहाँ पर भी थोड़े-से अंग्रेज अफसर मारे जा चुके थे किन्तु विप्लवकारियों ने वहाँ के मैजिस्ट्रेट शेरर

को प्राणों की भिक्षा दे दी थी और फतहपुर से सकुशल चले जाने के लिए उसे आज्ञा भी दे दी थी। वही शेरर इस समय हैवलाक की सेना के साथ था। हैवलाक और शेरर ने इस अवसर पर नगर-निवासियों से पूरा बदला लिया। सब से पहले कम्पनी के सिपाहियों को नगर लूटने की आज्ञा दी गई। उसके बाद लिखा हुआ मिलता है कि अंग्रेज सेनापति की आज्ञा से फतहपुर नगर और नगर-निवासियों को उसी के अन्दर जला कर राख का ढेर बना दिया गया।

इस रोमांचकारी अत्याचार का समाचार नाना साहब के कानों तक पहुँच गया। कानपुर के नेताओं और नगर-निवासियों का क्रोध चरम सीमा तक पहुँच गया। नाना साहब ने स्वयं सेना लेकर आगे बढ़ने का निश्चय किया। इसी समय अंग्रेजों के कई जासूस गिरफ्तार होकर नाना साहब के सामने पेश किए गए। इन जासूसों से विदित हुआ कि बीबीगढ़ की कोठी में जो अंग्रेज स्त्रियाँ नजरबन्द थीं, उनमें से कई नाना साहब के के विरुद्ध इलाहाबाद के अंग्रेजों के साथ गुप्त पत्र-व्यवहार कर रही थीं।

इस घटना के दूसरे ही दिन एक ऐसी भयानक घटना हुई जो विप्लवकारियों के नाम पर एक अमिट कलंक बन कर ही रहेगी। कहा जाता है कि कानपुर के १२५ अंग्रेज कैदी स्त्रियाँ और बच्चे कत्ल कर डाले गए और दूसरे दिन सबेरा होते ही उनकी लाशों को एक कुएँ में डाल दिया गया। कानपुर की इस हृदय-विदारक घटना के सम्बन्ध में अंग्रेज इतिहास लेखक अनेक प्रकार की टीका-टिप्पणियाँ कर चुके हैं। केवल एक इसी घटना

के आधार पर नाना साहब को निर्दय, हत्यारा साबित करने का घोर प्रयत्न किया गया है। इस प्रसंग के सिलसिले में हमें यह कहना ही पड़ता है कि जिस समय हम इतिहास की उन पुस्तकों में, विशेषकर स्कूलों और कालेजों की इन पाठ्य पुस्तकों में जनरल नील, जनरल हैवलाक, जनरल ऐनसन, जनरल बर्नार्ड इत्यादि के भारती-प्रजा पर घोर अमानुषिक अत्याचारों का कोई उल्लेख नहीं पाते और कानपुर की इस बीभत्स हत्या और कानपुर में कुएँ का उल्लेख अवश्य पाते हैं, उस समय हमें अत्याधिक कष्ट होता है। इस सम्बन्ध में केवल दो बातें कह देना भी हम अपने कर्त्तव्य की दृष्टि से आवश्यक समझ रहे हैं।

पहली बात तो यह है कि जिन अंग्रेजी पुस्तकों में इन सब घटनाओं का वर्णन किया गया है उनमें प्रायः इन सब घटनाओं के साथ कई और भी अधिक भयानक और अमानुषिक बातों को जोड़ दिया गया है। उदाहरण के लि ए यह कि अंग्रेज स्त्रियों और बच्चों की हत्या करने के लिए शहर के कसाई बुलाये गये थे। हत्या करने से पूर्व इन लोगों को निर्दयता के साथ धीरे-धीरे अंग-भंग किया गया और स्त्रियों की हत्या करने से पहले उनकी बेइज्जती की गई; इत्यादि। इन सब रोमांचकारी बातों के सम्बन्ध में हम केवल विप्लव के सब से अधिक प्रामाणिक इतिहास लेखक सर जॉन के कुछ वाक्यों को पाठकों के सामने पेश कर देना उचित समझते हैं। इतिहास लेखक सर जान के एक स्थल पर इस प्रकार लिखता है—

"उस समय के कई इतिहासों में बयान किया गया है कि भीषण हत्याकांड के साथ कई तरह की परिष्कृत क्रूरताएँ और

अकथनीय लज्जा-जनक बातें की गई थीं। वास्तव में ये क्रूरताएँ और उस प्रकार की लज्जाजनक बातें कुछ लोगों ने क्रोध के आवेश में आकर केवल अपनी कल्पना-शक्ति से गढ़ ली थीं। अन्य लोगों ने बिना जाँच किये उन पर सहज ही में विश्वास कर लिया और बिना सोचे-समझे उनका प्रचार करना आरंभ कर दिया। × × × जून और जुलाई के हत्या-काण्डों के विषय में सरकारी कमीशन के मेम्बरों ने प्रत्येक बात को अत्यंत परिश्रम के साथ जाँच की, और उन्होंने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में यह विचार प्रकट किया है कि किसी को भी अंग-भंग नहीं किया गया और न किसी की इज्ज़त ली गई।"

एक दूसरा विद्वान अंग्रेज़ लन्दन के 'टाइम्स' पत्र का सम्वाददाता सर विलियम रसल, जो विप्लव के समय भारत में मौजूद था, कानपुर के हत्या-काण्ड के सम्बन्ध में लिखता है—"अनेक ज़ालसाज़ों और अत्यंत नीच बदमाशों ने लगातार कोशिश करके इस मामले के साथ अनेक भीषण घटनाएँ जोड़ दीं। ये कल्पित घटनाएँ केवल इस आशा से गढ़ी गई थीं कि उनसे अंग्रेज़ों के दिलों में क्रोध और बदला लेने की प्रचण्ड इच्छा भड़क उठे। मानों केवल घृणा इस क्रोध और बदला लेने की इच्छा को भड़काने के लिए क़ाफ़ी न थी।"

दूसरी बात यह है की एक सज्जन, जिन्हें ऐतिहासिक घटनाओं की खोज और जाँच का शौक़ है, प्रयाग नगर के स्वनामधन्य पंडित सुन्दरलाल जी से कहते थे कि उन्होंने कानपुर के क़साइयों के मुहल्ले में जाकर पूछ-ताछ की तो वहाँ के बूढ़े लोगों से मालूम हुआ कि बीबीगढ़ की हत्या के लिए कम से कम क़साइयों का बुलाया जाना बिलकुल झूठ है।

कलकत्ते के ब्लैकहोल के सर्वथा झूठे क़िस्से का वर्णन इतिहास की असंख्य पुस्तकों में पाया जाता है और कलकत्ते में ब्लैकहोल की जगह बनी हुई है। इससे पता चलता है कि कानपुर में 'कुएँ' का होना विशेष रूप से यह साबित नहीं करता कि यह घटना सर्वथा सच्ची है। इंग्लैड की पार्लिमेण्ट का एक सदस्य लेयॉर्ड इस तरह की अनेक घटनाओं की जाँच करने के लिए स्वयं उन्हीं दिनों में भारत आया। अपनी जाँच के बाद लेयॉर्ड लिखता है —

"निहायत ग़ौर के साथ जाँच-पड़ताल के बाद अच्छे से अच्छे और सबसे अधिक विश्वसनीय ज़रियों से जो सूचनाएँ मुझे मिली हैं; उनसे मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि जो अनेक भयंकर अत्याचार कहा जाता है कि देहली, कानपुर झाँसी तथा अन्य स्थानों पर अंग्रेज स्त्रियों और बच्चों पर किये गये, वे प्रायः एक एक कर सब के सब कल्पित हैं, जिनके गढ़नेवालों को लज्ज आनी चाहिए।"

अन्य निष्पक्ष अंग्रेजों के इससे भी अधिक जोरदार वाक्य इस कथन के समर्थन में उद्धृत किये जा सकते हैं। इसीसे प्रमाणित है कि बीबीगढ़ के हत्या-काण्ड की सच्चाई पर विश्वास नहीं किया जा सकता। साथ ही अभी तक यह मान लेना भी कठिन हो रहा है कि इस बीबीगढ़ के हत्या-काण्ड के क़िस्से की जड़ में सच्चाई क्या और कितने अंश तक थी। इस विषय में अभी बहुत अधिक निष्पक्ष खोज की आवश्यकता है। यदि समय ने साथ दिया तो यह कार्य भी निकट भविष्य में पूरा हो जायगा।

यदि कानपुर में १२५ अंग्रेज़ स्त्रियों और बच्चों को निरपराध मार डाला गया तो हम यह भी जानते हैं कि जनरल नील ने अपने ही बयान के अनुसार कम से कम हज़ारों भारतीय स्त्रियों और बच्चों को जीवित ही जला दिया। किंतु एक अत्याचार दूसरे अत्याचार को किसी भी दशा में उचित नहीं बना सकता। यदि बीबीगढ़ के हत्या-काण्ड में कुछ भी सच्चाई है और यदि यह घटना किसी अंश तक सच्ची भी है और जिस अंश तक भी यह सच्चा है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि विप्लवकारियों के नाम पर यही एक बहुत बड़ा कलंक है।

इस समय इस प्रसंग से सम्बन्ध रखनेवाला एक प्रश्न यह भी उठता है कि यदि बीबीगढ़ की हत्या का क़िस्सा सच है तब उस दशा में भी उसके लिए नाना साहब को कहाँ तक उत्तरदायी ठहराया जा सकता है? सर जॉर्ज फ़ॉरेस्ट लिखता है—

"गवाहियों से यह साबित होता है कि जो सिपाही इन कैदियों के ऊपर पहरा दे रहे थे, उन्होंने उनकी हत्या करने से इंकार कर दिया। यह गन्दा जुल्म एक वेश्या के उकसाने पर नाना को गारद के पाँच बदमाशों ने किया! इस क्रूर हत्या के लिए सारी कौम को अपराधी ठहराना अनुदार भी है और असत्य भी।"

इतिहास लेखक सर जॉर्ज कैम्पबेल लिखता है—"कानपुर की हत्या और कुएँ के ऊपर भयंकर दृश्य के पाप को कम करने वाली कोई बात कहना कठिन है, फिर भी हमें दो बातें याद रखनी चाहिए। पहली यह कि हत्या किसी ने पहले से तय

करके नहीं की, बल्कि जिस समय हैवलॉक विप्लवकारियों को पीट कर चला आ रहा था उस समय क्षणिक क्रोध और निराशा के वश यह कार्य किया गया। दूसरी बात यह कि हमारी सेना के लोगों ने कानपुर की ओर बढ़ते समय जो जो अत्याचार किये उनके द्वारा हमने स्वयं लोगों को इस प्रकार के कार्य करने के लिए काफ़ी उत्तेजित कर दिया था। कुछ समय बाद इस हत्याकाण्ड के सम्बन्ध की परिस्थिति का बड़ी सावधानी के साथ जाँच पड़ताल की गई, और हमें कोई बात ऐसी नहीं मिली जिससे मालूम हो कि किसी ने पहले से इस हत्या का इरादा कर रखा हो या किसी ने हत्या के लिए किसी को आज्ञा दी हो × × ×।"

इससे मालूम होता है कि कानपुर में अंग्रेज स्त्रियों और बच्चों की हत्या के क़िस्से में यदि कुछ सच्चाई भी है तो वह हैवलॉक के अत्याचारों से दुखित कुछ विप्लवकारियों के क्षणिक क्रोध का परिणम था, 'किसी ने उसके लिए किसी को आज्ञा न दी थी और नाना साहब को उसके लिए उत्तरदायी ठहराना उचित नहीं है।

१० जुलाई को जनरल हैवलॉक अपनी विशाल सेना के साथ कानपुर के निकट पहुँच गया। नाना साहब ने स्वयं सेना लेकर हैवलॉक का सामना किया। दोनों ओर की तोपों ने गोले बरसाने आरंभ कर दिये किन्तु अन्त में नाना साहब की सेना को हार कर पीछे हट जाना पड़ा। नाना साहब ने फिर एक बार अपने सिपाहियों को प्रोत्साहित करके आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। एक अंग्रेज इतिहास लेखक लिखता है कि फिर एक बार घमासान युद्ध हुआ किन्तु अन्त में फिर हैवलॉक की विशाल

सेना के सामने नाना की सेना को हार कर विठूर की ओर चला जाना पड़ा। १७ जुलाई को हैवलॉक की विजयी सेना ने कानपुर के प्रसिद्ध नगर में पूर्ण उल्लास के साथ प्रवेश किया और इसी घटना से अंग्रेजी राज्य के इतिहास में हैवलॉक का नाम अमर हो गया।

कानपुर नगर में प्रवेश करने के बाद जनरल हैवलॉक ने जो कुछ किया उस सम्बन्ध में चार्ल्स बॉल लिखता है—"जनरल हैवलॉक ने सर ह्यू व्हीलर की मृत्यु के लिए भयंकर बदला चुकाना आरंभ कर दिया। हिन्दुस्तानियों के गिरोह फाँसी पर चढ़ गये। मृत्यु के समय कुछ विप्लवकारियों ने जिस प्रकार चित्त की शांति और अपने व्यवहार में ओज का परिचय दिया वह उन लोगों के सर्वथा योग्य था जो कि किसी सिद्धान्त के नाम पर शहीद होते हैं।"

विप्लवकारियों में से जिन लोगों को फाँसी दी गई थी उनमें से एक व्यक्ति का उदाहरण देते हुए चार्ल्स बाल लिखता है कि वह बिना तनिक सी भी घबराहट के ठीक इस प्रकार फाँसी के तख्ते पर चढ़ गया जिस प्रकर एक योगी अपनी समाधि में प्रवेश करता है।

कानपुर में प्रवेश करते ही समस्त अंग्रेज़ी सेना और सिख सेना के सिपाहियों को सबसे पहले नगर के लूटने की आज्ञा दी गई। उसके बाद फाँसियों का कार्य बड़ी तत्परता के साथ किया जाने लगा। लिखा है कि बीबीगढ़ में ज़मीन के ऊपर खून का एक बड़ा धब्बा था। सन्देह होता था की यह खून अंग्रेज़ स्त्रियों और बच्चों का है। कानपुर नगर के अनेक प्रतिष्ठित वंश

के ब्राह्मणों को लाकर विशेषतया जिन पर सन्देह था कि उन्होंने विप्लव में भाग लिया है, उन सबों को उस खून को जीभ से चाटने और फिर झाड़ू से धोकर साफ़ करने की आज्ञा दी गई इसके बाद उन सबों को फाँसी के तख़्तों पर तुरंत चढ़ा दिया गया। उस समय के एक अंग्रेज़ अफ़सर ने इस अनोखे दंड का कारण इस तरह बयान किया है—

"मैं जानता हूँ कि फ़िरंगियों के ख़ून को छूने और फिर उसे मेहतर की झाड़ू से साफ़ करने से एक उच्च जाति का हिंदू धर्म से पतित हो जाता है। केवल इतना ही नहीं बल्कि चूँकि मैं यह जानता हूँ इसीलिए मैं उनसे ऐसा कराता हूँ। जब तक हम उन्हें फाँसी देने से पहले उनके समस्त धार्मिक भावों को पैरों तले न कुचलेंगे तब तक हम पूरा बदला नहीं ले सकते, ताकि उन्हें यह संतोष न हो सके कि हम हिन्दू धर्म पर कायम रहते हुए मरें।"

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि सत्तीचौरा घाट पर जिन अंग्रेजों की हत्या की गई थी उन्हें कम से कम मरने से पहले इंजील का पाठ करने की इजाजत दी गई थी और विजयी होने पर भी अंग्रेजों ने हिन्दुओं पर ऐसे अत्याचार किये। एक तो ग़लत इतिहास स्कूल और कालेज में पढ़ा-पढ़ा कर वास्तविक ज्ञान से दूर रखा गया और यदि किसी ने किसी भी प्रकार वास्तविक इतिहास को तैयार करके प्रकाशित भी कराया तो वह जनता के सामने आने तक न पाया।

कुछ भी हो, इस सम्बन्ध में और अधिक न कहकर हम अपने मुख्य विषय पर आते हैं। कानपुर में हैवलाक के प्रवेश करने के थोड़े दिनों बाद कुछ और सेना लेकर जनरल नील कानपुर

पहुँचा। उसके पहुँचने पर हैवलॉक दो हजार अंग्रेजी सेना और दस तोपों के साथ २५ जुलाई को कानपुर से लखनऊ की ओर बढ़ा और जनरल नील कानपुर की रक्षा के लिए कानपुर में ही रह गया। इधर नाना साहब भी अंग्रेजी सेना से पराजित हो जाने के कारण बिठूर छोड़कर अपने खजाने और कुछ सेना के साथ गङ्गा पार कर फतहगढ़ की ओर चला गया। अब हम कुछ देर के लिए नाना साहब और हैवलाक को यहीं छोड़ कर राजधानी दिल्ली की ओर फिर चल कर वहाँ की घटनाओं का वर्णन करेंगे।

पंजाब की एक घटना

इसमें संदेह नहीं कि हमें राजधानी दिल्ली की ओर फिर चलना है किन्तु इस समय उचित यह भी समझ रहे हैं कि दिल्ली को बीच में ही छोड़कर एक बार पंजाब को भी फिर देख लें क्योंकि वहाँ भी एक छोटी सी घटना ऐसी हो चुकी है जिसका कि वर्णन कर देना हम आवश्यक समझ रहे हैं। उस घटना के वर्णन से पाठकों को यह भी विदित हो जायगा कि जिस समय अंग्रेजी सेना दिल्ली में विजय-लाभ करने का स्वप्न देख रही थी उसी समय पंजाबियों को भयभीत करने और उन पर अपनी धाक जमाये रखने के लिए पंजाब के अंग्रेज शासकों ने किस-किस प्रकार के उपाय तैयार किये थे।

मई के महीने में लाहौर के अन्दर चार देशी पलटनों से हथियार रखाये जा चुके थे और इन लोगों पर सिखों और गोरों का कड़ा पहरा था तथा इनमें से किसी को भी छावनी से बाहर जाने की इजाजत न थी। ३० जुलाई की रात को इनमें से २६ नम्बर पलटन के अधिकांश सिपाही छावनी से निकल पड़े। इन सिपाहियों के पास न तो हथियार थे और न इनमें से किसी ने किसी प्रकार के विद्रोह में हाथ बँटाया था। वे केवल इतना ही चाहते थे कि दूसरे दिन रावी नदी को पार करके निकल जाँय। उन सबों को रोकने के लिए सब तरह से प्रयत्न किया गया परन्तु वे रावी के किनारे-किनारे अमृतसर की ओर बढ़े।

सर राबर्ट माण्टगुमरी ने अपने सिपाहियों को आज्ञा दी कि उन सबों का पीछा किया जाय। अमृतसर का डिप्टी कमिश्नर फ्रेडरिक कूपर माण्टगुमरी का खास आदमी था। उसे भी सूचना भेज दी गई। इधर २६ नम्बर पलटन के ये हिन्दुस्तानी सिपाही थके हुए, भूखे और निहत्थे अमृतसर की एक तहसील अजनाले से ६ मील दूर रावी के तट पर पड़े हुए थे। अजनाला अमृतसर से १६ मील दूरी पर है। इसके बाद अजनाले में जो अमानुषिक घटना हुई उसे फ्रेडरिक कूपर ने अपनी पुस्तक "दी क्राइसस इन दी पंजाब" में बड़े अभिमान के साथ वर्णन किया है। इस घटना को हम ठीक कूपर के ही वर्णन के अनुसार और उसी के भावार्थक शब्दों में वर्णन कर देना चाहते हैं। यहाँ यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि हमारा वर्णन जहाँ तक संभव है, संक्षिप्त ही होगा।

३१ जुलाई को दोपहर के समय कूपर को विदित हुआ कि २६ नम्बर के निहत्थे सिपाही अपनी छावनी से चलकर रावी के किनारे-किनारे बढ़ रहे हैं। ऐसा विदित होते ही अजनाले के तहसीलदार को कुछ हथियारबन्द सिख सिपाहियों के साथ उन्हें घेरने के लिए भेज दिया गया। लगभग ४ बजे संध्या को कूपर स्वयं ८० या ९० सवारों के साथ निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच गया। उसके पहुँचते ही उन थके हुए और भूखे सिपाहियों पर गोलियाँ चलाई गई। उन सिपाहियों की संख्या लगभग पाँच सौ के थी। इनमें से लगभग डेढ़ सौ गोलियों से घायल होकर पीछे की ओर मुड़े और रावी में डूब गये। कूपर लिखता है कि भूख और थकावट के कारण वे सब इतने शक्तिहीन थे कि रावी नदी की धार में क्षण भर भी न ठहर

सके। रावी नदी का जल उनके रक्त से लाल हो गया। शेष सिपाहियों ने पानी से निकल कर कुछ भागते हुए और पानी में ही तैरते हुए नदी के चढ़ाव की ओर एक मील की दूरी पर एक टापू में आश्रय लिया। दो नावें उस स्थान पर मौजूद थीं। हथियारबंद तीस सवार इन नावों में बैठ कर उन्हें गिरफ़्तार करने के लिए भेजे गये। लगभग साठ बन्दूकों के मुँह उन लोगों की ओर कर दिये गये। दूर से बन्दूकों को देखकर आपत्ति से घिरे हुए उन सिपाहियों ने हाथ जोड़ कर अपनी निर्दोषिता प्रकट की और प्राण-दान चाहा। इसी समय उनमें से पचास के क़रीब नैराश्य के कारण पानी में कूद पड़े और फिर दिखाई न दिये।

शेष सिपाहियों को तुरन्त गिरफ़्तार कर लिया गया और थोड़े-थोड़े करके नावों में बैठ कर किनारे तक पहुँचा दिया गया। किनारे पर उन सबों के पहुँचते ही उनके गलों में जो मालाएँ आदि थीं वे सब तुरन्त काट कर फेंक दी गईं; उन सिपाहियों को अलग-अलग गिरोहों में अच्छी तरह बाँध दिया गया और सिख सवारों की देख-रेख में धीरे-धीरे अजनाले पहुँचा दिया गया। उस समय बड़े जोरों की वर्षा हो रही थी।

गिरफ़्तार होनेवाले सिपाहियों की संख्या लगभग २८२ थी जिनमें कई अफ़सर भी थे। लगभग आधीरात के समय पानी में भीगते हुए वे सब अजनाले के थाने पर पहुँच गये। इन सब को फाँसी देने के लिए रस्सियां और गोली से उड़ाने के लिए पचास हथियारबंद सिख सिपाहियों का प्रबन्ध अजनाले के थाने में कूपर ने पहले से ही कर रखा था। किन्तु वर्षा हो रही थी इसलिए यह सब कार्य दूसरे दिन के लिए स्थगित

कर दिया गया। गिरफ़्तार किये जाने वाले सिपाहियों की संख्या इतनी अधिक थी कि वे पुलिस के मकान में नहीं आ सकते थे। समीप ही तहसील की नई इमारत बनकर तैयार थी। क़ैदी सिपाहियों में से अधिकांश को प्रातःकाल तक के लिए पुलिस के थाने में बन्द कर दिया गया और ६६ क़ैदी सिपाहियों को तहसील की नई इमारत के एक छोटे से गुम्बद में बन्दकर दिया गया। कहा जाता है कि यह छोटा सा गुम्बद बहुत ही तंग था। उतने आदमी उसमें आ ही न सकते थे उस पर भी उसके दरवाजे चारो ओर से बंद कर दिये गये थे।

दूसरे दिन पहली अगस्त को बक़रीद थी। प्रातःकाल होते ही उन सब भाग्य-हीनों को दस-दस करके बाहर लाया गया। कूपर थाने के सामने बैठा हुआ था। दस सिख सिपाही एक एक ओर बंदूकें लिए खड़े रहते थे। शेष चालीस सिख सिपाही सहायता के लिए उनके आस-पास रहते थे। जब वे कैदी सिपाही दस-दस की टोली में सामने आते तब उन्हें गोली से उड़ा दिया जाता था।

उनमें से अधिकांश सिपाही हिन्दू थे। लिखा है कि मरते समय उनमें से कुछ ने सिखों को गंगाजी की दुहाई देकर लानत मलामत की। जब थाने के कैदी समाप्त हो गये तब गुम्बद के कैदियों को बाहर निकाला गया किन्तु अभी तो केवल २३७ ही सिपाही गोली से उड़ाये गये थे, अर्थात् गुम्बद में से केवल २१ सिपाही बाहर निकाले गये थे कि कूपर को सूचना दी गई कि शेष कैदी गुम्बद से बाहर निकलने से इन्कार कर करते हैं। इस मौके पर कूपर स्वयं लिखता है कि पहले उन सबों को दुरुस्त करने का प्रबन्ध किया गया। फिर भीतर

जाकर देखा गया तो ४५ सिपाहियों की लाशें पड़ी हुई मिलीं। यह हो सकता है कि उनमें से कुछ अभी तक सिसकियाँ भी लेते रहे हों। इस स्थल पर कूपर के ये शब्द हैं—"अनजाने ही हॉलवेल के ब्लैकहोल का हत्या-काण्ड फिर से दुहराया गया।"

यहाँ पर यह दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि हालवेल के ब्लैकहोल का क़िस्सा सरासर झूठा था किंतु कूपर का अजनाला ब्लैकहोल तो एक सच्ची ही घटना थी! रात को वे बेचारे क़ैदी सिपाही पानी और हवा के लिए चिल्लाये होंगे किंतु कूपर लिखता है कि बाहर के शोर के कारण उनकी आवाज़ें सुनाई न दीं।

४५ लाशें उन लोगों की जो थकावट, गर्मी और हवा की कमी के कारण भीतर घुट कर मर गये, बाहर घसीट कर डाल दी गईं। किंतु एक कठिनाई अभी शेष थी। उन २८२ लाशों को दफन करने का प्रश्न। अजनाले के थाने से लगभग सौ गज़ के अन्दर एक गहरा पुराना कुआँ था। ये सब लाशें मेहतरों से घिसटवा-घिसटवा कर उस कुएँ में डलवा दी गईं फिर उस कुएँ को मिट्टी से भर दिया गया और उसके ऊपर मिट्टी का एक इतना ऊँचा ढेर लगा दिया गया कि एक टीला सा बन गया।

इस कुएँ के विषय में फ्रेडरिक कूपर बड़े अभिमान के साथ लिखता है—"एक कुआँ कानपुर में है, किंतु एक कुआँ अजनाले में भी है।"

इस प्रकार २६ नम्बर पलटन के लगभग पाँच सौ सैनिकों को २४ घंटे के अंदर परलोक पहुँचा दिया गया। उस पलटन के जो शेष थोड़े से सिपाही लाहौर से अथवा रावी के किनारे से इधर-उधर भाग निकले थे, उन सब को दो-चार दिन के अन्दर

गिरफ़्तार कर लिया गया और उनमें से कुछ सैनिकों को लाहौर में और कुछ सैनिकों को अमृतसर में तोप के मुँह से उड़ा दिया गया।

दूसरे दिन चीफ़ कमिश्नर सर जॉन लारेन्स और जुडीशल कमिश्नर राबर्ट माण्टगुमरी ने समस्त घटना का समाचार पाकर कूपर को अत्यंत प्रशंसा के पत्र लिखे, जो कूपर की पुस्तक में छपे हुए हैं। हिन्दू तहसीलदार और सिख घातकों को बड़ी-बड़ी रकमें इनाम में दी गईं।

यदि फ्रेडरिक कूपर ने अपनी पुस्तक के अन्दर अजनाले की भीषण और वीभत्स घटना का वर्णन न किया होता तो प्रत्येक मनुष्य के लिए उस घटना पर विश्वास कर सकना बड़ा ही कठिन हो जाता। किंतु यह ध्यान में रखना चाहिये जो अभी तक अजनाले की उस घटना का जो वर्णन किया गया है वह सब कूपर के ही शब्दों को अपनी भाषा में समझ लेना चाहिये।

वह कुआँ जिसके अंदर २८२ सिपाहियों की लाशें फेंकी गई थीं, अभी तक मौजूद है। उसके ऊपर मिट्टी एक ऊँचा टीला अब भी है। अजनाले में इसे अभी तक 'काल्याँदा-खूह' कहते हैं। पुलिस का थाना भी जिसके सामने सिपाहियों को मारा गया था और तहसील की वह इमारत, जिसके एक गुम्बद में ४५ सिपाही घुट कर मर गये, अभी तक मौजूद है। इस गुम्बद को अभी तक वहाँ के लोग 'काल्याँदा बुर्ज' कहते हैं। अजनाले के कुछ लोगों का कहना है कि उस समय के तहसीलदार का नाम प्राणनाथ था और उसका काम प्राण लेना था। इतना ही नहीं

जो लोग कुएँ के अन्दर एक दूसरे के ऊपर डाले जाते थे, उनमें से कुछ जीवित भी थे और वे चिल्ला भी रहे थे, किन्तु उन बेचारों पर राक्षसों ने कुछ भी दया न की। वास्तव में अजनाले की यह घटना बड़ी ही शोकजनक है। यहीं से हम इसका वर्णन बन्द कर रहे हैं और अब अपने लक्ष्य अर्थात् राजधानी दिल्ली की ओर बिना किसी रोक-टोक के तुरन्त चलते हैं।

दिल्ली का शेष वृत्तान्त

राजधानी दिल्ली के अन्दर अब विप्लवकारी समुदाय के लिए मुख्य कार्य इतना ही था कि वे बार-बार नगर से निकल कर कभी दाहिनी ओर से और कभी बाईं ओर से अंग्रेजों की सेना पर आक्रमण करते थे और उस प्रकार आक्रमण करके अंग्रेजों की सेना को विशेष रूप से हानि पहुँचा देते थे किन्तु इतना सब करने पर भी अन्त में वे सब पीछे को ही हटते जाते थे और अंग्रेजों की सेना उनका पीछा किया करती थी। उन सबों का पीछा करते-करते जब अंग्रेजी सेना शहर-पनाह की दीवारों के ठीक नीचे आ जाती थी तब दीवारों के ऊपर की तोपें उन पर ऐसे भयानक ढंग से गोले बरसाती थीं कि अंग्रेजी सेना के सैनिक दीवार के नीचे चनों के समान भुनने लगते थे। इस प्रकार के आक्रमणों और आक्रमण करने वालों को भगा कर पीछा करने में जब अंग्रेजी सेना के इतने अधिक सैनिक मारे गये तब जनरल विलसन ने विवश होकर आज्ञा निकाल दी कि किसी भी दशा में विप्लवकारी सेना का पीछा भविष्य में न किया जाय क्योंकि इस समय अंग्रेजों की सेना की दशा अधिक चिन्ताजनक थी।

उन दिनों जब कि कम्पनी की अंग्रेजी सेना को दिल्ली नगर में घुसने का साहस न होता था और न विप्लवकारियों की सेना को ही इस बात का साहस हो रहा था कि वह एक बार पूर्ण रूप से संगठित होकर दिल्ली नगर से बाहर निकल

जाती और मैदान में डटकर अंग्रेजी सेना को समाप्त कर देती। विप्लवकारियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार उत्पन्न होने लगे थे। इसका मुख्य कारण यह था कि विप्लवकारियों की संख्या में आशातीत वृद्धि हो चुकी थी। उनकी सेना में, वीरता, धीरता, साहस अथवा सामान आदि की किसी प्रकार की कमी न थी किन्तु दिल्ली नगर के अन्दर कोई ऐसा योग्य और प्रभावशाली नेता न था जो भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आनेवाली सेनाओं को सफलता के साथ अनुशासन में रख सकता और उन सब को मिलाकर एक निर्णायक युद्ध के लिए आगे बढ़ा सकता। यही एक सब से बड़ी कमी थी और इसी कमी के कारण दिल्ली नगर पर आक्रमण करनेवाले अंग्रेज सैनिक अभी तक नगर के बाहर किसी न किसी प्रकार जीवन धारण कर विजयी होने का स्वप्न देख रहे थे और समय की प्रतीक्षा कर रहे थे।

सम्राट बहादुरशाह बहुत बूढ़ा हो चुका था और स्वयं सेनापतित्व ग्रहण कर सके इस योग्य सामर्थ्य उसमें न थी। शाहजादा मिर्जा मुग़ल पहले ही अयोग्य साबित हो चुका था। सेनापति मुहम्मद बख्त खाँ उस समय विप्लवकारी सेनापतियों में सबसे अधिक योग्य और समझदार था किन्तु वह एक साधारण सेनापति था। वह किसी शाही घराने में पैदा न हुआ था और ऊँचे वंश में जन्म लेने का अभिमान अभी तक भारत-वासियों में मौजूद था। दिल्ली नगर की अनेक सेनाओं के सेनापति छोटे-मोटे नरेश या राजकुलों के लोग थे।

उन लोगों पर मुहम्मद बख्त खाँ का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था। इतना ही नहीं, उनमें से कोई-कोई मुहम्मद बख्त

खाँ के साथ ईर्ष्या भी करने लगे थे और परिणाम यह हुआ कि दिन-प्रति दिन आपस की खींचतान बढ़ती ही गई। सम्राट बहादुरशाह ने सब को समझाने का प्रयत्न किया किन्तु उसे अपने इस प्रयत्न में तनिक भी सफलता न प्राप्त हुई। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय दिल्ली में योग्य और शक्तिशाली नेता की बड़ी ही आवश्यकता थी किन्तु खेद की बात तो यह थी कि जयपुर, जोधपुर, सींधिया और होलकर जैसे नरेश राष्ट्रीय विप्लवकारियों का साथ देने का निश्चय उस समय तक भी न कर सके थे अन्यथा महाराज सींधिया जैसे प्रभावशाली नरेश के लिए एक बार दिल्ली नगर में आकर इसी कमी को पूरा कर सकना कोई विशेष कठिन कार्य न था।

वास्तव में दिल्ली के अन्दर की यह सब से बड़ी कमी सन् १८५७ स्वाधीनता-संग्राम की अन्तिम असफलता का एक मुख्य कारण हुई। दिल्ली नगर के अन्दर एक बार लगभग पचास हज़ार सुव्यवस्थित और सुशिक्षित सेना थी। युद्ध-विद्या में पारंगत होने पर भी इसे योग्य नेता न मिल सका। यदि यह विशाल सेना दिल्ली नगर को घेरनेवाली अंग्रेज़ी सेना को समाप्त कर देती और विजय के उत्साह से पूर्ण होकर एक बार शेष भारत पर फैल जाती तो इसमें सन्देह नहीं था कि इसके बाद विप्लवकारियों का दूसरा ही रंग दृष्टिगोचर होता और सफलता प्राप्त करने में कुछ भी विलम्ब न होता।

इस कमी का कुपरिणाम क्या होगा इसे सम्राट बहादुरशाह पूर्ण रूप से समझ रहा था इसी लिए इस भयानक कमी को दूर करने के लिए उसने अनेक उपाय किये किन्तु सब व्यर्थ सिद्ध हुए। उसने अपने बेटे मिर्ज़ा मुग़ल को हटा कर दिल्ली

की सेनाओं का प्रधान नेतृत्व मुहम्मद बख्त ख़ाँ को सौंप दिया किन्तु इससे भी सन्तोष-जनक कार्य न हो सका। विप्लवकारी सेनाओं की सुव्यवस्था और अनुशासन के सभी कार्य शिथिल होते गये। कोई दूसरा उपाय न देख कर अंत में सम्राट बहादुरशाह ने नीचे लिखा पत्र स्वयं अपने काँपते हुए हाथ से लिख कर जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, अलवर और अन्य अनेक राजाओं के पास अपने विशेष दूतों द्वारा भेजा।

"मेरी यह दिली ख्वाहिश है कि जिस ज़रिये से भी और जिस क़ीमत पर भी हो सके, फिरंगियों को हिन्दुस्तान से बाहर निकाल दिया जाय। मेरी यह ज़बर्दस्त ख्वाहिश है कि तमाम हिंदुस्तान आज़ाद हो जाय। लेकिन इस मक़सद को पूरा करने के लिए जो विप्लवकारी-संग्राम शुरू कर दिया गया है वह उस समय तक फ़तहयाब नहीं हो सकता जिस समय तक कि कोई ऐसा शख्श जो इस तमाम तहरीक के भार को अपने ऊपर उठा सके, जो क़ौम की मुख्तलिफ ताक़तों को संगठित करके एक ओर लगा सके और जो अपने तईं तमाम क़ौम का नुमाइन्दा कह सके और मैदान में आकर इस विप्लव का नेतृत्व अपने हाथों में न ले ले। अंग्रेज़ों के निकाल दिये जाने के बाद अपने ज़ाती फ़ायदे के लिए हिंदुस्तान पर हुकूमत करने की मुझमें ज़रा भी ख्वाहिश बाक़ी नहीं है। अगर आप सब देशी नरेश दुश्मन को निकालने की गरज से अपनी तलवार खींचने के लिए तैयार हों, तो मैं इस बात के लिए राजी हूँ कि अपने तमाम शाही अख्तियारात और हकूक देशी नरेशों के किसी ऐसे गिरोह के हाथों में सौंप दूँ जिसे इस काम के लिए चुन लिया जाय।"

जिन भावनाओं को लेकर यह पत्र लिखा गया था उससे हम यह कह सकते हैं कि इसमें सन्देह नहीं कि यह पत्र दिल्ली के अन्तिम सम्राट बहादुरशाह की समस्त भारतवर्ष के प्रति सदभिलाषा और उसकी विशाल उदारता, इन दोनों का ही दर्पण था किन्तु बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि संदिग्ध हृदय भारतीय नरेशों पर इसका उतना प्रभाव न पड़ा जितना कि पड़ना चाहिए था।

ठीक ऐसे ही समय में अंग्रेजी सेना की सहायता के लिए जनरल निकलसन के अधीन एक और नई सेना पंजाब से दिल्ली नगर में आ गई। इस सेना के आते ही कम्पनी की सेना में फिर से नव जीवन का संचार होने लगा। इस प्रसंग के सिलसिले में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस समय कम्पनी की जो सेना दिल्ली के बाहर थी, उसमें अंग्रेज सैनिकों की अपेक्षा भारतीय सैनिकों की ही संख्या कई गुनी अधिक थी। इन भारतीय सैनिकों में अधिकतर सिख, गोरखे, और कुछ अन्य पंजाबी थे। फिर भी अगस्त के अन्त तक विप्लवकारी सेना बार-बार कम्पनी की सेना पर आक्रमण करती रही किन्तु कम्पनी की सेना जिस स्थान पर थी उसी स्थान पर डटी रही। न पीछे हटी और न आगे बढ़ सकी।

२५ अगस्त को सेनापति मुहम्मद बख्त खाँ ने फिर एक बार अपनी पूरी शक्ति से अंग्रेजी सेना पर आक्रमण किया। उस समय राजधानी दिल्ली नगर के अंदर दो सेनाएँ मुख्य थीं। एक बरेली की और दूसरी नीमच की। इन दोनों सेनाओं के सैनिक साहसी, वीर और रण बाँकुरे योद्धा थे किंतु विप्लवकारियों के दुर्भाग्य से इन दोनों सेनाओं के सैनिकों

में विशेष रूप से वैमनस्य और प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो गई थी। सेनापति मुहम्मद बख्त खाँ ने इन दोनों सेनाओं के सैनिकों को एक साथ मिलाकर रखने का प्रयत्न किया। २५ अगस्त को ठीक उस समय जब कि सेनापति मुहम्मद बख्त खाँ ने इन दोनों सैन्य दलों को लेकर अंग्रेजी सेना के मुख्य स्थान नजफ़गढ़ पर हमला किया, नीमच की सेना ने सेनापति मुहम्मद बख्त खाँ की आज्ञा का उल्लंघन किया। इस सेना के सैनिकों ने उस स्थान को छोड़कर जहाँ पर कि मुहम्मद बख्त खाँ ने उन्हें ठहरने के लिए कहा था, पास के एक दूसरे गाँव में डेरे जमा दिये। इतना ही नहीं, वे सब विप्लवकारियों की शेष सेना से भी अलग हो गये। इस समाचार को पाते ही जनरल निकल्सन ने सब से पहले उन्हीं सैनिकों पर आक्रमण किया और एक अत्यन्त भयानक घमासान युद्ध हुआ। परिणाम यह हुआ कि उस युद्ध में नीमच की सेना का एक-एक सैनिक वीरता के साथ युद्ध करता हुआ परलोक को सिधार गया और कम्पनी की सेना ने विजय प्राप्त कर ली। इसी के साथ मुहम्मद बख्त खाँ को भी अपनी शेष सेना सहित पीछे लौट आना पड़ा।

अंग्रेज इतिहास लेखकों ने भी मुक्तकण्ठ से नीमच की सेना की बहादुरी की प्रशंसा की है किन्तु राजनीति के क्षेत्र में युद्ध-विद्या विशारदों का यह भी कथन है कि बिना सेनापति की अनन्य आज्ञा-पालन नीति के संसार की कोई भी सेना विजय प्राप्त करने में कदापि समर्थ नहीं हो सकती क्योंकि पूर्ण व्यवस्था ही संग्राम की सफलता का सब से अधिक आवश्यक साधन है। यही एक कारण था कि १६ मई के बाद वह पहला दिन था जब कि राजधानी दिल्ली नगर के अन्दर नैराश्य की

घटा दिखाई देने लगी थी और कम्पनी की सेना में हर्ष और उल्लास की छटा लहराने लगी थी।

उस समय कम्पनी की सेना में साढ़े तीन हज़ार अंग्रेज़, पाँच हज़ार सिख, गोरखे, पंजाबी, ढाई हज़ार काश्मीरी और स्वयं झींद का महाराज और उसकी सेना थी। इधर सब तरह के प्रयत्न करने पर भी दिल्ली नगर के अन्दर अव्यवस्था बढ़ती ही चली गई। सितम्बर महीने के आरम्भ में अंग्रेज़ी सेना को धीरे-धीरे राजधानी दिल्ली नगर पर आक्रमण करने का कुछ-कुछ साहस होने लगा। इतिहास लेखक फ़ारेस्ट लिखता है कि कम्पनी की ओर के भारतीय सिपाही उस समय अपने प्राणों पर खेलकर असाधारण वीरता और साहस के साथ अपने सेनापतियों के आदेशों का पालन करने में तत्पर हो रहे थे।

इतने ही समय के अन्दर कम्पनी की ओर गुप्तचरों का विभाग भी विशेष रूप से उन्नति कर चुका था। इस विभाग का प्रधान अफ़सर हडसन था। दिल्ली नगर के अन्दर बहुत से विश्वासघातक तैयार किये जा चुके थे। जिनमें मुख्य सम्राट बहादुरशाह का समधी मिरज़ा इलाही बख्श भी एक था। मिर्ज़ा इलाहीबख्श प्रायः सम्राट बहादुरशाह के ही साथ रहता था और महल की समस्त बातों और सलाहों की खबरें मेजर हडसन तक किसी न किसी प्रकार पहुँचाता रहता था।

किसी प्रकार सितम्बर महीने का पहला सप्ताह समाप्त होने को आया। ७ सितम्बर से कम्पनी की सेना ने दिल्ली नगर के अन्दर प्रवेश करने के लिए जी तोड़ प्रयत्न करने आरम्भ कर दिये। ७ सितम्बर से १३ सितम्बर तक उन्हें प्रति-

दिन अनेक सैनिकों को खोकर पीछे हट जाना पड़ा किन्तु इसी बीच में कम्पनी को तोपों के कारण नगर की रक्षा करने वाली दीवारों में स्थान-स्थान पर दरारें पड़ गई थीं। १४ सितम्बर को कम्पनी की सेना ने दिल्ली नगर में प्रवेश करने का अंतिम और सबसे अधिक शक्तिपूर्ण प्रयत्न किया। वास्तव में उस दिन का दिल्ली का संग्राम विप्लव के सब से अधिक भयंकर संग्रामों में से था।

उस दिन सवेरा होते ही जनरल विल्सन ने कम्पनी की सेना को पाँच दलों में बाँट दिया। एक दल ब्रिगेडियर जनरल निकल्सन के अधीन, दूसरा कर्नल कैम्पबेल के अधीन, तीसरा ब्रिगेडियर जोन्स के अधीन, चौथा मेजर रीड के अधीन और पाँचवाँ ब्रिगेडियर लाङ्गफील्ड के अधीन। पहले तीन दलों ने मिलकर जनरल निकल्सन के प्रधान सेनापतित्व में काश्मीरी दरवाज़े की ओर से प्रवेश करना चाहा चौथे दल ने मेजर रीड के अधीन काबुली दरवाजे और सब्जी मंडी की ओर से बढ़ना चाहा। सबसे पहले सूर्योदय के थोड़ी ही देर बाद निकल्सन अपने दल-बल के साथ शहरपनाह की दीवार की ओर बढ़ा। भीतर से विप्लवकारियों ने उन पर तोपों से गोले बरसाने आरंभ कर दिये। परिणाम यह हुआ कि दीवार के नीचे अंग्रेज़ और सिख सैनिकों की लाशों के ढेर लग गये, फिर भी उन्हें रौंदते हुए निकल्सन और उसके कुछ साथी दीवार तक पहुँच गये। पिछले सात दिनों के प्रयत्नों के कारण दीवार का कुछ भाग टूट चुका था। उसी टूटे भाग के समीप सीढ़ी लगा दी गई। निकल्सन पहला अंग्रेज़ वीर था, जिसने गोलियों और गोलों की बौछार के अन्दर काश्मीरी दरवाजे के समीप शहरपनाह की

दीवार पर चढ़कर विजय का बिगुल बड़ी ही निर्भीकता के साथ बजाया।

इसी प्रकार मरते-मारते हुए दूसरा दल एक ओर से शहरपनाह की दीवार पर चढ़कर शहर के भीतर प्रवेश कर गया। तीसरा दल भी पूर्ण वीरता और उत्साह के साथ काश्मीरी दरवाज़े की ओर बढ़ा: कुछ अफ़सरों ने आगे बढ़कर दरवाज़े को बाहर से उड़ा देना चाहा। दीवारों और खिड़कियों से धुआँ-धार गोलियां बरसने लगीं। कई अंग्रेज और देशी अफ़सर इसी प्रयत्न में मारे गये। अन्त में एक ने दरवाजे तक बारूद पहुँचा दी और दूसरे कप्तान बरगेस ने मरते-मरते फ़लीता दिखा दिया। फिर क्या था, देखते ही देखते काश्मीरी दरवाजे का एक भाग उड़ गया। कर्नल कैम्पबेल ने अपने दल के सैनिकों को आगे बढ़ने की आज्ञा दी और गोलियों की बौछार में भी बढ़कर कैम्पबेल और उसके कुछ साथी काश्मीरी दरवाज़े के अन्दर प्रवेश कर गये। अपनी इस आशातीत सफलता पर कैम्पबेल और उसके साथी अपने जीवन को धन्य समझने लगे।

चौथे दल ने मेजर रीड के अधीन काबुली करवाजे की ओर से बढ़ना चाहा। सब्ज़ी मंडी के समीप दिल्ली की सेना से उनका आमना-सामना हुआ। पहले ही बार में मेजर रीड घायल होकर गिर पड़ा। उसके घायल होकर गिरने के कारण एक बार उसकी सेना पीछे हटी किन्तु ऐसे ही समय में होप ग्रॉण्ट अपने कुछ सवारों के साथ तुरंत आगे बढ़ा। उसके इस प्रकार बढ़ते ही पीछे हटने वाली सेना सम्हल कर फिर आगे बढ़ी। भयानक युद्ध होने के कारण दोनों ओर से रक्त की नदियाँ बहने लगीं। होप ग्रॉण्ट के अधिकतर सवार हिन्दुस्तानी थे। उस संग्राम में

दोनों पक्ष के सिपाहियों ने अपूर्व वीरता का परिचय दिया किंतु परिणाम यह हुआ कि अन्त में अंग्रेजी सेना को ही फिर से पीछे हट जाना पड़ा। इस प्रकार चौथे दल ने हार खाई।

शेष तीनों दलों ने निकल्सन, कैम्पबेल और जोन्स के अधीन काश्मीरी दरवाजे से प्रवेश कर शहर पर चढ़ाई कर दी। जिस-जिस मकान या मीनार को ये लोग जीत लेते थे उस पर तुरंत सूचना के लिये अंग्रेजी झण्डा गाड़ देते थे। एर-एक मकान के सामने युद्ध होता जाता था और जीतने पर झंडा फहराया जाता था। इस प्रकार लड़ते-लड़ते ये तीनों दल काबुली दरवाजे की ओर बढ़े। बर्न बैस्टियन के समीप पहुँच कर इन सबों को एक सकरी गली में से निकलना पड़ा। इस गली के दोनों ओर की खिड़कियों, छज्जों और छतों पर से गोलियों की भयंकर वर्षा होने लगी।

गली के अंदर रक्त की नदी बह चली। कोई यह नहीं कह सकता था कि वह रक्त की नदी नहीं थी। विवश होकर अंग्रेजों की समस्त सेना को पीछे हट जाना पड़ा। गली के अंदर और अधिक बढ़ने का साहस किसी भी सैनिक में न रहा। अपने सैनिकों की इस साहस-हीनता की दशा को देखकर निकल्सन एक सच्चे वीर के समान आगे बढ़ा। यह गली लगभग दो सौ गज लम्बी थी किंतु १४ सितम्बर के दिन इस छोटी-सी गली ने जो अभूत पूर्व साहस और आशा से अतीत अद्भुत कार्य कर दिखाया उसने स्वाधीनता के इस संग्राम में उसने अपने नाम को चिरकाल के लिये इतिहास लेखकों के समक्ष अमर कर लिया। इसी गली की अमर वीरता के ही कारण आगे बढ़नेवाले वीर निकल्सन को भी पीछे हटना पड़ा। निकल्सन जैसे ही पीछे

हटा वैसे ही मेजर जैकब आगे बढ़ा और तुरंत घायल होकर वहीं पर गिर पड़ा। अपने मन में फिर से नये साहस का संचार करता हुआ निकल्सन फिर आगे बढ़ा किंतु परिणाम यह हुआ कि इस बार आगे बढ़ते ही वह भी घायल होकर वहीं धरती पर गिर पड़ा। अंत में जब सफल होने की कुछ भी आशा न रही तब अंग्रेजी सेना को गली छोड़ कर पीछे हट जाना पड़ा। राजधानी दिल्ली नगर की वह अमर गली लाशों से भर गई। कम्पनी की सेना को पीछे हटकर काश्मीरी दरवाजे पर लौट आना पड़ा।

जिस समय बर्न बैस्टियन की ओर निकल्सन बढ़ रहा था उसी समय कर्नल कैम्पबेल के अधीन एक दल जामे मस्जिद की ओर भेज दिया गया था। मस्जिद तक पहुँचने में इन सबों को किसी विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। बिना किसी प्रकार की रुकावट के ये सब जामे मस्जिद तक पहुँच गये किंतु उस समय मस्जिद में कई हज़ार मुसलमान जमा थे। उन सब मुसलमानों को इस बात का पता चल गया था कि अंग्रेज मस्जिद को बारूद से उड़ा देना चाहते हैं इसलिये मस्जिद की रक्षा करने के लिए वे सब तैयार थे किन्तु इन सबों के पास केवल तलवारें थीं, बन्दूक किसी के पास भी न थी। अंग्रेजों के पहुँचते ही ये सब लोग अपनी तलवार हाथ में लेकर मस्जिद से निकल पड़े। सब से पहले उन्होंने अपनी तलवारों के म्यान काट कर फेंक दिये। उन सबों को मस्जिद के बाहर देखते ही अंग्रेजी सेना ने उन पर बन्दूकों की एक बाढ़ चलाई। उनमें से दो सौ आदमियों की लाशें तुरंत मस्जिद की सीढ़ियों पर गिर पड़ीं किन्तु शेष मुसलमान इस शीघ्रता के साथ तलवारें हाथ में लिये आगे बढ़े

कि अंग्रेजी सेना को दुबारा बन्दूकें भरने या सम्हालने तक का अवकाश न मिल सका। बन्दूकों को छोड़ कर दोनों ओर से तलवारों की लड़ाई शुरू हो गई। कैम्पबेल घायल हो गया। अंग्रेजी सेना के इस दल को भी विवश होकर काश्मीरी दरवाजे की ओर भाग आना पड़ा। कैम्पबेल ने बाद में कहा भी था कि यदि मुझे उस समय सहायता मिल जाती और समय पर बारूद के थैले मेरे पास आ जाते तो मैं उस दिन दिल्ली नगर की जामे-मस्जिद को अवश्य उड़ा देता। इस प्रकार राजधानी दिल्ली में १४ सितम्बर का संग्राम समाप्त हुआ।

दिल्ली में अंग्रेजी सेना के प्रवेश का यह पहला दिन था। पहले ही दिन उन्हें जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उनसे उनके दाँत खट्टे हो गये थे क्योंकि उस दिन का संग्राम अत्यंत भयानक रहा। अंग्रेजी सेना और विप्लवकारियों की सेना ने बड़े साहस और अभूतपूर्व वीरता के साथ रण-भूमि में एक-एक इंच भूमि के लिए अपने और शत्रु दोनों के रक्त को पानी के समान बहा देने में कुछ भी संकोच न किया। अंग्रेजों की ओर के चार मुख्य सेनापतियों में से तीन घायल हो गये, जिनमें सब से अधिक वीर सेनापति निकल्सन २३ सितम्बर को अस्पताल में मर गया। कम्पनी के ६६ अफ़सर और ११०४ सैनिक उस दिन के संग्राम में मारे गये। कहा जाता है कि विप्लवकारियों की ओर लगभग १५०० आदमी मरे किन्तु इतने पर भी चार महीने तक घेरा डाले रहने के बाद राजधानी दिल्ली नगर की दीवार के अन्दर कम्पनी की सेना ने साहस और वीरता के साथ प्रवेश कर ही लिया। फिर उन्हें कोई भी रोक सकने में समर्थ न हुआ। उन सबों को रोकने के लिए

जितने भी प्रयत्न और युद्ध किये गये वे सब दुर्भाग्य के कारण विप्लवकारियों के अनुकूल न होकर प्रतिकूल ही होते गये। जिन अंग्रेज़ों को भारत से निकालने का प्रयत्न किया जा रहा था वही अंग्रेज़ विजयी होकर हर्ष और उत्साह के साथ नित्य आगे बढ़ने लगे।

इसलिए इस घटना के बाद दिल्ली में और जितने संग्राम हुए उन सब संग्रामों का वर्णन अधिक विस्तार के साथ करने की विशेष कोई आवश्यकता नहीं है। केवल इतना ही समझ लेना चाहिए कि इसके बाद विप्लवकारियों की ओर अधिक अव्यवस्था बढ़ने लगी। कुछ सेना तुरंत दिल्ली छोड़ कर चली गई और कुछ १५ सितम्बर से २४ सितम्बर तक दिल्ली नगर की एक-एक इंच भूमि के लिए देश के शत्रु अंग्रेज़ों की सेना से नित्य संग्राम करती रही। इन संग्रामों में भी कम्पनी की सेना के लगभग चार हज़ार सैनिक मारे गये। कहा जाता है कि इन संग्रामों में विप्लवकारियों के हताहतों की संख्या अंग्रेज़ी सेना के हताहतों से कुछ अधिक ही थी।

धीरे-धीरे राजधानी दिल्ली नगर का तीन-चौथाई भाग कम्पनी के अधिकार में आ गया। अब विप्लवकारियों के लिए बड़ा ही भयानक समय उपस्थित हो गया। न विजय की आशा रही और न जीवन की ही आशा की जा सकती थी। जो जिस स्थान पर रह गया था वह उसी स्थान से अपने जीवन की घड़ियों को गिनने लगा था। जिधर दृष्टि जाती थी उधर ही दिल्ली नगर में सन्नाटा छाया हुआ था। कुछ भी हो, दिल्ली के तीन-चौथाई भाग पर अंग्रेज़ों का अधिकार होते ही १६ सितम्बर

की रात को मुहम्मद बख्त खाँ सम्राट् बहादुरशाह से भेंट करने के लिए गया। जाते ही उसने सम्राट् को हिम्मत दिलाई और इस प्रकार कहा—

"दिल्ली हाथ से निकल जाने पर भी हमारा कुछ अधिक नहीं बिगड़ा। तमाम मुल्क में आग लगी हुई है। आप अंग्रेजों से हार स्वीकार न कीजिए। आप मेरे साथ दिल्ली से निकल चलिए। सामरिक दृष्टि दिल्ली की अपेक्षा कई अन्य स्थान अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनमें से किसी पर भी जम कर हमें युद्ध जारी रखना चाहिए। मुझे विश्वास है कि अंत में हमारी विजय होगी।"

मुहम्मद बख्त खाँ की इन बातों से सम्राट बहादुरशाह कुछ अंश तक सहमत हो गया है और दूसरे दिन सबेरे फिर मिलने के लिए उसे बुलाया। दूसरी ओर अंग्रेजों ने अपने गुप्त सहायक मिर्जा इलाहीबख्श पर इस बात के लिए जोर दिया कि तुम किसी प्रकार बादशाह को दिल्ली से बाहर जाने से रोक लो। इस कार्य के लिए मिर्जा इलाहीबख्श से बहुत बड़े इनाम का वादा किया गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि जब तक भारत में अंग्रेजी शासन रहा तब तक मिर्जा-इलाहीबख्श के वंशजों को बारह सौ रुपये माहवार पेन्शन मिलती रही।

मुहम्मद बख्त खाँ के चले जाने के बाद अंग्रेजों के पढ़ाये हुए पाठ के अनुसार मिर्जा इलाहीबख्श ने सम्राट् बहादुरशाह को समझाते हुए कहा—"विप्लव के सफल होने की अब कोई आशा नहीं हो सकती इसलिए बख्त खाँ के साथ जाने में

सिवाय कष्टों और हानि के आपको और कुछ न मिलेगा और यदि आप यहाँ रह जायँगे तो मैं वादा करता हूँ कि अंग्रेजों से मिलकर सब बातों की सफाई करा दूँगा आप और आपके कुटुम्बियों पर किसी प्रकार की आँच न आने पायगी।"

दूसरे दिन सबेरा होते ही सम्राट बहादुरशाह हुमायूँ के मक़बरे में गया। उसने मुहम्मद बख़्तख़ाँ को वहीं पर मिलने के लिए अपने दूत से बुला भेजा। मक़बरे से पूर्व की ओर यमुना नदी के रेती में बख़्त ख़ाँ की सेना पड़ी हुई थी। पूर्व दिशा की ओर के दरवाज़े से ही मुहम्मद बख़्त ख़ाँ सम्राट बहादुरशाह से मिलने के लिए मक़बरे में आया। सम्राट बहादुरशाह से मिलने पर मुहम्मद बख़्त ख़ाँ ने उसे फिर समझाने का प्रयत्न किया। लिखा है कि मुहम्मद बख़्त ख़ाँ सम्राट बहादुरशाह को अपने साथ ले जाना चाहता था और सम्राट बहादुरशाह भी मुहम्मद बख़्त ख़ाँ के साथ जाना चाहाता था किन्तु अंग्रेजों का गुप्त सहायक सम्राट बहादुरशाह का विश्वासघातक समधी मिर्ज़ा इलाहीबख़्श सम्राट बहादुरशाह को रोक लेने के लिए तरह-तरह के दाँव-पेंच खेल रहा था।

अंत में मिर्ज़ा इलाहीबख़्श ने जब देखा कि और कोई दाँव-पेंच नहीं चल सकता तब उसने मुहम्मद बख़्त ख़ाँ पर यह दोषारोपण किया कि मुहम्मद बख़्त ख़ाँ चूँकि पठान है इसलिए वह मुग़लों से अपनी कौम का पुराना बदला चुकाना चाहता है और छल करके सम्राट बहादुरशाह को जाल में फँसाना चाहता है। इस पर बात की बात में यहाँ तक बात बढ़ी कि निरपराध मुहम्मद बख़्त ख़ाँ ने सम्राट बहादुरशाह के समधी

मिर्ज़ा इलाहीबख्श पर अपनी तलवार खींच ली। किन्तु स्वयं सम्राट बहादुरशाह ने उसका हाथ रोक लिया। इसमें संदेह नहीं कि मिर्ज़ा इलाहीबख्श का कोई न कोई तीर नेक किन्तु बूढ़े तथा निर्बल सम्राट बहादुरशाह पर अवश्य चल गया। अंत में सम्राट बहादुरशाह ने मुहम्मद बख्त ख़ाँ से इस प्रकार के शब्दों में कहा—

"बहादुर! मुझे तेरी हर बात का यक़ीन है और मैं तेरी हर राय को दिल से पसंद करता हूँ। मगर जिस्म की क़ूवत ने जवाब दे दिया है, इसलिए हैं अपना मामला तक़दीर के हवाले करता हूँ। मुझको मेरे हाल पर छोड़ दे और बिस्मल्लाह कर! यहाँ से जा और कुछ काम करके दिखा! मैं नहीं, मेरे ख़ानदान में से नहीं, न सही, तू या और कोई हिस्दुस्तान की लाज रखे! मेरी फ़िक्र न कर, अपने फ़र्ज़ को अंजाम दे।"❋

इस स्थल पर यदि यह मान लिया जाय कि सन् १८५७ में होनेवाले दिल्ली नगर के समस्त स्वाधीनता-संग्रामों का मुकुट सम्राट बहादुरशाह था और हाथ-पैर हजारों हिंदू तथा मुसलमान वीर सिपाही थे तो यह भी मानना ही पड़ेगा कि दिल्ली के उन समस्त स्वाधीनता-संग्रामों का दिल और दिमाग़ मुहम्मद बख्त ख़ाँ था। कहने की आवश्यकता नहीं कि सम्राट बहादुरशाह के इस उत्तर से मुहम्मद बख्त ख़ाँ का दिल टुकड़े-टुकड़े होकर चूर-चूर हो गया। उसने सम्राट बहादुरशाह से कुछ भी

❋ख्वाज़ा हसन निज़ामी रचित "देहली की जाँकनी" नामक पुस्तक से।

न कहा और चुपचाप गर्दन नीची करके मकबरे के पूर्वी दर-
वाज़े से बाहर निकल गया।

मुहम्मद बख्त ख़ाँ के जाते ही विश्वासघातक मिर्ज़ा इलाही-
बख्श ने दूसरी ओर मुँह फेर लिया और मक़बरे के पश्चिमी
दरवाज़े से बाहर निकल कर तुरंत अंग्रेज़ों को सूचना दे दी कि
इसी समय चुपके से पश्चिमी दरवाज़े पर आकर सम्राट बहा-
दुरशाह को गिरफ़्तार कर लिया जाय। सूचना के पाते ही तुरंत
कप्तान हडसन पचास सवार लेकर मक़बरे के पश्चिमी दरवाज़े
पर पहुँच गया। लिखा है कि जिस समय सम्राट बहादुरशाह
को मालूम हुआ कि हडसन उसे गिफ़्तार करने आया है उस
समय उसने एक बार मिर्ज़ा इलाहीबख्श की ओर घूर कर देखा
और कहा—"तुमने मुझको बख्त ख़ाँ के साथ जाने से
रोका। × × ×" इस पर मिर्ज़ा इलाहीबख्श ने कुछ भी उत्तर
न दिया केवल सर झुकाये चुपचाप खड़ा रहा। कहीं-कहीं यह
भी लिखा हुआ है कि सम्राट बहादुरशाह ने फिर इरादा किया
कि किसी को भेजकर मुहम्मद बख्त ख़ाँ को बुलाया जाय किंतु
समय हाथ से निकल चुका था।

सम्राट बहादुरशाह, बेगम ज़ीनतमहल और शाहज़ादे
जवाँबख्त को चुपचाप पूर्वी दरवाज़े से गिरफ़्तार करके लाल
क़िले में क़ैद कर दिया गया और राजधानी दिल्ली का नगर
१३४ दिन के कठिन परिश्रम और युद्ध के बाद फिर से पूरी
तरह अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गया। इसके बाद मुहम्मद बख्त
ख़ाँ अपनी समस्त सेना के साथ यमुना को पार कर किसी ओर
निकल गया और आज तक किसी को उसका या उसकी सेना
का कुछ भी पता न चल सका।

जनरल विल्सन और कप्तान हडसन की राय थी कि सम्राट बहादुरशाह को तुरंत मार डाला जाय किंतु अभी तक अधिकांश विप्लवकारी और भारत अंग्रेजों के अधिकार में न आया था, इसलिए अनेक अंग्रेज़ अफ़सरों की राय इसके विरुद्ध थी। अंत में बूढ़े सम्राट बहादुरशाह को केवल कैद कर दिया गया।

सम्राट बहादुरशाह की गिरफ़्तारी के बाद उसके दो बेटे मिर्ज़ा अखज़र सुलतान और एक पोता मिर्ज़ा अबूबकर हूमायूँ के ही मक़बरे में बाकी रह गये थे। कुछ अंग्रेज़ इतिहास लेखकों का कथन है कि इन लोगों ने विप्लव के आरंभ के दिनों में अंग्रेज़ औरतों और बच्चों की हत्या में भाग लिया था। मिर्ज़ा इलाहीबख्श ने हडसन को सूचना दी कि ये लोग अभी तक हुमायूँ के मक़बरे में मौजूद हैं। सूचना को पाते ही हडसन तुरंत मक़बरे की ओर फिर लौटा। बात की बात में तीनों शहजादों को कैद कर लिया। मिर्जा इलाहीबख्श ने शाहजादों को समझाकर इस कार्य में पूरी सहायता दी। शाहजादों को रथों में सवार करा कर हडसन अपने सवारों, मिर्जा इलाही-बख्श और उसके दो मुसाहिबों सहित शहर की ओर चला।

जब शहर एक मील रह गया तब हडसन ने रथों को रोक देने के लिए कहा। उसके आदेश को सुनते ही रथ रोक दिये गये। रथों के रुकते ही तीनों शहजादों को रथों से उतरने के लिए कहा गया, उनके कपड़े उतरवाये गये और फिर अचानक समीप के अपने एक सैनिक के हाथ से बन्दूक़ लेकर हडसन ने उन तीनों को तीन फ़ायर में वहीं पर समाप्त कर दिया। गोलियाँ तीनों शहजादों की छाती में लगी और वे "हाय दग़ा"

कह कर वहीं पर ठण्डे हो गये। मिर्जा इलाहीबख्श ने तीनों शाहजादों से वादा कर लिया था कि मैं जनरल विल्सन से कहकर तुम्हारे प्राणों की भिक्षा दिलवा दूँगा।

इसके बाद शाहजादों के मस्तक काटकर सम्राट बहादुरशाह के सामने लाये गये। मस्तकों को सामने रखते हुए हडसन ने सम्राट बहादुरशाह से कहा, "कम्पनी की ओर से यह आपके लिए भेंट है जो वर्षों से बन्द थी। ख्वाजा हसन निज़ामी ने लिखा है कि सम्राट बहादुरशाह ने जवान बेटों और जवान पोते के कटे हुए मस्तक देखे तो आश्चर्यजनक धैर्य के साथ मुँह फेर लिया और कहा—अलहम्दोलिल्लाह! तैमूर की औलाद ऐसे ही सुर्खरू होकर बाप के सामने आया करती थी।" अर्थात् खुदा की तारीफ़ है! तैमूर की औलाद इसी प्रकार मुख उज्ज्वल करके बाप के सामने आया करती थी।

इसके बाद शाहजादों के कटे हुए मस्तक खूनी दरवाजे के सामने लाकर लटका दिये गये और धड़ कोतवाली के सामने टाँग दिये गये। अगले दिन इन तीनों लाशों को यमुना में फिंकवा दिया गया।

शाहजादों की हत्या के सम्बन्ध में एक और इससे भी कहीं अधिक भयंकर घटना का वर्णन दिल्ली में किया जाने लगा था। पहली बात तो यह थी कि जिन शाहजादों को धोखा देकर हडसन ने इस प्रकार मारा था उनकी संख्या तीन न होकर चार थी। चौथा जिसका नाम नहीं लिया गया है वह शाहजादा अब्दुल्ला था। दूसरी मुख्य और वीभत्स बात यह थी कि हत्यारे हडसन ने शाहजादों को गोली से मारकर तथा

उनके मस्तकों को काटकर तुरन्त अपने चुल्लू में भर कर उनका गर्म गर्म रक्त पान किया था और यह कहा था कि यदि मैं इनका रक्त न पीता तो पागल हो जाता।

यद्यपि इस प्रकार की वीभत्स और दानवी घटनाओं का वर्णन अंग्रेज़ी इतिहास की पुस्तकों में नहीं मिलता तथापि ख़्वाजा हसन निज़ामी ने इसे अपनी उर्दू पुस्तक "देहली की झाँकनी" में लिख दिया है। इतना ही नहीं, इस संबन्ध में ख्वाजा हसन निज़ामी साहब का यह दावा है कि यह घटना बिलकुल सच्ची है। ख्वाजा हसन निज़ामी का कथन है—"मैंने दिल्ली के सैकड़ों लोगों के मुँह से इस बात को सुना और इसके अलावा मिर्ज़ा इलाहीबख्श के उन दो खास मुसाहिबों में से एक ने, जो मौके पर मौजूद थे और जिन्होंने इस घटना को अपनी आँखों से देखा था, खुद मेरे पिता से आकर यह तमाम वाक़या सुनाया।"

जहाँ तक हो सका, हमने दिल्ली के शेष वृत्तान्त को पाठकों के सामने साधारण रीति से रख दिया और आशा है कि इन सब वर्णनों से पाठकों के लिए विप्लव के इतिहास का ज्ञान स्पष्ट हो जायगा और राजनीति का मार्ग भी प्रकाशपूर्ण हो जायगा।

—

दिल्ली-निवासियों पर अंग्रेज़ों के अत्याचार

दिल्ली नगर में अंग्रेजों का अधिकार हो जाने के बाद दिल्ली-निवासियों के ऊपर कम्पनी की सेना ने किस-किस प्रकार के अत्याचार किये उन सब का वर्णन करना हमारे लिए शेष रह गया है किन्तु हम यह नहीं चाहते कि उन सब घटनाओं का वर्णन विस्तार के साथ किया जाय। आशा है कि हमारे पाठक भी हमारे इस विचार से अवश्य सहमत होंगे अतएव हम कम्पनी की सेना के अत्याचारों का वर्णन संक्षेप में कर रहे हैं—

इन अत्याचारों के संबन्ध में लार्ड एलफ़िन्सटन ने सर जॉन लारेन्स को लिखा था—(दिल्ली-नगर को घेरने और जीतने के बाद अर्थात्) "मोहासरों के खत्म होने के बाद से हमारी सेना ने जो अत्याचार किये हैं उन्हें सुन-सुन कर हृदय फटने लगता है। मित्र अथवा शत्रु में भेद किये बिना ये लोग सबसे बदला ले रहे हैं। लूट में तो वास्तव में हम नादिरशाह से भी बढ़ गये।"

मोहासरे के दिनों में क़िले के छत्ते में बीमार और घायल सिपाहियों का एक अस्पताल था। कंपनी की सेना जिस समय क़िले के अंदर घुसी, उस समय जितने घायल और बीमार अस्पताल के अंदर दिखाई दिये उन सब को उसने अपनी बन्दूक की गोलियों से सदा के लिए से रोगमुक्त कर दिया।

और भी अनेक स्थानों में जहाँ घायल और बीमार पाये गये, तुरंत मार डाले गये।

माण्टगुमरी मार्टिन लिखता है—"जिस समय हमारी सेना ने शहर में प्रवेश किया उस समय जितने नगर-निवासी शहर की दीवारों के भीतर पाये गये, उन्हें उसी स्थान पर संगीनों से मार डाला गया। आप समझ सकते हैं कि उनकी संख्या कितनी अधिक रही होगी, जब मैं आपको यह बताऊँ कि एक एक मकान में चालीस-चालीस और पचास आदमी छिपे हुए थे। ये लोग विप्लवकारी न थे, बल्कि शहर के रहने वाले थे जिन्हें हमारी दयालुता और क्षमाशीलता पर विश्वास था। मुझे प्रसन्नता है कि हमारे इन अत्याचारों से उनका भ्रम दूर हो गया।"

इसी से यह अनुमान किया जा सकता है कि किस प्रकार निरपराध नागरिकों को अंग्रेजी सेना ने दिल्ली में मौत के घाट उतारा और किस प्रकार अपने दानवता के कार्यों का वीभत्स प्रदर्शन किया। इसके बाद एक दूसरा अंग्रेज इतिहास लेखक लिखता है—"दिल्ली के निवासियों के क़त्ले आम का खुले एलान कर दिया गया। यद्यपि हम जानते थे कि उनमें से बहुत से हमारी विजय चाहते हैं।" ऐसे उस समय की कम्पनी के अंग्रेज अफ़सर अत्याचारी थे।

दिल्ली नगर की इस भयंकर परिस्थिति और निर्मम हत्याकांड के दिनों में केवल एक दिन के दृश्य का वर्णन करते हुए लार्ड राबर्टस लिखता है—"प्रातःकाल हम लाहौरी दरवाजे से चाँदनी चौक गये, तो हमें शहर वास्तव में मुर्दों का शहर दिखाई पड़ता था। हमारे घोड़ों की टापों के सिवाय कोई

दूसरी आवाज़ नहीं सुनाई पड़ती थी । कोई जीवित मनुष्य नहीं दिखाई पड़ा । सभी ओर मुर्दों का बिछौना बिछा हुआ था, जिसमें से कुछ मरने से पहले पड़े सिसक रहे थे । हम चलते हुए बहुत धीरे-धीरे बातें करते थे और इस डर से कि कहीं हमारी आवाज़ से मुर्दे न चौंक पड़ें । एक ओर मुर्दों की लाशों को कुत्ते खा रहे थे और दूसरी ओर लाशों के आस-पास गिद्ध जमा थे जो उनके मांस नोच-नोच कर स्वाद लेते हुए खा रहे थे और हमारे चलने की आवाज़ से उड़-उड़ कर थोड़ी दूर जाकर बैठ जाते थे । सारांश यह कि इन मुर्दों की दशा का वर्णन पूर्ण रूप से कर सकना बड़ा कठिन काम है । जिस प्रकार इनको देखने से हमें डर लगता था उसी प्रकार हमारे घोड़े इन्हें देख कर डर से बिचकते और हिनहिनाते थे । लाशें पड़ी सड़ रही थीं । उनके उस प्रकार पड़े रहने और सड़ने से (दिल्ली की) हवा में बीमार करने वाली दुर्गन्ध फैल रही थी ।"

ख्वाजा हसन निजामी साहब लिखते हैं कि इस दिल्ली के क़त्लेआम में पुरुष, स्त्री अथवा छोटे-बड़े को कोई तमीज न की जाती थी । इनमें से अनेक मनुष्यों को भिन्न-भिन्न प्रकार की यातनाएँ दे-देकर मारा गया । लेफ्टिनेन्ट माजेण्डी ने अपनी आँखों देखी एक घटना का वर्णन करते हुए कहा है कि—"सिखों और गोरों ने मिलकर एक घायल मनुष्य के चेहरे को पहले अपनी संगीनों से बार-बार बीधा और फिर धीमी आँच के ऊपर उसे जिन्दा भून दिया—"उसका मांस चटका, लपटों में काला हो गया और जलते हुए मांस की भयानक दुर्गन्ध ने ऊपर उठ कर हवा को विषैला बना दिया ।"

टाइम्स पत्र के संवाददाता सर विलियम रसल ने लिखा है कि "मैंने एक आदमी की जली हुई हड्डियाँ कई दिनों के बाद मैदान में पड़ी हुई देखीं।"

मॉबरे टामसन ने सर हेनरी काटन से कहा था कि—"दिल्ली में मुसलमानों को नंगा करके ज़मीन से बाँधकर सिर से पाँव तक जलते हुए ताँबे के टुकड़ों से अच्छी तरह दाग दिया गया था।"

इन लोगों को मारने से पहले कभी कभी उनको धर्मभ्रष्ट करने की घृणित क्रिया भी की जाती थी। एक अंग्रेज़ पादरी की विधवा ने लिखा है कि बहुत से मनुष्यों को पकड़कर पहले उनसे संगीनों के बूते गिरजा में झाड़ू दिलवाई गई और बाद में सबको फाँसी दे दी गई।

रसल लिखता है कि कभी-कभी मुसलमानों को मारने से पहले उन्हें सुअर की खालों में सी दिया जाता था, उन पर सुअर की चर्बी मल दी जाती थी और फिर उनके शरीर जला दिये जाते थे और हिन्दुओं को बल-पूर्वक धर्मभ्रष्ट किया जाता था।

इन रोमांचकारी घटनाओं के सम्बन्ध में अधिकता के साथ उद्धरण देना हमारे लिए अत्यंत खेद उत्पन्न करने वाला विषय हो रहा है। केवल इतना ही समझ लेना चाहिये कि अँग्रेज़ों द्वारा किये गये अत्याचारों का परिणाम यह हुआ कि एक बार समस्त दिल्ली नगर ख़ाली और वीरान हो गया, बल्कि उन इने गिने घरानों को छोड़कर जिनसे कम्पनी की सेना को सहायता मिल रही थी, शेष समस्त नगर-निवासियों को, जो क़त्ल अथवा फाँसी से बच सके, बल-पूर्वक नगर से बाहर निकाल दिया गया। इतिहास लेखक होम्स लिखता है—

"दिल्ली के निवासियों ने विप्लवकारियों के अपराधों का कई

गुना अधिक प्रायश्चित कर डाला। हजारों की संख्या में पुरुष स्त्री और बच्चे बिना घर-द्वार के इधर-उधर के इलाक़े में घूम रहे थे, जिन्होंने कि कोई अपराध नहीं किया था। अपना जो कुछ माल असबाब नगर में अपने पीछे छोड़ गये थे, उससे वे सदा के लिए हाथ धो चुके थे क्योंकि (अंग्रजी सेना के) सिपाहियों ने गली-गली और घर घर जाकर प्रत्येक मूल्यवान वस्तु को खोज कर निकाल लिया था और जो कुछ सामान वे उठा कर न ले जा सकते थे उसे उन्होंने टुकड़े-टुकड़े कर डाला था।"

दिल्ली नगर पर अधिकार करने के बाद तीन दिन तक कम्पनी की सेना के सब सिपाही नगर भर में लूट करते रहे। इसके लिए अँग्रेज अफ़सरों की ओर से उन्हें पहले ही माफ़ी मिल चुकी थी। उसके बाद 'प्राइज़ एजेन्सी' नाम से सरकारी मुहकमा खोल दिया गया, जिसका काम यह था कि शहर के तमाम घरों के हर तरह के माल-असबाब को एक स्थान पर इकट्ठा करके उसे नीलाम करे या गोदामों में रखे और रुपया फ़ौज में बाँट दे। इस मुहकमें ने मकानों के अन्दर किताबें, बर्तन, चारपाई, चक्की, गड़ा हुआ माल व दौलत, यहाँ तक कि मकानों के किवाड़ और उनके अंदर का लोहा और पीतल तक अर्थात् कोई भी चीज़ बाकी नहीं छोड़ी।

ख़्वाजा हसन निजामी साहब ने लिखा है कि "कर्नल बर्न को शहर का फौजी गवर्नर नियुक्त किया गया, उसने एक दस्ता फ़ौज का इस काम के लिए नियुक्त किया कि जहाँ कहीं आबादी पाओ मर्द, औरत और बच्चों को घरों के असबाब के साथ गिरफ़्तार करके ले आओ। आगे-आगे मर्द असबाब के गट्ठर सर पर रखे हुए, पीछे-पीछे उनकी औरतें रोती हुईं पैदल और

बच्चों को साथ लिए। जिन औरतों को कभी पैदल चलने की आदत न थी वे ठोकरें खा-खाकर गिरती थीं, बच्चे गोद से गिरे जाते थे और सिपाही क्रूरता के साथ उन्हें आगे चलने के लिए धक्के देते थे।

जब वे लोग कर्नल बर्न के सामने पेश होते तब हुक्म दिया जाता कि असबाब में जितनी कीमती चीजें हैं ढूँढ कर जब्त कर लो, व्यर्थ चीज़ें वापस दे दो। यह हो चुकने पर दूसरा हुक्म यह दिया जाता है कि इनको सिपाहियों की देख-रेख में लाहौरी दरवाजे तक ले जाओ और शहर से बाहर निकाल दो। ऐसा ही किया जाता और वे लोग लाहौरी दरवाज़े के बाहर धक्के देकर निकाल दिये जाते।

दिल्ली शहर के बाहर इस प्रकार हज़ारों मर्द, औरतें और बच्चे असहाय, नंगे पाँव नंगे सर और भूखे प्यासे फ़िर रहे थे। × × × सैकड़ों बच्जे भूख-भूख चिल्लाते हुए माताओं की गोद में मर गये। सैकड़ों माताएँ छोटे बच्चों का दुख न देख सकने के कारण उन्हें अकेला छोड़कर कुएँ में डूब मरीं।

नगर के भीतर हज़ारों औरतें ऐसी थीं कि जिस समय उन्होंने सुना कि कम्पनी की सेना आती है उस समय बेइज्ज़ती और मुसीबतों से बचने के लिए कुओं में गिरने लगीं और इतनी अधिक गिरीं कि डूबने को पानी न रहा। अनेक कुएँ औरतों की लाशों से भर गये।

सेना के एक अफ़सर का बयान है कि 'हमने इस प्रकार की सैकड़ों औरतों को कुओं से निकाला जो लाशों के ढेर के कारण डूबी न थीं और ज़िन्दा पड़ी थी अथवा बैठी थीं। जिस समय

हमने उन्हें निकालना चाहा उस समय वे चीखने लगीं कि ख़ुदा के लिए हमको हाथ न लगाओ और गोली से मार डालो हम शरीफ़ बहू-बेटियाँ हैं, हमारी इज्ज़त खराब न करो। × × ×"

दिल्ली की स्त्रियों का यह भय कारण से शून्य न था। उनका यह भय कि कहीं हमारी इज्ज़त पर हमला न किया जाय, उचित कारणों से ही युक्त था। ख्वाजा हसन निज़ामी साहब लिखते हैं कि "फ़राशखाने के किसी कुएँ से दो औरतें ज़िन्दा निकाली गईं। एक जवान किंतु अंधी और दूसरी बुढ़िया। बुढ़िया ने बयान किया कि मेरे एक ही बेटा था, उसे घर में घुस कर क़त्ल कर दिया गया। जब वह क़त्ल किया जा रहा था, कुछ सिपाहियों ने उसकी अंधी बहिन के सतीत्व पर हमला करना चाहा, किन्तु वह अपने घर के कुएँ से परिचित थी, दौड़ कर उसमें गिर पड़ी, उसके साथ ही मैं भी कुएँ में कूद पड़ी। हम दोनों पानी में गोते खा रहे थे कि किसी ने अंदर आकर हमें निकाल लिया।' दिल्ली में ऐसे भी लोग थे जिनके घर की स्त्रियों की आबरू पर जिस समय हमला होने लगा उस समय उन्होंने अपने हाथ से अपनी बहुओं और अपनी बेटियों को क़त्ल कर दिया और फिर स्वयं आत्महत्या कर ली।"

दिल्ली नगर के रहने वालों के धार्मिक भावों को आघात पहुँचाने के लिए जिस प्रकार मंदिरों और मस्जिदों को नष्ट किया गया उसके संबन्ध में ख्वाजा हसन निज़ामी साहब अपनी पुस्तक 'दिल्ली की जाँकनी में लिखते हैं कि,

"अंग्रेज़ी सेना के मुसलमान सिपाही हिन्दुओं के मंदिरों में घुस गये और उनको भ्रष्ट कर डाला और हिंदू सिपाहियों ने

मस्जिदों को नष्ट कर दिया। दिल्ली की बड़ी जामे मस्जिद में सिख सिपाहियों की बारग बनाई गई। पाखाने और पेशाबखाने भी इसी के अंदर थे। मीनारों के नीचे हलवे पकाये जाते थे और सुअर भी काट कर पकाये जाते थे। अंग्रेज़ों के साथ कुत्ते अन्दर पड़े फिरते थे। एक मस्जिद ज़ीनतुल मस्जिद को गोरों का मिसकौट घर बनाया गया और नवाब हामीद अली खाँ की मशहूर मस्जिद में गधे बाँधे जाते थे। किले के नीचे एक बड़ी आलीशान मस्जिद अकबराबादी थी जो गिरा कर बिलकुल ज़मीन के बराबर कर दी गई। इसी तरह और बहुत सी छोटी छोटी मस्जिदों का ख़ात्मा हुआ।"

जब कंपनी की सेना के अत्याचारों से दिल्ली नगर उजड़ गया तब फिर उसे नये ढंग से बसाने के उपाय किये जाने लगे। चूँकि अंग्रेजों ने सभी को दिल्ली से निकाल दिया था इसलिए किसी में इतना साहस न था कि वह अपनी इच्छा से दिल्ली नगर में आबाद हो सकता। एक तो उन सबों ने यह सब अपनी आँखों से देख लिया था कि अंग्रेज़ कितने कठोर और अत्याचारी थे। दूसरे कत्लेआम और फाँसी की सजाओं से भी वे भयभीत हो चुके थे। तीसरे उन्होंने यह भी देख लिया था कि जिन लोगों का भरोसा अंग्रेज़ों पर था, उन लोगों को भी कंपनी के अत्याचारों का शिकार बनना पड़ा। चौथे वे यह समझ चुके थे कि जब तक अंग्रेज़ दिल्ली में हैं तब तक उनकी बहू-बेटियों की इज़्ज़त भी नहीं बच सकेगी। पाँचवें वे इस बात से भी डरते थे कि कम्पनी के सिपाहियों से सताये जाने पर भी उनकी कुछ भी सुनवाई न होगी। इसी लिए कोई भी दिल्ली में नहीं आना चाहता था।

धीरे-धीरे समय बीतता गया। अंग्रेजी सेना के सिपाहियों ने अपने अत्याचारों को कुछ कम कर दिया। दिल्ली को बसाना उचित समझा जाने लगा इसलिए सबसे पहले कुछ हिन्दुओं से अधिक जुर्माने ले लेकर उन्हें अपने अपने मुहल्लों में बसने की आज्ञा दे दी गई और उन पर सतर्क दृष्टि रखने का भी विशेष प्रबंध कर दिया गया। उन सबों के बस जाने और साधारण जीवन बिताने के ढंग समझ लेने पर दूसरे लोगों को भी बसाने के लिए उपाय किया जाने लगा। मार्च सन् १८५८ के पहले कोई भी मुसलमान दिल्ली नगर में नहीं घुसने पाता था किन्तु मार्च सन् १८५८ में मुसलमानों को पास लेकर नगर में बसाने के लिए आज्ञा मिल गई। हिन्दुओं के समान मुसलमान भी आकर बसने लगे किंतु फिर भी सन् १८५९ तक मुसलमानों के अपने सभी मकान कम्पनी की सरकार के ही अधिकार में थे और उन सब मुसलमानों पर विशेष रूप से सतर्क दृष्टि रखी जाती थी। वे एक सीमा के ही अंदर चल-फिर सकते थे क्योंकि दिल्ली नगर में किसी भी मुसलमान को बिना किसी अफ़सर के पास चलना फिरना मना था।

साधारणतया यह कहावत प्रसिद्ध है कि दिल्ली किसी की नहीं है और यह कई बार उजड़ी और फिर बसी। इन सब घटनाओं से प्रमाणित है कि कहावत में सच्चाई अवश्य है। जब जब भारतवर्ष में नई राज्य-क्रान्ति अथाव नवीन विप्लव को चरम-सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न सफलता के साथ किया गया तब-तब दिल्ली की यही दशा हुई। कुछ भी हो, अब हम दिल्ली के सम्बन्ध में और अधिक कहना आवश्यक नहीं समझ रहे हैं। केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि कम्पनी

सरकार ने जिस प्रकार दिल्ली को उजाड़ा था उसी प्रकार न सही तो कम से कम कुछ अंशों में अपनी संदिग्ध नीति के अनुसार उसे फिर से बसाने का प्रयत्न किया और उसी प्रयत्न का फल आधुनिक दिल्ली नगर है।

इस प्रसंग को यहीं से समाप्त कर हम दूसरे प्रसंग की ओर पाठकों का ध्यान ले जाना उचित समझते हैं। वह यह है कि किस प्रकार कम्पनी की सरकार ने दिल्ली के राजवंश का अन्त किया अथवा इसे यों समझ लेना चाहिए कि किस प्रकार सम्राट बाबर और सम्राट अकबर के उत्तराधिकारियों या वंशजों का अन्त हुआ।

जिस समय भारतवर्ष में कम्पनी की सरकार के विरुद्ध आन्दोलन और विप्लव का आरंभ हुआ उस समय दिल्ली के लाल क़िले के अंदर सम्राट बहादुरशाह के बन्धु-बान्धवों और कुटुम्बियों की संख्या बहुत ही बड़ी थी। इनमें से अनेक शाहज़ादों को पकड़ कर बिना किसी न्याय के फाँसी पर लटका दिया गया। कुछ ऐसे राजवंश के पुरुष फाँसी पर लटका दिये गये जिनसे विप्लव का न तो कोई सम्बन्ध था और न जो किसी आन्दोलन में भाग ले सकने के योग्य ही थे। उनका यदि कुछ अपराध था तो केवल इतना ही कि वे दिल्ली के राजवंश के थे।

इस कथन के प्रमाण में शाहज़ादे मिर्ज़ा क़ैसर का नाम लेना उचित है। शहज़ादा मिर्ज़ा क़ैसर सम्राट शाहआलम का एक बेटा था और इतना बूढ़ा था कि विप्लव में किसी भी प्रकार का भाग लेना उसके लिए सर्वथा असंभव था। उस निर्दोष बूढ़े शहज़ादे मिर्ज़ा क़ैसर को भी फाँसी दे दी गई।

इसी प्रकार शहज़ादे मिर्ज़ा मुहम्मदशाह को फाँसी पर लटका दिया गया। शहज़ादा मिर्ज़ा मुहम्मदशाह सम्राट अकबरशाह का पोता था और आजीवन गठिया का रोगी रहने के कारण सीधा खड़ा तक न हो सकता था। वह भी न्याय की दृष्टि से निरपराध था।

इनके अतिरिक्त कुछ शहज़ादों को जेल में रखा गया और उनसे चक्कियाँ पिसवाई गईं। जब वे शहज़ादे अपना काम पूरा न कर पाते थे तब उन पर कोड़ों की मार पड़ती थी। वे इतनी निर्दयता के साथ मारे जाते थे कि वे उस जीवन से मरण को ही अच्छा समझने लगे। अन्त में वही हुआ। कठोर हृदय वाले कम्पनी के अत्याचारी कर्मचारियों के अत्याचारों से वे एक प्रकार अधमरे-से हो गये। फिर भी उन पर कोड़ों की मार पड़ती ही रही। इस प्रकार वे बेचारे थोड़े ही दिनों में कोड़ों की मार खा-खाकर हमेशा के लिए जीवन को दुःखी बनाने वाली कैद से छुटकारा पा गये अर्थात् संसार को छोड़कर परलोक को सिधार गये।

सम्राट बहादुरशाह का एक बेटा मिर्ज़ा क़ोयाश एक दिन दिल्ली के समीप किसी जंगल में घोड़े पर सवार खड़ा दिखाई पड़ा। उसके सिर पर टोपी न थी और चेहरे पर धूल पड़ी हुई थी। हडसन उसकी खोज में बहुत दिनों से घूम रहा था फिर भी वह उसे न पा सका। उसके बाद आज तक पता न चला कि मिर्ज़ा क़ोयाश का क्या हुआ।

अनेक शहज़ादे और शहज़ादियाँ दिल्ली से बाहर इधर-उधर मारे-मारे फिर रहे थे। बहादुरशाह की एक बेटी राबेया बेगम थी। जब वह भूखों मरने लगी तब उसने हुसेनी नामक

दिल्ली के एक बावर्ची से शादी कर ली। बहादुरशाह की एक दूसरी बेटी फ़ातमा सुल्तान ईसाई पादरियों के एक लड़कियों के स्कूल में नौकरी करने लगी। जो शहज़ादियाँ अपने घरों में बैठकर हज़ारों रुपये की ख़ैरात करती थी वे थोड़े ही दिनों में भीख माँगती दिखाई देने लगीं।

इस प्रकार दिल्ली का राजवंश नष्ट किया गया और सम्राट बहादुरशाह, बेगम ज़ीनतमहल और शहज़ादे जवाँबख़्त को कैद करके रंगून भेज दिया गया। रंगून में अंग्रेजों की कैद में ही सन् १८६३ में सम्राट बहादुरशाह की मृत्यु हुई और उसके साथ-साथ दिल्ली के राजवंश का शेष चिन्ह संसार से मिट गया। इतना ही नहीं भारतवर्ष के लिए भी दुर्भाग्य और सौभाग्य का संघर्ष उपस्थित हो गया जो कि आज भी वर्तमान है।

—

रक्त का समुद्र लखनऊ

विप्लव के प्रधान केन्द्र दिल्ली के सम्बन्ध की घटनाओं का वर्णन करने से कुछ पूर्व हम अपने पाठकों को लखनऊ से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का वर्णन बता चुके हैं। जिस लखनऊ को हम दिल्ली के कारण छोड़ चुके थे उसी लखनऊ की ओर अब हम फिर अपने पाठकों को ले जाना चाहते हैं। यदि वीरता और बलिदान की दृष्टि से देखा जाय तो सन् १८५७-५८ के स्वाधीनता-संग्राम में दिल्ली की अपेक्षा लखनऊ का स्थान कहीं ऊँचा दिखने लगेगा। यदि दिल्ली से लखनऊ का पद अधिक ऊँचा न होता तो यह स्वप्न में भी संभव न था कि दिल्ली नगर के विप्लवकारियों तथा सम्राट बहादुरशाह के पतन होने के छ महीने बाद तक अवध और लखनऊ में स्वाधीनता का झण्डा फहराता रहता और कम्पनी की सरकार के अत्याचारी अंग्रेज चुपचाप यों ही बैठे रह जाते।

हमारे पाठक कदाचित चिनहट को न भूले होंगे और यह भी भली भाँति ध्यान में रखे होंगे कि किस प्रकार विप्लव-कारियों ने यहाँ के युद्ध में अंग्रेजों को पराजित किया था। हो सकता है कि पाठकों में से कुछ ऐसे भी हो, जो चिनहट और चिनहट के संग्राम को भूल गये हो अतएव संक्षेप में पुनरावृत्ति कर देना अनुचित न होगा।

सन् १८५७ की ३१ मई और १० जून के बीच केवल लख-नऊ शहर के एक भाग को छोड़कर शेष समस्त अवध अंग्रेजी

राज्य के पंजे से निकल गया था। लार्ड डलहौजी के बयान से जिस वाजिदअलीशाह को अत्याचारी और प्रजा को दुःख देने वाला प्रमाणित किया जा रहा था उसी बयान को काटते हुए अवध के निवासियों ने कम्पनी के झण्डे को फाड़ कर फेंक दिया था और वाजिदअलीशाह को फिर से अवध के सिंहासन पर बैठाने का वीरोचित प्रयत्न किया था और वे सब अवध के भिन्न-भिन्न भागों से आ-आकर लखनऊ की बेग़म हज़रत महल के झण्डे के नीचे जमा होने लगे। जब कानपुर में अंग्रेज़ हार गये और उनके हार जाने का समाचार २८ जून को लखनऊ पहुँचा तब लखनऊ के विप्लवकारियों ने अंग्रेजों पर आक्रमण करने के लिए चिनहट नामक स्थान पर चढ़ाई की। २६ जून को लोहे के पुल के पास कम्पनी की सेना से अत्यन्त घमासान संग्राम हुआ और उस संग्राम में अंग्रेजों की हार हुई।

उसी चिनहट नामक स्थान के युद्ध में विजयी होने के बाद अवध के निवासियों ने अंग्रेज़ी क़ैदी नवाब वाजिदअलीशाह के पुत्र बिरजिस क़द्र को लखनऊ के सिंहासन पर बैठा दिया नवाब बिरजिस क़द्र चूँकि उस समय नाबालिग़ था इसलिए अवध के शासन की बाग-डोर बिरजिस क़द्र की माँ बेगम हज़रत महल के हाथों में सौंप कर दी गई। अवध में जितने छोटे बड़े ज़मींदार थे उन सबों ने और अवध की समस्त प्रजा ने बड़ी प्रसन्नता के साथ बेगम हज़रत महल को अपनी अधीश्वरी स्वीकार कर लेने में ही अपना और अपने अवध का गौरव समझ लिया।

अवध की अधीश्वरी और नवाब बिरजिस क़द्र की माँ बेगम हज़रत की प्रशंसा करते हुए रसल लिखता है—"बेगम

में बड़ी पराक्रमशीलता और योग्यता दिखाई देती है। × × × बेगम ने हमारे साथ निरन्तर युद्ध करने की घोषणा कर दी है। इन रानियों और बेगमों की पराक्रमशीलता को देखकर मालूम होता है कि जनानखानों में रहकर भी ये विशेष रूप से अधिक मात्रा में क्रियात्मक मानसिक शक्ति अपने अन्दर पैदा कर लेती हैं।"

अवध के शासन की बागडोर अपने हाथ में लेते ही बेगम हज़रत महल ने सबसे पहले अवध के नये नवाब बिरजिसक़द्र की ओर से अवध के स्वतंत्र हो जाने का शुभ सन्देश भिन्न-भिन्न प्रकार के उपहारों के साथ सम्राट बहादुरशाह की सेवा में दिल्ली भेजा। इसके बाद उसने राजा बालकृष्णसिंह को अपना प्रधान मंत्री नियुक्त किया और उस कठिन समय में राज्य के समस्त मुहकमों की नये सिरे से सुव्यवस्था कर एक बार समस्त अवध में शान्ति और सुशासन को स्थापित कर दिया। उसके सुशासन की सभी ओर से प्रशंसा की जाने लगी।

जिन दिनों बेगम हज़रत महल के सुशासन से अवध में शान्ति का बोलबाला था उन्हीं दिनों अवध में रहने वाला अंग्रेजों का समूह और अवध का समस्त अंग्रेजी राज्य लखनऊ की रेज़िडेन्सी के अन्दर कैद किया जा चुका था। रेजिडेन्सी के बाहर समस्त अवध कम्पनी के शासन का कोई भी चिन्ह शेष न रह गया था। इतना ही नहीं, विप्लवकारियों की सेना ने रेजिडेन्सी को भी अपने घेरे में ले लिया था।

सन् १८५७ की २० जुलाई को लखनऊ के विप्लवकारियों की सेना ने रेजिडेन्सी के ऊपर हमले करने आरंभ कर दिये।

कई दिनों तक दोनों ओर से धुआँधार गोलियों की वर्षा होती रही और कई बार रेज़िडेन्सी के ऊपर का अंग्रेज़ी झण्डा टूट कर गिर पड़ा, किन्तु प्रत्येक बार उसके स्थान पर अंग्रेज़ों का का नया झण्डा लगा दिया गया। लखनऊ की रेज़िडेन्सी के अन्दर सिख सिपाही जी तोड़ कर अंग्रेज़ों की सहायता कर रहे थे। बाहर के भारतीय सैनिकों ने रेज़िडेन्सी के सिखों को अनेक बार समझा कर अपनी ओर करने का प्रयत्न किया किन्तु वे अपने प्रयत्न में असफल ही रहे।

लखनऊ के इन्हीं संग्रामों में एक दिन अवध का अंग्रेज़ चीफ़ कमिश्नर सर हेनरी लारेन्स, जो पंजाब के चीफ़ कमिश्नर सर जॉन लारेन्स का भाई था, विप्लवकारियों की गोली का निशाना बन गया और उसके परलोकवासी होते ही मेजर बैंक्स ने तुरंत अपने आपको आगे बढ़ाया और उसके रिक्त स्थान को पूर्ण करने के लिए उसके स्थान को ग्रहण कर लिया। थोड़े ही दिनों के बाद मेजर बैंक्स की भी वही दशा हुई अर्थात् उसको भी एक गोली लगी और वह भी इस संसार से चल बसा। रेज़िडेन्सी के अंग्रेज़ों में बड़ी उदासी छा गई। जीवन-रक्षा का कोई भी उपाय उन अंग्रेज़ों की समझ में नहीं आ रहा था। कुछ भी हो, विप्लवकारियों के हाथ में इस प्रकार पड़ जाने से युद्ध करके मरना ही रेज़िडेन्सी के अंग्रेज़ों ने उचित समझा। इसलिए जीवन और मरण, दोनों को ही समान समझकर ब्रिगेडियर इंगलिस ने मेजर बैंक्स के स्थान को ग्रहण किया। लिखा है कि इतने ही समय में विप्लवकारियों ने रेज़िडेन्सी की दीवार के कई भाग उड़ा दिये थे और रेज़िडेन्सी के भीतर के भी अनेक मकान विप्लवकारियों के गोलों से गिर कर

ढेर हो गये थे। यही एक मुख्य कारण था जिससे कि रेज़िडेन्सी के अन्दर रहनेवाले अंग्रेज़ों की दशा बड़ी ही चिन्ताजनक हो गई थी। सभी ओर से उन्हें नैराश्य ही नैराश्य दिखाई पड़ रहा था और वहाँ पर उन अंग्रेज़ों का कोई सहायक भी न था।

इस स्थल पर यह भी बतला देना उचित होगा कि रेज़िडेन्सी में रहने वाले अंग्रेज़ों ने सहायता के लिए बार-बार अपने गुप्त दूत कानपुर भेजे, जिनमें से कई दूत गिरफ़्तार कर लिये गये। २५ जुलाई को ब्रिगेडियर इंगलिस को सूचना मिली कि जनरल हैवलाक सहायता के लिए कानपुर से रवाना हो चुका है और पाँच या छः दिनों के भीतर लखनऊ पहुँच जायगा। किन्तु वह सूचना यों ही सूचना ही बन कर रह गई। लखनऊ के अंग्रेज़ों की सहायता के लिए पाँच छः दिनों के अंदर कोई नहीं आया बल्कि जनरल हैवलाक के आने के स्थान पर विप्लवकारियों ने फिर एक बार रेज़िडेन्सी पर बड़े ही भयानक रूप से चढ़ाई कर दी। रेज़िडेन्सी की दीवार का एक बहुत बड़ा भाग टूट कर गिर पड़ा। उसके गिर जाने पर वहीं रेज़िडेन्सी की दीवार के ऊपर तलवारों और संगीनों की भयानक लड़ाई होने लगी। कहा जाता है कि उस दिन की लड़ाई में विप्लवकारियों ने कई अंग्रेज़ सिपाहियों को संगीनें तक छीन लीं। किन्तु इस प्रकार बड़े साहस और अपूर्व वीरता के साथ युद्ध करने पर भी अंत में विप्लवकारी फिर शहर की ओर लौट गये।

इस लड़ाई के बाद विप्लवकारियों ने १८ अगस्त को तीसरी बार रेज़िडेन्सी पर चढ़ाई की। इस समय तक कानपुर से लखनऊ के अंग्रेज़ों की सहायता के लिए आनेवाले जनरल

हैवलाक और उसकी सेना का कहीं पता तक न था। लखनऊ की रेज़िडेन्सी के अंग्रेज नित्य उसकी राह देखा करते थे। इतने में ब्रिगेडियर इङ्गलिस को जनरल हैवलाक का एक पत्र मिला, जिसमें स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार लिखा हुआ था—"मैं अभी कम से कम २५ दिन और लखनऊ नहीं पहुँच सकता।" इस पत्र को पढ़ते ही रेज़िडेन्सी के अंग्रेजों की घबराहट चरम सीमा तक पहुँच गई। रेज़िडेन्सी के अन्दर खाने-पीने का जितना सामान था वह सब कम हो गया था और यहाँ तक कम हो गया था कि सब को भरपेट भोजन भी नहीं दिया जाता था किन्तु इतने पर भी जीवन की कोई आशा न थी। सभी चिन्ता से अधीर होने लगे थे।

इस प्रकार परिस्थिति के अनुकूल होते हुए भी विप्लवकारी इतने समय में न तो रेज़िडेन्सी पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सके और न वहाँ के समस्त अंग्रेजों को कैद या खत्म कर सके। इन्हीं सब बातों की आलोचना पूर्ण रूप से कर लेने के बाद यही कहना पड़ता है कि रेज़िडेन्सी और रेज़िडेन्सी के अंग्रेजों को जो अभी तक लखनऊ के विप्लवकारी न जीत सके इसका मुख्य कारण या तो यह था कि दिल्ली के समान लखनऊ में भी एक योग्य और प्रभावशाली सेनापति की कमी थी, या उन्हें कदाचित् यह विश्वास था कि भोजन-सामग्री की कमी और गोलों की आग से घबराकर अंग्रेज स्वयं आत्म-समर्पण कर देंगे। दूसरी ओर अंग्रेज जो कि लखनऊ की रेज़िडेन्सी में एक प्रकार जीवन और मरण के बीच में अपना समय बिता रहे थे, वे जनरल हैवलॉक और उसकी सेना के लिए आतुर हो रहे थे। इसलिए अब हम

भी जनरल हैवलॉक और उसकी सेना की ओर अपने पाठकों का ध्यान ले जाना चाहते हैं।

जनरल हैवलाक की बड़ी इच्छा थी कि वह तुरन्त लखनऊ जाकर वहाँ के अंग्रेज़ों की सहायता करे। कानपुर से लखनऊ पहुँचना कोई कठिन काम न था। इन दोनों शहरों का फ़ासला ४५ मील से भी कम है। जनरल हैवलॉक को पूरा भरोसा था कि वह दो चार दिनों में ही लखनऊ पहुँच जायगा। इसलिए लखनऊ के विप्लवकारियों द्वारा पराजित किये गये अंग्रेज़ों की सहायता करने के लिए २६ जुलाई सन् १८५७ को जनरल हैवलॉक कानपुर से डेढ़ हज़ार फ़ौज और तेरह तोपों के साथ निकल पड़ा और बड़े उत्साह के साथ अवध में प्रवेश करने के लिए गंगा को पार किया। किन्तु जैसे ही उसने गंगा को पार किया वैसे ही उसे विपरीत लक्षण दिखाई पड़ने लगे। अवध की वीर-भूमि में पैर रखते ही जनरल हैवलॉक की समझ में आ गया कि लखनऊ तक पहुँच सकना सरल नहीं है।

वास्तव में बात यह थी कि अवध की एक-एक इंच ज़मीन में स्वाधीनता के भावों की विकट अग्नि दहक रही थी। अवध के ज़मींदारों को जैसे ही यह ज्ञात हुआ कि लखनऊ के अंग्रेज़ों की सहायता करने के लिए कानपुर से जनरल हैवलॉक बड़े दल-बल के साथ चला आ रहा है वैसे ही एक-एक ज़मींदार ने अपने अधीन सौ-सौ दो-दो सौ या अधिक मनुष्य जमा करके हैवलॉक को रोकने का निश्चय कर लिया। कानपुर से लखनऊ तक जो मार्ग गया है उस मार्ग के प्रत्येक ग्राम के ऊपर स्वाधीनता का हरा झण्डा फहरा रहा था। यह सब देखकर जनरल हैवलॉक

और उसके सहायक सैनिक आगे बढ़ने का साहस खोने लगे थे। किसी प्रकार वे सब उन्नाव तक पहुँचे।

प्रसंगवश पाठकों से मुझ लेखक को भी उन्नाव से सम्बन्ध रखने वाली सन् १८५७ की घटनाओं का सुना हुआ वृत्तान्त बतलाना पड़ रहा है। अभी तक सन् १८५७ के विप्लव का समस्त वृत्तान्त नहीं जाना जा सका है। इसका मुख्य कारण यह है कि साधारणतया इतिहास के साहित्य में प्रधान-प्रधान पुरुष, प्रधान-प्रधान स्थान और प्रधान-प्रधान घटना को ही स्थान दिया जाता है और शेष पुरुष, स्थान और घटनाएँ यों ही विस्मृति के अंधकार में पड़ी रह जाती हैं।

संसार की प्रगति इतनी शीघ्रता से सृष्टि-चक्र के साथ हो जाती है कि उसे सिवा अपने भविष्य के और कुछ नहीं दिखाई देता। अपने अतीत को वह (संसार की प्रगति) इस प्रकार भूल जाना चाहती है जिस प्रकार कृतघ्न, विषय-लोलुप, स्वार्थी और नीचों की संगति में रहने वाला पुरुष अपने उपकारी के उपकार को, सामाजिक जीवन की साधारण लोक-मर्यादा को, शरण में आये हुए व्यक्तियों के प्रति अपने कर्तव्य को और अपने माता-पिता की सेवा करने की भावना को भूल जाता है। कुछ भी हो, जब जो वस्तु प्राप्त हो और उपयोगी हो तब उसे अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिए।

अब मैं अपने मुख्य विषय पर आता हूँ। मेरा जन्म ज़िला उन्नाव तहसील पुरवा, परगना घाटमपुर, थाना बारा के अन्तर्गत एक छोटे से गाँव में हुआ है। यह गाँव कानपुर से लगभग २० मील और उन्नाव से भी लगभग २० मील की दूरी पर पूर्व की ओर है। समीप ही श्री गंगा जी की धारा प्रवाहित है। इस

गाँव के उत्तर में मीलों लम्बी-चौड़ी बबूल के पेड़ों वाली हरी-भरी चरोखर जमीन है। छोटे-छोटे खेरे भी बसे हुए हैं जिनमें नरघुआ मुख्य है। दक्षिण में केवल श्री गंगा जी की धारा है। पूर्व में भागूखेरा, पिपरासर, डुडुहरा औह दरियाबाद आदि गाँव हैं और पश्चिम में गढ़ेवा, चन्दनपुर, पाही, बैदरा, खरौली, सातन, बेथर, अचलगंज और उन्नाव आदि स्थान हैं। इसी प्रकार पश्चिम में ही चन्दनपुर, बोल्हुआगाड़, निंबई आदि को पार कर कानपुर भी आ जाता है।

जिस भाग में मेरा जन्म-स्थान है उसे अवध में बैसवाड़ा भी कहते हैं क्योंकि अवध के इसी भाग में बैस ठाकुरों (क्षत्रियों) की ही आबादी अधिक है। जिस प्रकार बैस ठाकुर रणबाँकुरे तब थे और अब भी हैं उसी प्रकार वहाँ के ब्राह्मण भी रण-बाँकुरे तब भी थे और आज भी हैं। स्वाभिमानी पुरुषों को जन्म देने वाला अवध का यही भाग है और इसी भाग में पूर्व-जन्म के संस्कार से मुझ को भी जन्म लेना पड़ा। अपने जन्म के स्थान का पूरा परिचय दे चुकने के बाद भी एक बात अभी तक मैंने नहीं बतलाई। वह बात कुछ नहीं है, केवल जन्म-स्थान के गाँव का नाम है, किन्तु नाम बतलाने के पूर्व एक किम्बदन्ती का उल्लेख कर देना भी आवश्यक हो रहा है।

इसी पुस्तक में एक स्थान पर कानपुर की वेश्या अजीजन का नाम आ चुका है। पाठक कदाचित् इसे न भूले होंगे। इसी वेश्या अजीजन के सम्बन्ध में हम यह भी कह चुके हैं कि सन् १८५७ के विप्लव में इसका भी नाम प्रसिद्ध हो चुका है। यह वही वेश्या है जिसके सम्बन्ध में किसी-किसी इतिहास लेखक ने

यहाँ तक लिख दिया है कि वह हथियार बाँधती थी, घोड़े पर सवार होती थी, बिजली की तरह शहर की गलियों और छावनी में दौड़ती-फिरती थी। घायल सिपाहियों को दूध और मिठाई बाँटती थी। इतना ही नहीं अंग्रेज़ी क़िले की ठीक दीवार के नीचे लड़नेवालों के हौसले भी बढ़ाया करती थी। ऐसी यह कानपुर की वेश्या अज़ीज़न थी।

लोगों का कहना है कि इसी वेश्या अज़ीज़न की कई पीढ़ी पूर्व करीमन नाम की एक वेश्या कानपुर में हो चुकी है। कानपुर के किसी बड़े रईस से उसका लगाव था। उस रईस की धर्मपत्नी को यह पसंद न था कि उसका पति करीमन वेश्या से किसी भी प्रकार का लगाव रखे इसलिए उन दोनों में विच्छेद करने का वह नित्य नया उपाय सोचा करती थी। किसी समय उस स्त्री ने यह भी घोषणा करा दी कि जो कोई उसके पति और करीमन के बीच विच्छेद पैदा करा देगा उसे बहुत-सा धन इनाम में दिया जायगा। उसको उस घोषणा को सुनकर एक कथा-वाचक ब्राह्मण-युवक उस रईस की स्त्री के पास गया और विच्छेद कराने का बीड़ा उठा लिया। उस ब्राह्मण युवक ने भर्तृहरि के शृङ्गार का वर्णन उस रईस को सुनाया। जब रईस उस ब्राह्मण-युवक पर अटूट श्रद्धा करने लगा तब उसने भर्तृहरि शतक के वैराग्य का वर्णन आरंभ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वह रईस विरक्त हो गया और लोक-मर्यादा के अनुसार अपने गार्हस्थ्य जीवन को बिताने लगा। इधर वेश्या करीमन कानपुर छोड़ने को तैयार हो गई। नौका पर सवार होकर वह कानपुर से पूर्व की ओर चल पड़ी। चलते-चलते वह बहुत दूर आ गई और एक ऐसे स्थान पर आ

गई जहाँ कि गंगा जी के तट पर एक ब्रह्मचारी साधु रहता था। घटना-क्रम से उसी समय स्नान करने के लिए वह ब्रह्मचारी साधु गंगा की धारा में प्रवेश कर गया और तैरने के लिए धारा की कुछ गहराई को ओर बढ़ा किंतु प्रवाह की तीव्रता के कारण वह अपने को सम्भाल सकने में समर्थ न हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह धारा के प्रवाह में बह चला और सहायता के लिए चिल्लाने लगा। ठीक ऐसे ही समय में वेश्या करीमन की नौका उसके पास पहुँच जाती है। वह ब्रह्मचारी साधु नया जीवन लाभ करता है। दोनों परस्पर परिचित होते हैं। रात्रि में ब्रह्मचारी साधु को कुटी में विश्राम करने के लिए वेश्या करीमन अपने साथियों के साथ रुक जाती है। इतना ही नहीं, ब्रह्मचारी साधु के उपदेशों से प्रभावित होकर वह भी वैराग्य ले लेती है और वहीं रहने लगती है। उसके पुण्य और प्रताप से उसी स्थान पर एक गाँव बस गया और उस गाँव का नाम 'करमी' रखा गया। इसमें ब्राह्मणों की संख्या अधिक थी और उसी के पास एक गाँव 'गढ़ेवा' भी है जहाँ बैस ठाकुरों की प्राचीन गढ़ी थी, और जिसमें बैस ठाकुरों की संख्या अधिक थी। दोनों गाँवों में इतना मेल-जोल था कि सभी कामों में एक मत होकर लोग आगे बढ़ा करते थे। इसीलिए 'करमी-गढ़ेवा' का नाम भी सन् १८५७ के विप्लव में स्थानीय जनता के निकट विशेष महत्व का स्थान रखता है और यही गाँव मेरे जन्म का स्थान है।

इतना कहकर अब हम अपने मुख्य विषय पर आते हैं अर्थात् कानपुर से चलकर लखनऊ की ओर बढ़नेवाले जनरल हैवलॉक को रोकने के लिए उन्नाव में भिन्न मार्गों और उन्नाव

के भिन्न भागों से आ-आकर विप्लवकारी जमा होने लगे। जिला उन्नाव के तहसील खास और तहसील पुरवा के विप्लवकारी उन्नाव में आकर जमा हुए। तहसील हसनगंज और सफीपुर के आधे विप्लवकारी बिठूरघाट से लखनऊ जानेवाली सड़क के कई भागों में जमा होकर अपने शत्रु अंग्रेजों का सामना करने की प्रतीक्षा करने लगे।

उन्नाव खास में प्रतीक्षा करनेवाले विप्लवकारियों में यह प्रसंग चलने लगा कि जो सबसे पहले अंग्रेजों को हरा देगा उसे शुद्ध और उच्च वंश का मान लिया जायगा अन्यथा जो कायरता दिखायेगा उसे कलंकित और नीच वंश का समझा जायगा। इसीलिए सभी आगे बढ़कर मोर्चा जीतना चाहते थे।

सन् १८५७ के विषय के लेखों से प्रमाणित है कि जनरल हैवलॉक को कानपुर से लखनऊ के मार्ग में सब से पहली लड़ाई उन्नाव में ही लड़नी पड़ी। बड़ी भयानक लड़ाई हुई। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों और बैस ठाकुरों ने मिलकर अंग्रेजों के दाँव खट्टे कर दिये। लखनऊ बढ़ने के जितने इरादे जनरल हैवलॉक के मन में थे, वे सब बात की बात में समाप्त हो गये। किसी प्रकार प्राणों की रक्षा भी कर सकना कठिन हो गया। अंग्रेजों और अंग्रेजों का साथ देने वाले सैनिक मैदान छोड़ कर भाग गये इधर विप्लकारी सिपाही भी अपने-अपने निश्चित स्थानों को चले गये। उन सबों के उन्नाव से चले जाने पर जनरल हैवलाक अपने छिपे हुए सैनिकों को संकेत के साथ जमाकर ज्यों-त्यों कर पुनः आगे बढ़ा। आगे बढ़कर कुछ दूर तक जाते ही बशीरतगंज में विप्लवकारी फिर मिल गये। उनके मिलते ही पुनः भयानक युद्ध होने लगा। कहा जाता है कि उन्नाव और

बशीरतगंज के ये दोनों ही संग्राम २६ जुलाई सन् १८५७ को हुए थे और इन दोनों ही संग्रामों में जनरल हैवलाक की सेना का एक छठा भाग ख़त्म हो गया था। इसके बाद ३० जुलाई सन् १८५७ को जनरल हैवलाक को बशीरतगंज से भी पीछे हटकर अपनी सेना सहित मगड़वारे में आकर ठहरना पड़ा।

इधर लोगों के मुँह से जब नाना साहब ने यह समाचार सुना कि जनरल हैवलाक विप्लवकारियों से अंग्रेजों की रक्षा करने के लिए अपनी सेना के साथ लखनऊ की ओर जा रहा है तब उसने फिर एक बार कानपुर पर आक्रमण करने की तैयारी करना आरंभ कर दिया। विवश होकर जनरल हैवलाक को अपने बचे हुए सैनिकों के साथ मगड़वारे में ४ अगस्त तक ठहर जाना पड़ा। आगे बढ़ने का कोई उपाय था ही नहीं।

इसके बाद किसी प्रकार साहस करता हुआ जनरल हैवलाक फिर लखनऊ की ओर बढ़ा। विप्लवकारियों ने उसे फिर बशीरतगंज में ही घेर लिया। दोनों ओर के सैनिक बड़ी बहादुरी से साथ एक दूसरे पर टूट पड़े। भयानक युद्ध होने लगा। इस दिन के संग्राम में भी जनरल हैवलाक के तीन सौ सैनिक मारे गये। उसके साथ के डेढ़ हज़ार सिपाहियों में से अब केवल साढ़े आठ सौ शेष बच रहे। हतोत्साह होकर जनरल हैवलाक ने आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया और निरुपाय अवस्था में उसे फिर दूसरी बार गंगा की ओर पीछे लौट आना पड़ा। ऐसे उन्नाव के रहने वाले विप्लवकारी थे और इन्हीं विप्लवकारियों के साहस तथा वीरता से अवध की भूमि आज भी अपने को गौरवान्वित समझती है। उन्नाव का एक-एक बच्चा उस समय अपने देश के शत्रु अंग्रेजों के लिए

भयंकर हो रहा था। अवध की जिस ग्रामीण जनता के पराक्रम के सम्बन्ध में इतिहास लेखक इन्स "कम से कम अवध-निवासियों के युद्ध को हमें स्वाधीनता का युद्ध मानना पड़ेगा" ऐसा लिखता है। वह ग्रामीण जनता ज़िला उन्नाव की ही ग्रामीण जनता थी।

११ अगस्त को जनरल हैवलाक तीसरी बार बशीरतगंज की ओर बढ़ा। इस बार उसने बड़ी वीरता के साथ बढ़ने का निश्चय कर लिया था किन्तु जैसे ही वह बशीरतगंज के समीप पहुँचा वैसे ही उन्नाव की ग्रामीण जनता ने उस पर धावा बोल दिया। दशो दिशाओं में 'मारो फिरंगी को ! मारो फिरंगी को !' यही शब्द गूँजने लगे। ऐसी भयानक लड़ाई हुई मानों मारने वाले साक्षात् सब का संहार करने वाले प्रलयंकर शंकर के ही स्वरूप बन गये हों। तीसरी बार का यह मोर्चा बड़ा ही कठिन हो गया। उन्नाव-निवासियों अथवा अवध निवासियों के साथ का यह मोर्चा जनरल हैवलाक के लिए प्राण-घातक-सा सिद्ध होने लगा। किसी प्रकार इस बार भी अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए वह पीछे हट आया और मगड़वारे में आकर रुक गया।

इतने ही समय के अन्दर नाना साहब के समीप सागर, ग्वालियर आदि स्थानों की पर्याप्त सहायता पहुँच चुकी थी। सहायता को पाते ही नाना साहब ने अपने मन में फिर से नये साहस का संचार किया और नवीन पराक्रम को अपनाते हुए किसी दूसरे स्थान में गंगा को पार कर पुनः एक बार कानपुर पर आक्रमण कर दिया। जनरल नील उस समय भी कानपुर में ही था किन्तु वह नाना साहब का सामना भली भाँति कर सके ऐसी शक्ति और इतनी सेना उसके पास न थी। उसने तुरंत जनरल हैवलाक को नाना साहब के इस प्रकार आक्रमण कर

देने की सूचना भेज दी। सूचना के ही कारण अब जनरल हैवलाक के लिए लखनऊ की ओर बढ़ सकना सभी प्रकार से असंभव हो गया इसलिए १२ अगस्त को पुनः गंगा पार कर जनरल हैवलाक को कानपुर लौट आना पड़ा।

जैसे ही जनरल हैवलॉक ने गंगा को पार किया वैसे ही उन्नाव की ग्रामीण जनता ने अपने को विजयी समझ लिया। हड़हा अचलगंज, बेथर, पड़री, सातन, सिकन्दरपुर, कोल्हुआ-गाड़, खरौली, बैदरा, बरमी-गढ़ेवा, दरियाबाद, अलीपुर और डौंड़ियाखेरा आदि ग्रामों के निवासी परस्पर हर्षोल्लास के साथ उत्सव मनाने लगे। इतना ही नहीं, उन सबों में से कुछ विप्लव-कारी लखनऊ भी पहुँचकर इस शुभ समाचार को सुना आये। परिणाम यह हुआ कि जनरल हैवलाक के गंगा पार जाते ही अवध-निवासियों के हौसले कई गुने अधिक हो गये।

इतिहास लेखक इन्स लिखता है, "अवध से हमारी सेना के लौट आने का परिणाम वह हुआ जिसका हैवलॉक को निस्सन्देह अनुमान तक न था। ताल्लुकेदारों ने प्रकट रूप से इसका अर्थ यह समझ लिया कि अंग्रेजों ने अवध का प्रांत छोड़ दिया है। अब उन्होंने लखनऊ दर्बार को यथाविधान अपनी रचनात्मक सरकार स्वीकार कर लिया और यह भी सत्य है कि उस सरकार की सहायता के लिए वे स्वयं लखनऊ नहीं पहुँचे किंतु फिर भी लखनऊ दर्बार की जिन आज्ञाओं का पालन उन सबों ने आज तक नहीं किया था, उन सभी आज्ञाओं का पालन वे सब अब करने में तत्पर हो गये थे। लखनऊ दर्बार ने जितने-जितने सैनिक इन सबों से माँगे थे, उतने-उतने सैनिकों को अब इन सबों ने संग्राम के लिए लखनऊ भेज दिये थे।

इतिहास के विद्वानों का यह मत है कि अवध के ताल्लुकेदारों पर जो यह आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा था उसका समस्त श्रेय उन्नाव और बशीरतगंज में अंग्रेजों को हराने वाले वीरों का ही है। यही एक कारण है कि उन्नाव की ग्रामीण जनता में साहस, पराक्रम, वीरता स्वाभिमान और निर्भीकता के गुण स्वभाव से ही अटूट थे ऐसा मानना पड़ेगा। लोगों का भी कहना है कि अवध के ज़मींदारों और ताल्लुकेदारों पर पड़ने वाला यह अभूतपूर्व प्रभाव वास्तव में उन्नाव और बशीरतगंज की ग्रामीण जनता की वीरता का ही परिणाम था।

इधर जैसे ही जनरल हैवलाक ने कानपुर में प्रवेश किया वैसे ही उसे सूचना मिली कि नाना साहब ने फिर से बिठूर पर अपना अधिकार जमा लिया है। इस सूचना को पाने पर १७ अगस्त को जनरल हैवलाक ने नाना साहब की सेना पर चढ़ाई कर दी। दोनों ओर के सैनिक युद्ध के लिए तैयार थे ही अतएव एक घमासान युद्ध के बाद दोनों ओर की सेनाओं को पीछे हट जाना पड़ा। इस प्रकार उस युद्ध में पीछे हटने और पीछे हटने के कारणों पर पूर्ण रूप से विवेचना करने पर जनरल हैवलाक को विश्वस्त-सूत्र से पता चल गया कि यमुना के किनारे कालपी में भी नाना साहब ने एक विशाल सेना को जमा कर रखा है है और वह सेना सभी प्रकार से अंग्रेजों को जीत सकने में समर्थ है। इसीलिए कहना पड़ता है कि अगर जनरल हैवलाक लखनऊ की ओर चला गया होता तो नाना साहब के लिए तुरंत कानपुर में पुनः अपना अधिकार जमा लेने में न तो कोई विशेष कठिनाई होती और न अधिक समय ही लगता। जनरल नील के पास तो कुछ था ही नहीं। जैसे ही नाना साहब अपने

सैनिकों के साथ उस पर आक्रमण करते वैसे ही वह मैदान छोड़ देता।

कुछ भी हो, यमुना के किनारे कालपी में नाना साहब की छिपाई हुई सेना का पता मालूम करते ही जनरल हैवलाक घबरा गया। घबराहट की दशा में हो उसने तुरंत इस संदेशे को कलकत्ते भेज दिया, 'हम लोग एक भयंकर आपत्ति में पड़े हुए हैं। अगर और अधिक सेना सहायता के लिए न पहुँची तो अंग्रेजी सेना को लखनऊ का विचार छोड़ कर इलाहाबाद लौट आना पड़ेगा क्योंकि इस भयंकर आपत्ति से बचने का और कोई दूसरा उपाय नहीं है।"

जब तक कालपी में नाना साहब अंग्रेजों को जीतने की तैयारी कर रहा था तब तक जनरल हैवलाक के संदेशे पर चार ही सप्ताह के भीतर सर जेम्स ऊटरम और अधिक सेना लेकर जनरल हैवलाक की सहायता करने के लिए १५ सितम्बर को कलकत्ते से कानपुर पहुँच गया।

सर जेम्स ऊटरम के कानपुर पहुँचते ही जनरल हैवलाक के जी में जी आया। नये साहस और नये विचारों का संचार भी होने लगा। उसने कानपुर की रक्षा के लिए थोड़ी-सी सेना कानपुर में ही छोड़ दी। बची हुई सेना को लेकर २० सितम्बर को उसने फिर कानपुर से लखनऊ की ओर प्रस्थान किया। पाठकों को स्मरण होगा कि सब से पहले २५ जुलाई को लखनऊ के लिये जनरल हैवलाक ने गंगा को पार किया था। दो महीने लगातार प्रयत्न करने पर भी वह उन्नाव की ग्रामीण जनता द्वारा पराजित किये जाने के कारण लखनऊ की ओर बढ़ने में सफल नहीं हो सका और विवश होकर उसे बार-बार कानपुर

की ओर लौट आना पड़ा किंतु इस स्थल पर ध्यान देने योग्य बात यही है कि २५ जुलाई की जैसी अंग्रेज़ी सेना थी वैसी सेना २० सितम्बर की न थी। उस समय की सेना में और इस समय की सेना में अर्थात् २५ जुलाई को लखनऊ जाने वाली अंग्रेज़ी सेना में और २० सितम्बर को लखनऊ जाने वाली अंग्रेज़ी सेना में बहुत अधिक अंतर था। उस समय जनरल हैवलाक अकेला ही लखनऊ की ओर बढ़ने के लिए कानपुर से चल पड़ा था किन्तु इस समय उसकी सहायता के लिए नील ऊटरम, कूपर और आयर जैसे चार-चार अनुभवी सेनापति भी उसके साथ थे। ढाई हजार अंगेज़, सिखों की एक पलटन और एक से एक अच्छी तोपें भी हैवलाक के साथ थीं।

ऐसी तैयारी के साथ कानपुर से चला था जनरल हैवलाक और इधर अवध के विचार और व्यवस्था ही दूसरे प्रकार की हो चुकी थी। वास्तव में बात यह थी कि अवध के कई सरहदी ताल्लुकेदारों ने यह समझ लिया था कि कम्पनी की सेना ने सदा के लिए अवध का प्रान्त छोड़ दिया है और अपने इसी विचार के विश्वास पर उन सबों ने इतने ही समय के अन्दर अपने-अपने समस्त सैन्य-दल को लखनऊ भेज दिये थे। इतने पर भी उन्नाव, बशीरतगंज इत्यादि स्थानों पर अवध के निवासियों ने पहले के ही समान एक-एक पग ज़मीन पर कम्पनी की सेना का विरोध किया। परंतु विवशता इस बात की थी कि लड़ने वाले तो सभी लखनऊ चले गये थे, शेष जो ग्राम-निवासी थे, वे बिना किसी नेता के लड़ रहे थे और उस दशा में भी उनके पास हथियारों की भी बड़ी कमी थी। उन ग्राम-निवासियों का अकेलापन और हथियारों का अभाव ऐसा घातक

सिद्ध होने लगा कि वे बेचारे ग्रामीण कम्पनी की इस विशाल और हथियारों से सुसज्जित तथा सुव्यस्थित सेना का सामना करने पर भी सफल न हो सके। परिणाम यह हुआ कि कम्पनी से विरोध करने वाले जमींदारों और ग्राम के निवासियों की लाशों से समस्त मार्ग पट गया। अंग्रेजों ने जिस-जिस गाँव पर स्वाधीनता के हरे झण्डे को फहराते हुए देखा उस-उस गाँव में आग लगा कर उसे राख का ढेर बना दिया। रास्ते में जितनी नदियाँ पड़ती थीं वे सब दोनों ओर के सैनिक के मरने-कटने और घायल होने के कारण रक्त के रंग से लाल हो गईं। इस प्रकार मारते-काटते और आग लगाते हुए अर्थात् किसी न किसी प्रकार मार्ग को चीरते हुए २३ सितम्बर को कम्पनी की सेना लखनऊ के समीप आलमबाग नामक स्थान पर पहुँच गई। यहाँ आने पर हैवलॉक ने साँस ली।

आलमबाग लखनऊ का वह स्थान था जहाँ अंग्रेजों की सेना पहुँचने से पहले ही विप्लवकारियों की एक पलटन ठहरी थी। यही एक कारण था कि उस दिन अर्थात् २३ सितंबर को दिन भर रात भर और अगले दिन भयानक रूप से घमासान संग्राम हुआ। ठीक ऐसे ही समय दिल्ली में अंग्रेजों का पुनः अधिकार हो जाने का समाचार लखनऊ पहुँचा और इसी समाचार से अंग्रेजों के हौसले अधिक बढ़ गये।

हर्ष और विषाद के बीच में रात बीतने लगी। इसके बाद २५ सितंबर का प्रातःकाल हुआ। जब अंग्रेजों की सेना ने यह समझ लिया कि आलमबाग के विप्लवकारी सैनिकों को जीत सकना लोहे के चने तोड़ने से भी अधिक कठिन काम है तब

उन सबों के आलमबाग से थोड़ी दूर हटकर कुछ चक्कर से रेजीडेंसी की ओर बढ़ना चाहा। उनके उस अभिप्राय को समझ कर लखनऊ के विप्लवकारी सैनिकों ने मुड़कर उन सबों पर गोले बरसाने आरंभ कर दिये। फिर भो अंग्रेजी सेना गोलों की इस भयानक बौछार में से वोरता के साथ निकलती हुई चारबाग के पुल तक आ पहुँची।

पुल के दूसरे पार लखनऊ का शहर था। यही एक कारण था कि चारबाग के पुल के ऊपर विप्लवकारियों और अंग्रेजों के बोच भयंकर संग्राम हुआ। पुल के इस पार अंग्रेजों की सेना थी और पुल के उस पार विप्लवकारियों की सेना थी। दोनों ही ओर से बड़े जोरों के साथ गोले बरसने लगे। दोनों ही ओर के हताहतों की संख्या अधिक ऊँची हो गई। इसी चारबाग के संग्राम में जनरल हैवलाक का एक पुत्र भी बड़ी वीरता के साथ लड़ रहा था। अंग्रेजों की ओर जानों की हानि बहुत अधिक हुई फिर भी अन्त में अंग्रेजी सेना अपनी और विपक्षी की लाशों के ऊपर से पुल को पार कर गई। पुल के दूसरी ओर जाने पर भी एक-एक क़दम पर संग्राम होता रहा। इन्हीं संग्रामों में से एक स्थान पार अर्थात् खास बाज़ार में किसी विप्लवकारी की गोली जनरल नोल की गर्दन में आकर लगी और उस गोली के लगते ही जनरल नील तुरंत धरती पर गिर पड़ा और परलोक को सिधार गया। जनरल नील की मृत्यु अंग्रेजी सेना के लिए एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य था किन्तु अंत में अंग्रेजी सेना बढ़ते-बढ़ते रेज़िडेन्सी के अंदर पहुँच गई।

जैसे ही अंग्रेजी सेना ने रेज़िडेन्सी के अंदर प्रवेश किया वैसे ही रेज़िडेन्सी के अन्दर जितने अंग्रेज थे सभी के हर्ष की

सीमा न रही। विप्लवकारियों द्वारा ८७ दिन के लगातार घिरे रहने के कारण रेज़िडेन्सी के सात सौ आदमी मर चुके थे। उस समय वहाँ लगभग पाँच सौ अंग्रेज और चार सौ भारतीय सैनिक मौजूद थे जिनमें से अनेक घायल थे और हैवलाक की सेना में जो कानपुर से चली थी, रेज़िडेन्सी तक पहुँचते-पहुँचते ७२२ आदमी मारे जा चुके थे। फिर भी लखलऊ रेज़िडेन्सी के हताश अंग्रेज़ों की सहायता के लिए पहुँच जाना जनरल हैवलाक और उसके साथियों के लिए कुछ कम हर्ष की बात न थी किन्तु फिर भी एक बार पुनः जनरल हैवलाक को भयानक रूप से निराश होना पड़ा।

वास्तव में बात यह थी कि जनरल हैवलाक और उनके साथियों के रेज़िडेन्सी पहुँच जाने पर भी विप्लवकारियों द्वारा रेज़िडेन्सी घिरा ही रहा। वह समाप्त नहीं हो सका बल्कि हैवलाक के रेज़िडेन्सी में पहुँचते ही लखनऊ की विप्लवकारी सेना ने फिर एक बार रेज़िडेन्सी को उसी प्रकार चारों ओर से घेर लिया जिस प्रकार जनरल हैवलाक के आने से पहले घेर रखा था। परिणाम यह हुआ कि जनरल हैवलाक और उसकी सेना अब स्वयं रेज़िडेन्सी के अंदर क़ैद हो गई और इस प्रकार रेज़िडेन्सी के अंदर क़ैदियों की संख्या पहले से कहीं अधिक बढ़ गई और लखनऊ का शेष नगर तथा अवध का समस्त प्रदेश पहले के ही समान स्वाधीन रहा।

इन्हीं दिनों सर कालिन कैम्पबेल कम्पनी की सेनाओं का नया प्रधान सेनापति (कमाण्डर-इन-चीफ़) नियुक्त होकर १३ अगस्त को कलकत्ते पहुँचा। मद्रास, बम्बई, लंका और चीन से बुलाकर कलकत्ते में नई-नई अंग्रेजी पलटनें जमा की गईं।

क़ासिम बाज़ार के कारखाने में नई तोपें ढाली गईं। इस प्रकार की तैयारी करने में नवीन प्रधान सेनापति सर कालिन कैम्पबेल को दो महीने का समय लग गया। जब पूर्ण रूप से तैयारी हो गई तब २७ अक्टूबर सन् १८५७ को जनरल हैवलाक और ऊटरम जैसे सेनापतियों तथा अन्य अंग्रेज़ों को लखनऊ की रेजिडेन्सी वाली .क़ैद से मुक्त कराने और लखनऊ को फिर से विजय करने के लिए कैम्पबेल स्वयं कलकत्ते से लखनऊ की ओर चल पड़ा। साथ ही साथ एक जहाज़ी बेड़ा भी कर्नल पावल और कप्तान पील के अधीन कलकत्ते से इलाहाबाद की ओर भेजा गया। कहा जाता है कि इस बेड़े को भी कई स्थानों पर विप्लवकारियों से लड़ना पड़ा और इन्हीं लड़ाइयों के स्थानों में से किसी एक स्थान पर कर्नल पावल मारा गया।

इधर ३ नवम्बर को प्रधान सेनापति सर कालिन कैम्पबेल अपने दल बल के साथ कानपुर पहुँच गया। कानपुर पहुँचते ही कैम्पबेल ने अत्यन्त विशाल पैमाने पर सेना जमा करने का काम आरंभ कर दिया और सेना जमा करने का यह काम विशेष रूप से ब्रिगेडियर जनरल ग्राण्ट के अधीन और देख-रेख में होने लगा। धीरे-धीरे कलकत्ते से चलने वाला जहाज़ी बेड़ा भी इलाहाबाद होता हुआ कानपुर पहुँच गया। दिल्ली की अंग्रेज़ी सेना इस समय तक विप्लवकारियों के चंगुल से मुक्त हो चुकी थी इसीलिए जनरल ग्रेटहेड इस सेना के साथ दिल्ली से कानपुर तक मार्ग के विप्लवकारियों का दमन करता हुआ कानपुर पहुँच गया।

एक अंग्रेज़ इतिहास लेखक लिखता है कि विप्लव के आरंभ से लेकर नवम्बर तक दिल्ली के पूर्व का समस्त प्रदेश विप्लवकारियों

के अधिकार में था किन्तु उनके उस अधिकार से जनता को कोई कष्ट न पहुँचा था। वह इतिहास लेखक लिखता है—"लोग न केवल खेती बाड़ी करते ही रहे बल्कि अनेक जिलों में इतने विशाल पैमाने पर करते रहे, जिससे अधिक कि उन्होंने पहले कभी न की थी। वास्तव में सिवाय इसके कि विप्लवकारी अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर लेते थे, वे देश-वासियों पर किसी भी प्रकार का अन्याय करने का साहस न करते थे।"

किन्तु ऐसे शस्य-श्यामल, धन-धान्य से पूर्ण और सुखद प्रान्त को मानवता का विध्वंसक जनरल ग्रेटहेड ने दिल्ली से कानपुर तक की यात्रा में रास्ते के समस्त ग्रामों को जलाने और निरपराध जन-साधारण का संहार करने के निर्मम कार्यों से नष्ट करके अत्याचारियों के संसार में जनरल नील को भी न्यून प्रमाणित कर दिया। इस छोर से उस छोर तक उसकी दानवी सेना ने ग्रामवासियों का पशुओं के समान शिकार किया। लोग प्राणों की रक्षा करने के लिये भागते फिरते थे और अंग्रेज सैनिक उनका पीछा करके गोलियों से उनका शिकार किया करते थे। यदि कोई जंगलों में छिपता था तो उसे हिरण समझ कर मारते थे, यदि कोई पेड़ पर चढ़कर अपने प्राण छिपाता था तो उसे पक्षी समझ कर गोली का निशाना बनाते थे और यदि कोई पानी में डुबकी लगाकर बचना चाहता था तो उसे मछली समझ कर गोलियों से मारते थे। वे यह नहीं समझ रहे थे कि जिन मनुष्यों का वे संहार कर रहे थे वे भी उन्हीं के समान मनुष्य थे। युद्ध के जितने नियम हैं उनका भी उल्लंघन कर अंग्रेज-सैनिक अपने को वीर समझने का प्रयत्न कर रहे थे! अपने अत्याचारों को ही वे अपनी सभ्यता का

आदर्श समझने लगे थे। पापी जितना पाप कर सकता है उससे भी अधिक पाप करना ही वे दानवी अंग्रेज अपना धर्म मानते थे इसीलिए निरपराध और बेहथियार की जनता पर गोली चलाने में उन्हें रंचमात्र भी क्लेश नहीं होता था। इतना कह कर हम इस दुःखद वृत्तान्त को यहीं से समाप्त करते हैं क्योंकि इससे अधिक हमें इस दुःख उत्पादक वृत्तान्त को विस्तार के साथ कहने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

इस घटना के बाद का वृत्तान्त इस प्रकार का कहा जाता है कि सब से पहले जनरल ग्राण्ट अपनी नई विशाल सेना के साथ लखनऊ के आलमबाग़ में पहुँचा। कानपुर और कालपी के बीच वाले स्थानों में नाना साहब जो कुछ प्रयत्न कर रहे थे उसके सम्बन्ध में हम इस स्थल पर कुछ नहीं कहना चाहते क्योंकि उसके लिए हम आगे चलकर कुछ कहना चाहेंगे। इस सम्बन्ध में पाठक अधीर न होंगे, ऐसी आशा है। किन्तु इतना अवश्य ध्यान में रखना होगा कि कैम्पबेल नाना साहब के प्रयत्नों को दबाने का उपाय सोचने लगा था इसीलिए उसने अंग्रेजों को थोड़ी-सी सेना और कुछ सिखों की सेना तथा कुछ तोपों को जनरल विनढम के अधीन कानपुर की रक्षा के लिए छोड़ दिया था और स्वयं जनरल ग्राण्ट के पीछे-पीछे गंगा पार कर ६ नवम्बर सन् १८५७ को आलमबाग़ पहुँच गया। यह लखनऊ के अंग्रेजों के लिए विशेष संकट का समय था। विप्लवकारियों की व्यवस्था और युद्ध की प्रणाली इतनी सफल थी कि किसी भी व्यक्ति के लिए रेजिडेन्सी के क़ैदी अंग्रेजों के साथ किसी भी प्रकार से पत्र-व्यवहार तक कर सकना भी संभव न था। कई दिनों तक बाहर से आकर जमा होनेवाली अंग्रेजी सेना यों ही

लखनऊ में पड़ी रही। समाचार पहुँचाना और फिर समाचार लाना, वह भी रेज़िडेन्सी में जाकर! बड़ा ही कठिन कार्य था। उपाय सोचते-सोचते अंत में उपाय निकाल लिया गया। कैम्पबेल ने कैवेना नामक एक अंग्रेज़ का मुँह काला किया। जब उसका मुँह भली भाँति काले रंग में रँग दिया गया तब उसे हिन्दुस्तानी कपड़े पहनाये गये और फिर रात में अपने पक्ष के किसी एक हिन्दुस्तानी गुप्तचर के साथ रेज़िडेन्सी में उसे भेज दिया। किसी प्रकार अपने प्राणों को संकट में डालकर वे दोनों रेज़िडेन्सी में पहुँच गये। कैवेना ने वहाँ से लौटकर कैम्पबेल को रेज़िडेन्सी के क़ैदी अंग्रेज़ों का सारा हल कह सुनाया।

कैवेना से समस्त वृत्तान्त को सुनकर १४ नवम्बर को कैम्पबेल की सेना ने रेज़िडेन्सी की ओर बढ़ना शुरू किया और इधर हैवलाक तथा ऊटरम ने भीतर से विप्लवकारी सेना पर भयानक रूप से आक्रमण कर दिया।

उधर रेज़िडेन्सी के भीतर से लखनऊ के विप्लवकारी सैनिकों पर आक्रमण हुआ और उधर से कैम्पबेल की सेना ने बाहर की ओर से आक्रमण करना और दबाना आरंभ कर दिया। कम्पनी की सेना में इस समय हैवलाक, ऊटरम, पील, ग्रेटहेड, दिल्ली प्रसिद्ध हडसन, होपग्राण्ट आयर और प्रधान सेनापति सर कालिन कैम्पबेल जैसे युद्ध-विद्या-विशारद सेना-पतियों के अतिरिक्त इंग्लैण्ड और चीन आदि से आई हुई नई अंग्रेज़ी पलटनें तथा दिल्ली की अनुभवी, अंग्रेज, सिख और अन्य पंजाबी पलटनें भी थीं। इतनी सब शक्ति के रहने पर भी कम्पनी की सेना अपनी सफलता की आशा पर संदेह ही करती थी।

१४ नवम्बर के संध्या-समय तक कैम्पबेल की सेना दिलखुश बाग़ पहुँची। १६ नवम्बर को इस सेना ने सिकन्दरबाग़ पर चढ़ाई की। इसके बाद ही एक अत्यन्त घमासान युद्ध हुआ और उस युद्ध में अपनी अपनी जीत के लिए विप्लवकारी सैनिकों ने और कम्पनी की ओर से लड़नेवाले सिखों ने उत्तम प्रकार की वीरता दिखाई। सब से पहले एक सिख सिपाही ही गोलों और गोलियों की बौछार के अन्दर से सिकन्दरबाग़ की दीवार पर चढ़ता हुआ दिखाई पड़ा और उसके दीवार पर चढ़ते ही सामने से उसकी छाती में एक गोली लगी और वह साहसी सिख सैनिक उसी समय वहीं ढेर हो गया। उसके ढेर होने के बाद जनरल कूपर और जनरल लम्सडेन भी उसी दीवार पर मारे गये किन्तु इतने सब क्रूर, वीभत्स और भय-उत्पादक कृत्यों के होने पर भी अन्त में अपने साथी सैनिकों की लाशों पर से कूदते हुए सिख और अंग्रेज़ दोनों ही सिकन्दरबाग़ के भीतर प्रवेश कर गये। उन सब के प्रवेश करते ही कम्पनी की दूसरी सेना ने भी एक दूसरी ओर से बाग़ में प्रवेश किया। सिकन्दरबाग़ की हिन्दुस्तानी सेना और अंग्रेज़ी सेना में घमासान युद्ध होने लगा। सिकन्दरबाग़ की विप्लवकारी हिन्दुस्तानी सेना ने जिस अनुपम और अद्भुत वीरता के साथ उस दिन सिकन्दरबाग़ की रक्षा को उसका वर्णन शब्दों द्वारा कर सकना संभव नहीं है। संकेत-मात्र कर देने के लिए हम इतिहास लेखक मालेसन के ही कथन को यहाँ पर उद्धृत कर देना उचित समझते हैं। इतिहास लेखक मालेसन लिखता है, "(सिकन्दरबाग़ नाम के) इस बाड़े पर अधिकार करने के लिए जो युद्ध हुआ वह अत्यंत रक्त-पातात्मक था और जीवन को हथेली पर रख कर लड़ा

गया। विप्लवकारियों ने अपने जीवन पर खेलकर पूर्ण वीरता के साथ संग्राम किया। हमारी सेना रास्ता चीरती हुई अंदर चली गई, फिर भी संग्राम बन्द नहीं हुआ। प्रत्येक कमरे के लिए, प्रत्येक सीढ़ी के लिए और मीनारों के एक-एक कोने के लिए संग्राम होता रहा। न किसी ने किसी से दया की भिक्षा की आशा की और न किसी ने किसी पर दया की। अन्त में जब आक्रमण करनेवाली सेना ने सिकन्दरबाग़ पर अधिकार कर लिया तब दो हज़ार से ऊपर विप्लवकारी सैनिकों की लाशों के ढेर उनके चारों ओर पड़े हुए थे। कहा जाता है कि जितनी सेना सिकन्दरबाग़ की रक्षा के लिए नियत थी उसमें से केवल चार आदमी अपनी जगह छोड़कर निकल गये किन्तु इन चार का बाग़ छोड़कर जाना भी सन्देह-जनक है।"

इस प्रकार सिकन्दरबाग़ के संग्राम का वृत्तान्त है और सभी यह कहते हैं कि लखनऊ का सिकन्दरबाग़ उस दिन वास्तविक रक्त का विशाल सरोवर बना हुआ था। सिकन्दरबाग़ के संग्राम के बाद भी २४ घंटे तक दिलखुशबाग़, आलमबाग़ और शाहनजफ़ में घमासान संग्राम होते रहे। अन्त में नौ दिन के लगातार संग्राम के बाद २३ नवम्बर को सर कालिन कैम्पबेल की सेना और रेज़िडेन्सी के भीतर की अंग्रेज़ी सेना दोनों ही एक दूसरे से मिल गईं। कहा जाता है कि यदि दिल्ली का पतन न हुआ होता तो अंग्रेज़ों के हौसले न बढ़ते और न विप्लवकारी नेताओं का उत्साह भंग होता। अतएव दिल्ली का पतन ही अवध के पतन का मुख्य कारण बन गया था।

लखनऊ का समस्त शहर उस समय रक्त के सागर में तैरता हुआ दिखाई पड़ रहा था। रेज़िडेन्सी के अंग्रेज़ क़ैद से

छुटकारा पा गये किन्तु फिर भी समस्त शहर अभी तक विप्लवकारियों के अधिकार में था। इन्हीं दिनों अर्थात् २४ नवम्बर को जनरल हैवलाक की मृत्यु हो गई। सर कालिन कैम्पबेल ने रेज़िडेन्सी को छोड़कर आलमबाग़ में अपनी सेना और तोपों को जमा किया, ऊटरम को वहाँ का सेनापति नियुक्त किया, और लखनऊ शहर पर आक्रमण करने की तैयारियाँ करना आरम्भ कर दिया किंतु नाना साहब के प्रसिद्ध मराठा सेनापति तात्यां टोपे द्वारा कानपुर की अंग्रेजी सेना के हटाये जाने के समाचार से वह विचलित हो गया और लखनऊ में ऊटरम को छोड़कर सीधा कानपुर के लिए चल पड़ा।

—

तात्या टोपे और कैम्पबेल के संग्राम

जिस प्रकार रक्त के समुद्र में तैरता हुआ दिखाई देने वाला लखनऊ शहर सर कॉलिन कैम्पबेल के आक्रमण से थोड़े से समय के लिए बच गया उसी प्रकार वहाँ की घटनाओं का वर्णन भी रुका जा रहा है क्योंकि हमारा घटना-चक्र ही कुछ इसी प्रकार का होता-सा चला आ रहा है। लखनऊ की रेजिडेन्सी को अपने अधिकार में कर लेने के बाद कैम्पबेल की इच्छा थी कि समस्त विप्लवकारियों के अधिकार से लखनऊ शहर को छीनकर कम्पनी के अधिकार में कर लिया जाता और इसीलिए ऊटरम को वहाँ का सेनापति बनाकर उसने अपनी सेना और तोपों को आलमबाग़ में जमा करना आरम्भ कर दिया था किंतु 'अपनी ओटी होत नहिं, हरि ओटी तत्काल' वाली कहावत ही चरितार्थ हो गई। यदि इस कहावत को चरितार्थ न होना होता तो कैम्पबेल को लखनऊ में समाचार न मिलता कि नाना साहब के मराठा सेनापति तात्या टोपे ने कानपुर पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में कर लिया है ऐसी दशा में जब कैम्पबेल ही लखनऊ से कानपुर की ओर बढ़ने को तैयार हो गया तब हमें भी लखनऊ को छोड़कर और जिस समय की घटनाओं का वर्णन कर रहे थे उस समय से कुछ समय थोड़ा पीछे हटकर तात्या-टोपे और सर कालिन कैम्पबेल के युद्धों का वर्णन करना होगा।

पाठकों को यह स्मरण होगा हा कि लार्ड कैनिंग ने उत्तरी भारत के विप्लव का दमन करने के लिए इलाहाबाद को अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण स्थान समझ लिया था इसीलिए विप्लव के शान्त हो जाने के समय तक के लिए उसने इलाहाबाद को ही अपनी राजधानी नियत किया था। इतना ही नहीं इलाहाबाद को राजधानी नियत करने से पहले ही वह एक विशाल सेना के साथ जनरल नील को बनारस की ओर रवाना कर चुका था। जनरल नील और उसके सैनिकों ने कितने गाँव जलाये, कितनी स्त्रियों और कितने बच्चों की हत्याएँ कीं तथा कितने प्रकार से क्रूर यातनाएँ दे-देकर निरपराध जनता के प्राण लिये, इन सब का वर्णन हम कर ही चुके हैं और यह भी बतला चुके हैं कि जनरल नील बनारस होता हुआ किस प्रकार इलाहाबाद आया तथा उसने कितने अत्याचार इलाहाबाद में भी किये। वही अत्याचारी जनरल नील इलाहाबाद से कानपुर भी गया था और उसकी सहायता के लिए जून के अन्त में इलाहाबाद पहुँचने वाला जनरल हैवलाक भी कानपुर की ओर चल पड़ा था। वह भी अत्याचार करने और गाँव को जलाने वाले कामों में जनरल नील से भी बढ़कर था।

१० जुलाई को जनरल हैवलाक अपनी विशाल सेना के साथ कानपुर के समीप पहुँच गया था। नाना साहब ने स्वयं सेना लेकर हैवलाक का सामना किया था। कदाचित् इन सब घटनाओं को पाठक भूले न होंगे। उसी जनरल हैवलाक की विशाल सेना से पराजित होकर नाना साहब अपने भाई बालासाहब, भतीजे रावसाहब, सेनापति तात्या टोपे, घर की स्त्रियों और खज़ाने के साथ १७ जुलाई को सवेरे विठूर से निकल कर फतहपुर की ओर चला गया था और कुछ लोग समझने लगे थे कि वह फतहगढ़ की ओर चला गया है।

कुछ भी हो, यद्यपि नाना साहब जनरल हैवलॉक की विशाल सेना से पराजित हो चुका था और यह भी समझ चुका था, कि हैवलाक के सैनिक अधिक युद्ध-विद्या में कुशल हैं फिर भी वह हतोत्साह नहीं हुआ था, इसलिए जनरल हैवलॉक पर फिर से आक्रमण करने के लिए वह सेना जमा करने लगा था। सब से पहले उसने अपने प्रसिद्ध मराठा सेनापति तात्या टोपे को शिवराजपुर भेजा।

शिवराजपुर पहुँचकर तात्या टोपे ने कम्पनी की ४२ नम्बर पलटन को अपनी ओर कर लिया। इसी पलटन की सहायता से उसने फिर एक बार बिठूर पर जाकर अधिकार जमा लिया था। इतना ही नहीं, जनरल हैवलॉक की जिस विशाल सेना के सामने नाना साहब को एक बार पराजित होना पड़ा था उसी विशाल सेनापर भी आक्रमण कर दिया और उस समय जब कि जनरल हैवलॉक अपने दल-बल के साथ लखनऊ जाना चाहता था। परिणाम यह हुआ कि तात्या टोपे के आक्रमणों से जनरल हैवलॉक विचलित-सा हो गया और उसने लखनऊ जाने का विचार को छोड़ दिया और आगे न बढ़ कर पीछे ही हट जाने में अपना और अपने सैनिकों का हित समझ लिया किन्तु बदला लेने के भाव को न छोड़ सका।

नाना साहब के सेनापति तात्या टोपे से बदला लेने की भावना को जनरल हैवलॉक अपने मन को उसी प्रकार सेता रहा जिस प्रकार पक्षी अपने घोंसले में बैठकर अंडे सेते रहते हैं। तात्या टोपे पर आक्रमण करने के जितने भी उपाय वह सोचता था, सभी व्यर्थ सिद्ध होने लगे थे। अन्त में १६ अगस्त का दिन आया। किसी प्रकार मन में साहस का संचार करते हुए उसने

अपनी सेना को तात्या पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। उससे उचित प्रोत्साहन पाकर उसी दिन उसकी सेना ने तात्या टोपे और उसकी सहायक सेना पर भयानक रूप से अचानक आक्रमण कर दिया। उस अचानक आक्रमण से तात्या टोपे को अपने आप सम्हाल सकने का भी अवसर न मिला, सहायक सैनिकों को कौन सम्हालता! फिर भी थोड़ी देर तक संग्राम हुआ। दोनों ही पक्ष के सैनिक हताहत हुए और अंत में १६ अगस्त को ही जनरल हैवलॉक की सेना ने तात्या टोपे की सेना पर विजय प्राप्त कर ली। परिणाम यह हुआ कि तात्या टोपे को अपनी बची हुई सेना के साथ फिर बिठूर (कानपुर) से भाग जाना पड़ा। बिठूर से भाग कर वह नाना साहब के पास फ़तहपुर पहुँचा और आदि से लेकर अन्त तक अपने जय और पराजय के समाचारों को कह सुनाया।

अपने सेनापति तात्या टोपे के मुँह से युद्ध के समस्त वृत्तांतों को सुनकर भी नाना साहब स्थिर बना रहा। इसके बाद नाना साहब के परामर्श से तात्या टोपे गुप्तरीति से फ़तहपुर को छोड़ कर सीधा ग्वालियर पहुँच गया। ग्वालियर-राज्य की सीमा में पहुँचते ही उसमें पुनः वीरता के भाव स्वाभाविक ढंग से उत्पन्न होने लगे। उसे यह विश्वास होने लगा कि वह अपने शत्रु अंग्रेज़ों को अवश्य पराजित कर सकेगा। भावावेश के कारण नहीं, बल्कि ग्वालियर-राज्य की परिस्थिति का आवलोकन करने पर उसकी ऐसी धारणा होने लगी थी। अपनी इसी धारणा को लेकर वह सफलता प्राप्त करने के उपायों को सोचने लगा। सोचते-सोचते उसका उदास मुख-मंडल सहसा हर्ष उत्पन्न होने के कारण प्रसन्न हो गया। वह चुपचाप प्रसन्नता के भावों के साथ

अपने स्थान से उठ पड़ा और ग्वालियर के निकट मुरार की जो छावनी थी, उसमें तुरंत प्रवेश कर गया।

जिन दिनों तात्या टोपे मुरार की छावनी में गया था उन्हीं दिनों उस छावनी में सींधिया की विशाल सेना थी और उस सेना में पैदल पलटनें, स्वार और तोपखाना था। तात्या टोपे ने जैसे ही यह सब देखा वैसे ही वहाँ के सैनिकों और सेना के अफ़सरों से मिला। अंग्रेजों के अधिकार से भारत को मुक्त कराना ही उस समय के प्रत्येक सैनिक का धर्म था, ऐसा उसने समझाया। इसके साथ ही साथ अपने सभी प्रयत्नों और हार-जीत के युद्धों का भी वर्णन किया। नाना साहब आदि की बातें भी कह सुनाईं। अंग्रेजों के अत्याचारों का भी वर्णन किया। देशी राजाओं के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किये। परिणाम यह हुआ कि तात्या टोपे ने ग्वालियर के निकट वाली मुरार की छावनी के समस्त सैनिकों को विप्लव की ओर तोड़ लिया। वे सब सैनिक तात्या टोपे की बातों से प्रभावित हो गये और उसके आदेश का पालन करने में ही अपना गौरव समझने लगे।

इस प्रकार उन सब सैनिकों को प्रभावित कर और अपनी भावनाओं के अनुकूल बनाकर उन सबों के साथ तात्या टोपे मुरार से कालपी आया। कालपी में आते ही वह रुक गया। कालपी का किला यमुना के उस पार था और वहाँ से कानपुर ४६ मील की दूरी पर था। इसलिए युद्ध की दृष्टि से कालपी का क़िला अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान पर था। यही एक कारण था कि ६ नवम्बर को तात्या टोपे ने कालपी के किले को अपने

अधिकार में कर लिया और नाना साहब आदि को भी इसकी सूचना भेज दी।

अब नाना साहब ने कालपी को ही अपने विप्लवकारियों क केन्द्र बनाया। बाला साहब को वहां पर नियुक्त कर दिया गया और कालपी से सेना लेकर तात्या टोपे फिर एक बार कानपुर की ओर बढ़ा। इसमें सन्देह नहीं कि धैर्य, पराक्रम, शीघ्रता और अन्य भारतवासियों को अपने पक्ष में करने की अद्भुत शक्ति में तात्या अपने समय में अद्वितीय था।

जनरल विनढम उन दिनों कानपुर में ही था। १६ नवम्बर के दिन सेनापति तात्या टोपे ने विनढम को घेर कर उसके पास बाहर से रसद आदि का पहुँच सकना असंभव कर दिया। विनढम अपनी सेना के साथ तात्या टोपे से युद्ध करने के लिए कानपुर से निकल पड़ा। २६ नवम्बर को पाण्डु नदी के ऊपर तात्या और विनढम की सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। कहा जाता है कि पहली बार में तात्या टोपे का ही अधिक नुक़सान हुआ किन्तु मराठा सेनापति तात्या टोपे की योग्यता को स्वीकार करते हुए इतिहास लेखक मॉलेसन लिखता है—

"विद्रोही सेना का सेनापति मूर्ख न था। विनढम ने उसे जो हानि पहुँचाई उससे डर जाने के स्थान में वह अंग्रेज सेनापति की दुर्बलता को भली भाँति समझ गया। × × × तात्या टोपे ने उस समय विनढम की स्थिति और उसकी आवश्यकताओं को इतनी अच्छी तरह पढ़ लिया जिस तरह कोई खुली किताब को पढ़ता है। तात्या में एक सच्चे सेनापति के स्वाभाविक गुण मौजूद थे। उसने विनढम को इन दुर्बलताओं से लाभ उठाने का इरादा कर लिया।"

दूसरे दिन तात्या टोपे की सेना ने विनढम की सेना को तीन ओर से घेर लिया और फिर पीछे हटाना आरंभ कर दिया। यहाँ तक कि बढ़ते-बढ़ते आधा कानपुर सेनापति तात्या टोपे के अधिकार में आ गया। इसके बाद तीन दिन के लगातार संग्राम के पश्चात् कानपुर का समस्त नगर फिर एक बार तात्या टोपे के अधिकार में आ गया और विनढम की सेना को हार पर हार खाकर मैदान से भाग जाना पड़ा। अंग्रेज़ी सेना के अनेक अफ़सर भी इन तीन दिनों के संग्राम में मारे गए।

तीसरे दिन की लड़ाई और अंग्रेज़ी सेना की पराजय के सम्बन्ध का वर्णन करते हुए एक अंग्रेज़ अफ़सर ने अपने किसी पत्र में लिखा था कि, "आज के युद्ध का वृत्तान्त पढ़कर आपको आश्चर्य होगा। इससे आपको मालूम होगा कि किस प्रकार अंग्रेज़ी सेना अपनी विजय-पताकाओं, अपने आदेश वाक्यों और अपनी प्रसिद्ध वीरता के साथ पीछे हटा दी गई। उन भारतवासियों ने, जिन्हें हम तुच्छ समझ रहे हैं, और चिढ़ाते रहे हैं, अंग्रेज़ी सेना से उसका कैम्प, उसका सामान और मैदान सब कुछ छीन लिया! शत्रु को अब यह कहने का अधिकार प्राप्त हो गया है कि फिरंगी पिट गये। ये पिटे हुए फिरंगी, अपनी खाइयों में लौट आये, उनके खेमे उलट दिए गए, असबाब छीन लिया गया, सामान ले लिया गया, ऊँट, हाथी, घोड़े, और नौकर उन्हें छोड़ कर भाग गए। यह समस्त घटना अत्यंत शोकजनक और अपने को ही लज्जित करने वाली है।"

कानपुर की अंग्रेज़ी सेना के इसी पराजय से सर कालिन कैम्पबेल विशेष रूप से चिन्तित हो गया और समस्त लखनऊ

शहर पर अधिकार कर लेने के विचार को छोड़कर तुरंत लखनऊ से कानपुर का ओर चल देना पड़ा था। कैम्पबेल के लखनऊ छोड़कर कानपुर की ओर आने के समाचार को पाते ही तात्या टोपे ने उसको मार्ग में ही रोकने के लिए गंगा पर बने हुए पुल को ही तोड़ दिया और गंगा के ऊपर तोपें लगा दीं। फिर भी कैम्पबेल तात्या टोपे की तोपें से बचकर और एक दूसरे ही स्थान से गंगा को पार कर ३० नवम्बर को कानपुर के निकट पहुँच गया। इस समय तक नाना साहब भी अपने सेनापति तात्या टोपे का साहायता के लिये कानपुर पहुँच गया था।

इतिहास लेखक मालेसन लिखता है कि सेनापति की हैसियत से तात्या टोपे की स्वाभाविक योग्यता बहुत ही अधिक थी। गंगा के किनारे ही उसने कैम्पबेल की सेना को जाकर घेर लिया। पहिली दिसम्बर से छः दिसम्बर तक अत्यंत घमासान संग्राम होता रहा। दोनों ओर की सेनाओं की संख्या लगभग बराबर ही थी तात्या टोपे की दाहिनी ओर ग्वालियर की सेना थी। अंत में यह सेना अंग्रेजों और सिखों के संयुक्त आक्रमणों से घबरा कर पीछे हटने लगी। मैदान सर कालिन कैम्पबेल के हाथ रहा। कानपुर के नगर पर फिर से कम्पनी का अधिकार हो गया है।

तात्या अपनी रही-सही सेना को लेकर कालपी की ओर चला गया। सर कालिन कैम्पबेल ने इस बार बिठूर के महलों को गिराकर जमीन के बराबर चौरस कर दिया अर्थात् उनके नाम व निशान तक मिटा दिये।

अवध और रुहेलखंड में दमन

दिल्ली के पतन के बाद विप्लवकारियों की अधिकांश सेना अवध और रुहेलखण्ड में इधर-उधर जमा होती जा रही थी। सच कहा जाय तो भारतवर्ष का यही प्रदेश इस समय विप्लव का सबसे अधिक महत्वपूर्ण गढ़ बनता जा रहा था। विप्लवकारियों से पूर्ण इस प्रदेश को फिर से अपने अधिकार में लाने के लिए विजय करने से पूर्व आवश्यक था कि अवध के पश्चिम में दिल्ली से पूर्व के समस्त इलाक़े को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया जाय।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए कई अंग्रेज सेनापति पृथक्-पृथक् सैन्य-दल लेकर दिल्ली, कानपुर इत्यादि स्थानों से भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर निकल पड़े। ग्रामीण जनता को अपने अधीन करने और उन पर अपने बल का आतंक जमाने के लिए इन अंग्रेज सेनापतियों ने स्थान-स्थान पर उसी प्रकार के उपायों का उपयोग किया जिस प्रकार के उपायों का उपयोग नील, हैवलाक और ग्रेटहेड जैसे अंग्रेज सेनापतियों ने इनसे पूर्व किया था। दमन के इन समस्त प्रयत्नों में इटावा और फर्रुखाबाद की घटनाएँ विशेष वर्णन करने योग्य हैं।

जनरल वालपोल थोड़ी सी सेना और कुछ तोपों को अपने साथ लेकर १८ दिसम्बर को कानपुर से कुछ उत्तर दिशा की ओर बढ़ा। रास्ते में विप्लवकारियों के साथ कई स्थानों में छोटे-मोटे संग्राम हुए। इनमें इटावे के समीप मार्ग के ही ऊपर एक छोटा सा मकान था जिसकी छत पर और दीवारों के अन्दर

सूराखों में बन्दूकें लगी हुई थीं। उस मकान के भीतर केवल २५ विप्लवकारी भारतीय सैनिक थे और वालपोल के साथ एक सुशिक्षित, सुव्यवस्थित तथा अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित एक सेना और कई तोपें थीं। इतना सब होते हुए भी इन २५ विप्लवकारी भारतीय सैनिकों ने बिना युद्ध किये वालपोल को एक क़दम आगे बढ़ने न दिया। उनके पराक्रम और उनकी वीरता के सामने अंग्रेज़ सेनापति वालपोल को भी झुक जाना पड़ा इस-लिए उसने उन सबों से सुलह करना चाहा किन्तु उन वीरों ने उसके इस प्रस्ताव को स्वीकार न किया। जब सुलह का प्रस्ताव स्वीकार न हुआ तब वालपोल को युद्ध करना ही पड़ा। सब से पहले उन सबों को तोपों से भयभीत करने का प्रयत्न किया गया किन्तु वह सब प्रयत्न अपने उद्देश्य में सफल न हो सका क्योंकि वे सब विप्लवकारी जिस स्थान पर थे उसी स्थान पर डटे रहे। इटावे के इन २५ वीरों और वहाँ की शेष घटना के विषय में इतिहास लेखक मालेसन लिखता है—

"ये लोग गिनती में थोड़े-से थे, इनके पास केवल साधारण बन्दूकें थीं किन्तु उनके अन्दर एक उत्साह था जो आततायियों के उत्साह से भी कहीं अधिक भयंकर था—वे अपने पवित्र उद्देश्य के लिए शहीद होने का दृढ़ संकल्प कर चुके थे। × × × उनके मकान के भीतर हाथ से बम फेंके गये। बाहर भूसा जला कर उन लोगों को धुएँ में घोंट देने का प्रयत्न किया गया, जिससे वे निकल आवें किन्तु सब व्यर्थ हुआ। सूराखों के भीतर से विप्लव-कारी अपने आक्रमणकारियों के ऊपर लगातार और बड़ी शीघ्रता से आग बरसाते रहे। इन्होंने उन्हें तीन घण्टे तक रोक रखा। अंत में उस मकान को उड़ा देने का निश्चय किया

गया। × × × मकान के उड़ने से उनके रक्षकों को जिस यश की अभिलाषा थी, वह उन्हें प्राप्त हो गई। वे सब शहीद हो गये और सब के सब उसी मकान के खँडहरों में दफ़न हो गये।"

इधर फर्रुखाबाद के नवाब ने अपनी स्वधीनता का एलान कर रखा था इसलिए अंग्रेज़ों की ओर से यह निश्चय हुआ कि तीन ओर से वालपोल, सीटन और स्वयं कैम्पबेल के अधीन तीन सैन्यदल पहुँचकर फर्रुखाबाद को राजधानी फतेहगढ़ को घेर लें। जैसा निश्चय हुआ था उसी के अनुसार कार्य भी किया गया। परिणाम यह हुआ कि फतहगढ़ में कई दिनों तक घमासान युद्ध होता रहा। रक्त से धरती को रंग देने वाले युद्धों के हो जाने पर अंत में १४ जनवरी सन् १८५८ को अंग्रेज़ों ने फतहगढ़ को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया और साथ ही साथ वहाँ के नवाब को भी क़ैद कर लिया गया।

इतिहास लेखक फ़ार्ब्स मिचेल लिखता है कि फर्रुखाबाद के मुसलमान नवाब को फाँसी देने से पहले उसके समस्त शरीर पर सुअर की चर्बी मल दी गई थी।

नाना साहब का एक मुख्य सेनापति नादिरखाँ भी इसी स्थान पर गिरफ़्तार हुआ और फाँसी पर चढ़ा दिया गया। इतिहास लेखक चार्ल्स बाल लिखता है कि फाँसी पर चढ़ते समय नादिर खाँ ने "हिन्दुस्तान के लोगों को क़सम दी कि तलवार खींचकर और अंग्रेज़ों को बाहर निकाल कर अपनी स्वाधीनता को फिर से स्थापित करें।

इन्हीं दिनों के आस-पास को बात है कि राजधानी दिल्ली के अन्दर फिर से नई जान कुछ अंशों में दिखाई पड़ने लगी।

सहसा ऐसी अफ़वाह उड़ी कि नाना साहब सम्राट बहादुरशाह को क़ैद से छुटकारा दिलाने के लिए दिल्ली की ओर चला आ रहा है। इस सम्बन्ध में चार्ल्स बॉल लिखता है कि इस अफ़वाह को सत्य मान कर बहादुरशाह के अंग्रेज़ पहरेदारों को गुप्त आज्ञाएँ इस आशय की दे दी गईं कि यदि वास्तव में नाना दिल्ली के समीप पहुँचने लगे तो तुम लोग तुरंत बूढ़े सम्राट को गोली से उड़ा देना।

दिल्ली से इलाहाबाद तक यमुना नदी के किनारे का प्रदेश प्रायः सब फिर से अंग्रेजों के अधिकार में आ चुका था। इस लिए कैम्पबेल के लिए अब रुहेलखंड और अवध को जीतना ही शेष रह गया था। इस समय सभी ओर से देखने पर लखनऊ ही विप्लव का सबसे अधिक प्रधान केन्द्र था। २६ फ़र्वरी सन् १८५८ को कैम्पबेल फिर कानपुर से लखनऊ की ओर बढ़ा। लखनऊ की इस यात्रा के समय उसके साथ २७००० पैदल, लगभग ५०० सवार और १३४ तोपें थीं। अंग्रेज़ इतिहास लेखक लिखते हैं कि इतनी विशाल सेना अवध के मैदानों में इससे पूर्व और कभी दिखाई न दी थी। इस सेना में अधिकतर अंग्रेज़, सिख और कुछ अन्य पंजाबी थे। रसल नाम का एक अंग्रेज़ लिखता है कि इस सेना ने मार्ग में अनेक गाँव के गाँव बारूद से उड़ा दिये। किन्तु इतने पर भी यह विशाल सेना लखनऊ को फिर से जीतने के लिये प्रर्याप्त नहीं समझी गई। पश्चिम की ओर से यह विशाल सेना और पूर्व की ओर से एक विशाल गोरखा सेना सेनापति जंगबहादुर के अधीन लखनऊ की ओर शीघ्रता के साथ बढ़ी चली आ रही थी।

विप्लव के आरंभ में ही अंग्रेज़ों ने नैपाल के दर्बार से

सहायता के लिए प्रार्थना की थी। इसके कुछ समय पूर्व अर्थात् नैपाल युद्ध के समय अवध के नवाब ने कम्पनी को लगभग ढाई करोड़ रुपये की सहायता दी थी। उस समय अवध के नवाब द्वारा कम्पनी को दी गई सहायता ही संभव है कि नैपालियों के दिलों में खटकती रही हो और अवध के निवासियों से बदला चुकाने का उन्हें यह एक उचित अवसर दिखाई दिया हो।

सबसे पहले अगस्त सन् १८५७ में तीन हजार गोरखा सेना पूर्व में आज़मगढ़ और जौनपुर उतर आई किन्तु विप्लव कारियों के नेता मुहम्मद हुसेन, बेनीमाधव और नादिरखाँ ने सफलता के साथ इस सेना से लड़कर पूर्वीय अवध की रक्षा की। लिखा है कि उसके बाद जंगबहादुर और अंग्रेजों में कुछ विशेष समझौता हो गया।

२३ दिसम्बर सन् १८५७ को ६००० नई गोरखा सेना जंगबहादुर के अधीन पूर्व की ओर से लखनऊ की ओर बढ़ी। इसके अतिरिक्त उसी ओर से दो और सैन्यदल कंपनी की सेना के एक जनरल फ्रैंक्स के अधीन और दूसरा जनरल रोक्राफ्ट के अधीन लखनऊ की ओर पूर्ण उत्साह के साथ बढ़े। २५ फ़र्वरी सन १८५८ को ये तीनों विशाल सैन्यदल घाघरा नदी को पार कर अम्बरपुर पहुँचे।

अम्बरपुर एक छोटा क़िला था, जिसमें केवल ३४ भारतीय विप्लवकारी सिपाही थे। इन मुट्ठी भर भारतीय सिपाहियों ने नैपाल की विशाल सेना को जो आगे थी, युद्ध के लिए आमंत्रित किया। नैपाली सेना ने अम्बरपुर के उस नन्हें से किले पर आक्रमण किया। उनके उस प्रकार के धर्मयुद्ध विरोधी

आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि वे सब ३४ भारतीय वीर अपने देश के दुश्मनों से लड़ते-लड़ते मर गये किन्तु न तो पीठ दिखाई और न अपने स्थान से डिगे ही।

कहा जाता है कि अम्बरपुर के इस युद्ध में नैपाली सेना के भी सात सैनिक मरे और ४३ सैनिक घायल हुए। इसके बाद अम्बरपुर के किले पर नैपाली सेना का अधिकार हो गया। लखनऊ की ओर बढ़ती हुई शत्रु सेनाओं का समाचार पाकर लखनऊ दर्बार ने ग़फ़ूरबेग को जनरल फ्रैंक्स से युद्ध करने और उसे रोकने के लिए कुछ सेना देकर तुरंत भेजा। सुलतानपुर आदि स्थानों पर अनेक भयानक संग्राम हुए। अंत में नैपालियो और अङ्गरेज़ों की यह सम्मिलित विशाल सेना पूर्वीय अवध पर विजय प्राप्त करती हुई आगे की ओर बढ़ी। मार्ग में एक दुर्ग दौरारे का था। अपने साथ के सैन्य-दल सहित जनरल फ्रैंक्स इस दौरारे के दुर्ग को विजय करने के लिए आगे बढ़ा किन्तु बिना समझे-बूझे दुर्ग को विजय करने के लिए बढ़ने का का यह फल हुआ कि जनरल फ्रैंक्स का सारा अभिमान चकना चूर हो गया। इस दौरारे के दुर्ग के मैदान में ऐसा घमासान युद्ध हुआ कि अंग्रेज़ सेनापति को अपनी छठी का दूध याद आने लगा। उसके सभी सैनिक युद्ध करते-करते हताश हो गये और अन्त में दौरारा से फ्रैंक्स को पराजित होकर पीछे हट जाना पड़ा और उसके इस पराजय के समाचार से कैम्पबेल उस पर विशेष रूप से क्रुद्ध और असंतुष्ट हुआ। उसने उसे दंड देना निश्चित् किया और तुरंत उसकी पदवी कम कर दी। दौरारे के युद्ध के बाद दूसरी ओर से चक्कर खाकर कम्पनी की सेना लखनऊ जीतने की आशा लेकर आगे की ओर बढ़ती रही।

अंग्रेज़ों द्वारा निर्दोष भारतीय स्त्री-पुरुषों पर कोड़े की मार

इन सब घटनाओं और छोटे-बड़े सभी प्रकार के युद्धों के बाद ११ मार्च सन १८५८ को पश्चिम की ओर से कैम्पबेल की विशाल सेना और पूर्व की ओर से गोरखा और अंग्रेजी सेनाएँ सब लखनऊ के समीप आकर मिल गईं। लखनऊ शहर के अन्दर नवम्बर सन् १८५७ से मार्च १८५८ तक स्वाधीनता का संग्राम लगातार हो रहा था। अवध की अधिकांश जनता और वहाँ के लगभग सभी राजा, ज़मींदार और ताल्लुकेदार अदम्य उत्साह के साथ स्वाधीनता के इस संग्राम में भाग ले रहे थे। लार्ड कैनिंग ने सर जेम्स ऊटरम के नाम एक पत्र में लिखा है कि जो राजा और ताल्लुकेदार इस युद्ध में भाग ले रहे थे, उनमें से कम से कम अनेक ऐसे थे जिन्हें स्वयं अंग्रेजी राज्य से हानि के स्थान में लाभ हुआ था फिर भी ये राजा और ताल्लुकेदार अंग्रेजी-राज्य के इस समय विकट शत्रु थे और नवाब बिरजिस क़द्र और बेगम हजरतमहल के लिए अपने सर्वस्व की आहुति दे देने में भी अपना सौभाग्य समझते थे। इस सम्बन्ध में इतिहास लेखक होम्स लिखता है—

"अनेक राजा और छोटे-छोटे सरदार ऐसे थे जो प्रत्येक समय अंग्रेज सरकार के बन्धनों से अपने आप को मुक्त करने के लिए चिन्तित रहते थे। उन्हें स्वयं कोई विशेष हानि न पहुँची थी, किन्तु अंग्रेजी सरकार का अस्तित्व ही उन्हें नित्य यह याद दिलाता रहता था कि हम एक पराजित जाति के मनुष्य हैं। × × × भारत की लाखों जनता के दिलों में विदेशी सरकार की ओर कोई सच्ची राजभक्ति न थी। × × × विप्लव के दिनों में भारत के निवासियों के व्यवहार का ठीक-ठीक अन्दाज़ा करने के लिए यह याद रखना आवश्यक है कि इन लोगों का

हमारी जैसी एक विदेशी सरकार की ओर उस प्रकार की राजभक्ति अनुभव करना, जो राजभक्ति कि केवल देशभक्ति के साथ-साथ ही चल सकती है, मानव-प्रकृति के प्रतिकूल होता। × × × उनमें एक भी मनुष्य ऐसा न था जिसे यदि एक बार यह विश्वास हो जाता कि अंग्रेजी-राज्य को उखाड़ कर फेंका जा सकता है, तो वह हमारे विरुद्ध न हो जाता !'

रसल का कथन है कि "अवध के निवासी अपने देश और बादशाह के लिए देशभक्ति के भाव से प्रेरित होकर लड़ रहे थे।"

जिस अहमदशाह के सम्बन्ध में हम इससे पूर्व बहुत कुछ लिख आये हैं वही अहमदशाह लखनऊ नगर के भीतर विप्लव का सब से योग्य नेता था। उसकी योग्यता के संबंध में इतिहास लेखक होम्स लिखता है—"फ़ैज़ाबाद का मौलवी अहमदुल्लाह (अहमदशाह) एक ऐसा व्यक्ति था जो अपने भावों और अपनी योग्यता दोनों की दृष्टि से एक महान् आन्दोलन को चला सकने और एक विशाल सेना का नेतृत्व ग्रहण करने, दोनों के योग्य था।"

इतने योग्य नेता अहमदशाह के रहने पर भी दुर्भाग्य के कारण नित्य नये रूप से अंग्रेज़ प्रबल होने लगे। अवध की भूमि और अवध की जनता के दुर्भाग्य से लखनऊ के अन्दर भी धीरे-धीरे अव्यवस्था का सूत्रपात होने लगा था। जिस प्रकार दिल्ली की सेना में बख्तखाँ के विरुद्ध कुछ लोग खड़े हो गये थे उसी प्रकार लखनऊ की सेना में भी अहमदशाह के विरुद्ध कुछ लोग प्रतिस्पर्धा अनुभव करने लगे थे। इसी लिए ऐसे

संकट के समय लखनऊ की सेना में अहमदशाह की आज्ञाओं का पालन यथेच्छ रूप से नहीं हो रहा था।

कैम्पबेल के लखनऊ पहुँचने से पहले ही सर जेम्स ऊटरम चार हजार सेना के साथ आलमबाग़ में मौजूद था। अहमद-शाह ने कई बार चाहा कि ऊटरम पर एक भयानक आक्रमण करके उसकी समस्त सेना को समाप्त कर दिया जाय किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसे दूरदर्शी नेता अहमदशाह की बात न मानी गई। सभी अपना-अपना स्वतंत्र राग अलापने लगे। अहमद-शाह के विशेष रूप से आक्रमण करने के लिए कहने पर भी उसकी न चल सकी और प्रति-स्पर्धा यहाँ तक बढ़ी कि कुछ लोगों के आग्रह करने पर कहा जाता है कि बेगम ने अहमद-शाह को क़ैद तक कर लिया। किन्तु इतना सब विरोध तो हुआ फिर भी सेना और जनता में अहमदशाह सब से अधिक लोक-प्रिय बना रहा और उसी आदर्श लोक-प्रियता का प्रभाव बेगम पर इतना पड़ा कि शीघ्र ही कैद किये गये अहमदशाह को छोड़ देना पड़ा।

इस घटना के बाद ही कैम्पबेल की सेना लखनऊ पहुँचती है। अहमदशाह ने फिर सेना का नेतृत्व ग्रहण किया। जितनी बार भारतीय सेना ने आलमबाग़ की अंग्रेजी सेना पर आक्र-मण किया मौलवी अहमदशाह अपने घोड़े या हाथी के ऊपर सवार प्रायः प्रत्येक बार सब से आगे युद्ध करता हुआ दिखाई पड़ा। उसके इसी साहस के कारण भारतीय सेना में भी साहस बना रहता था।

१५ जनवरी सन् १८५८ के दिन जो संग्राम हुआ उसमें मौलवी अहमदशाह के एक हाथ में गोली लग गई। १७ जनवरी

को विप्पवकारियों का एक और मुख्य सेनापति विद्रेही हनुमान घायल हो जाने के कारण पकड़ लिया गया। ठीक ऐसे हो आपत्ति-काल में राजा बालकृष्णसिंह की भी मृत्यु हो गई। इधर जैसे ही हाथ का घाव कुछ अच्छा होने लगा वैसे ही १५ फ़र्वरी को अहमदशाह फिर मैदान में उतर आया और अंग्रेज़ सेनापतियों को बड़ी वीरता के साथ संग्राम के लिए ललकारने लगा कुछ समय बाद स्वयं बेगम हज़रत महल शस्त्रों से सुसज्जित हो घाड़े पर सवार होकर वीरांगना के भेष में युद्ध के मैदान में उतर आई। इतना सब साहस और वीरता से पूर्ण कार्य होने पर भी पारस्परिक प्रति-स्पर्धा और अव्यवस्था ने लखनऊ की विप्लवकारी-सेना का साथ न छोड़ा। अदूरदर्शी और मिथ्याभिमानी लोगों ने यह न समझा कि उनकी अज्ञानता और मानसिक द्रोह का परिणाम लखनऊ के भाग्य के लिए कितना भयानक होगा।

जिस समय सर कालिन कैम्पबेल आलमबाग़ पहुँचा, उस समय तक उखनऊ का समस्त नगर विप्लवकारियों के अधिकार में हो था। शहर के बाहर आलमबाग़ में अंग्रेज़ों की सेना थी और शहर के अन्दर विप्लवकारियों की ओर तीस हज़ार हिन्दुस्तानी सिपाही और पचास हज़ार सशस्त्र स्वयंसेवक जमा थे। एक-एक गली और एक-एक बाज़ार में नाकेबन्दो और मोर्चेबन्दी हो रही थी। प्रत्येक घर की दीवारों में बन्दूक़ों के लिए सूराख बने हुए थे। प्रत्येक मोर्चे के ऊपर तोपें लगी हुई थीं। महल के चारों तरफ तोपें लगी हुई थीं। नगर के उत्तर की ओर गोमती नदी थी। शेष तीनों ओर बहुत हो मज़बूत क़िलेबन्दी थीं।

उस समय सर कालिन कैम्पबेल के अधीन अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी मिला कर लगभग चालीस हज़ार सेना थी जिसका प्रत्येक सैनिक सभी प्रकार के युद्धों की शिक्षा पा चुका था और सभी प्रकार के शस्त्र और अस्त्र के चलाने में अभ्यस्त था। इससे पहले अंग्रेजों ने जितने आक्रमण लखनऊ पर किये थे उनमें से कोई भी उत्तर की ओर से नहीं किया गया था। सब से पहले ६ मार्च को ऊटरम ने उसी ओर से आक्रमण करने की तैयारी आरंभ कर दी और सर कालिन कैम्पबेल के पहुँचने के बाद उत्तर और पूर्व, दोनों ही ओर से आक्रमण होना आरंभ हो गया। ६ मार्च तक भयानक रूप से घमासान संग्राम होता रहा। अब तीसरी बार लखनऊ नगर की गलियों में रक्त की धाराएँ प्रवाहित होने लगीं। अन्त में जिस प्रकार दिल्ली का पतन हुआ था उसी प्रकार अवध की राजधानी लखनऊ नगर का भी पतन हो गया।

अंग्रेजी सेना ने एक-एक करके दिलखुशबाग़, क़दमरसूल, शाहनजफ़, बेगमकोठी आदि मोर्चों पर अपना अधिकार जमा लिया। १० मार्च को वह दानव हडसन, जिसने दिल्ली के शहजादों का खून पिया था, लखनऊ के इस निर्णायक संग्राम में मारा गया। १४ मार्च को अंग्रेजी सेना ने लखनऊ के महल में प्रवेश किया।

इतिहास-लेखक विलसन लिखता है कि उस दिन की विजय का मुख्य श्रेय "सिक्खों और दस नम्बर पलटन" को मिलना चाहिए। यदि यह सत्य है तो हमारी समझ से सिक्खों और दस नम्बर पलटन को ही भारत-माता को बन्धन का कारण मान लेना चाहिए।

बेगम हज़रत महल और नवाब बिरजिस क़द्र तथा मौलवी अहमदशाह तीनों ही गुप्त रूप से लखनऊ के नगर से निकल गये। थोड़ा-सा हेर?फेर कर और साधारण सा चक्कर देकर अहमदशाह ने अपने मुट्ठी भर आदमियों के साथ फिर एक बार दूसरी ओर से लखनऊ में प्रवेश किया।

लखनऊ के मोहल्ले शहादतगंज में पहुँच कर अहमदशाह ने नये सिरे से पुनः विजयी अंग्रेज़ी सेना से मोर्चा लिया। इस समय अहमदशाह के पास केवल दो तोपें रह गई थीं और अहमदशाह का सामना करने के लिए दो पलटनें कम्पनी के अंग्रेज़ सेनापतियों ने भेजी थीं। अंग्रेज़ इतिहास लेखक लिखते हैं कि मौलवी अहमदशाद ने उस दिन अपूर्व वीरता के साथ युद्ध किया, शत्रु को असंख्य जनों की हानि पहुँचाई और अन्त में विजय असम्भव देख वह फिर लखनऊ से निकल गया। शहादतगंज का संग्राम लखनऊ का वह संग्राम था जिससे वहाँ के सभी संग्रामों का पटाक्षेप होता है। इसके बाद अंग्रेज़ी सेना ने ६ मील तक अहमदशाह का पीछा किया किन्तु फिर भी अहमदशाह उनके हाथ न आया। मैदान साफ़ हो जाने से लखनऊ के समस्त नगर पर अब कम्पनी का अधिकार हो गया।

अवध की राजधानी लखनऊ नगर के पतन होने के बाद कम्पनी की सेना ने लखनऊ के रहनेवालों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार किया वह सार्वजनिक लूटमार और सार्वजनिक संहार, इन दो शब्दों में ही इस समय कहा जा सकता है। लेफ्टिनेन्ट माजेन्डी लिखता है कि लखनऊ के अन्दर उस समय के क़त्ले आम में किसी तरह की तमीज़ नहीं की गई। लोगों की हत्या करने से पूर्व जिस प्रकार की

कठोर यातनाएँ लोगों को दी गईं उसके कई उदाहरण रसल ने अपनी पुस्तक में दे दिये हैं। वह अपनी पुस्तक में उन सब वीभत्स घटनाओं का वर्णन इस प्रकार लिखता है—

"कुछ सिपाही अभी जीवित थे और उन्हें दया के साथ ही मारा गया किन्तु इनमें से एक को खींचकर मकान से बाहर रेतीले मैदान में लाया गया। उसे टाँगों से पकड़ कर खींचा गया, एक सुविधा के स्थान पर लाया गया। कुछ अंग्रेज सिपाहियों ने उसके मुँह और शरीर में संगीनें भोंककर उसे लटकाये रखा। दूसरे लोग एक छोटी-सी चिता के लिए ईंधन जमा करने लगे। जब सब तैयार हो गया तब उसे जीवित ही भून दिया गया! इस काम के करने वाले अंग्रेज थे और कई अफ़सर खड़े देखते रहे किन्तु किसी ने हस्तक्षेप नहीं किया। इस नारकी अत्याचार की वीभत्सता उस समय और भी बढ़ गई जब कि उस भाग्यहीन दुखिया अधजली और जीवित दशा में भागने का प्रयत्न किया। अकस्मात् प्रयत्न करके वह चिता से कूद पड़ा। उसके शरीर का माँस हड्डियों से लटक रहा था। वह कुछ गज़ दौड़ा, फिर पकड़ लिया गया, वापस लाया गया, फिर आग पर रख दिया गया और जब तक राख न हो गया तब तक संगीनों से दबा कर रखा गया।"

यह तो हुआ अंग्रेज़ों का व्यवहार और इसकी तुलना में अंग्रेज कैदियों के साथ बेगम हज़रत महल का व्यवहार बिलकुल दूसरे ही प्रकार का था। प्रारंभ के दिनों में जब कि लखनऊ के अन्दर विप्लवकारियों का पल्ला भारी था और सभी ओर उनकी धाक जमी हुई थी तब कुछ अंग्रेज पुरुष और स्त्री लखनऊ में कैद कर लिये गये थे किन्तु ६ महीने

तक इनके जीवन पर किसी भी प्रकार का आक्रमण नहीं किया गया। जिस समय कम्पनी की सेना ने लखनऊ नगर में प्रवेश कर दोषी और निर्दोष सब का एक समान संहार करना आरंभ किया, उस समय थोड़े से क्रुद्ध विप्लावकारियों ने महल में जाकर बेगम हज़रत महल से प्रार्थना की कि वे समस्त अंग्रेज़ कैदियों को उनके हवाले तुरन्त कर दें। बेगम हज़रतमहल ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए सात या आठ अंग्रेज़ पुरुषों को उनके हवाले कर दिया। उन सबों ने उन अंग्रेज़ों को तुरन्त गोली से उड़ा दिया। इसके बाद वे क्रुद्ध विप्लवकारी फिर बेगम हज़रतमहल के पास गये और जब हठ करते हुए कैदी अंग्रेज़ स्त्रियों को भी मार डालने का विचार प्रकट करने लगे तब बेगम हज़रतमहल ने उनके उस आग्रह और प्रार्थना दोनों को ही अस्वीकार कर दिया। इस सम्बन्ध में इतिहास-लेखक चार्ल्स बॉल लिखता है—

"स्त्रियों के विषय में बेगम ने उन लोगों की माँग को पूरा करने से ज़ोरों के साथ इन्कार कर दिया। बेगम ने तुरन्त महल के ज़नानखाने के अन्दर उन अंग्रेज़ स्त्रियों को अपने संरक्षण में ले लिया। बेगम का यह कार्य स्त्री-जाति के मान को बढ़ाने वाला था।"

लखनऊ को अपने अधिकार में कर लेने के बाद कम्पनी की सेना ने महल में भी प्रवेश कर लूट और क़त्लेआम के क्रूर और वीभत्स कर्मों को जारी रखा। महल के जनानखानों के अन्दर अनेक निरपराध स्त्रियाँ मारी गईं और शेष स्त्रियाँ कैद कर ली गईं। महल की इन स्त्रियों के दिलों में भी

अपने आन्दोलन की पवित्रता और उसकी अन्तिम विजय में पूर्ण रूप से विश्वास मौजूद था।

हमारे इस कथन का समर्थन करने वाली एक छोटी-सी घटना कई अंग्रेज़ी इतिहास की पुस्तकों में दी हुई है। एक दिन कैदी बेगमों के अंग्रेज़ पहरेदारों ने हँस कर उनसे प्रश्न किया—"क्या आपका यह ख़याल नहीं है कि अब जंग खत्म हो गई ?" बेगमों ने उत्तर दिया—"नहीं, इसके खिलाफ़ हमें पूरा यक़ीन है कि आख़ीर में तुम्हारी ही हार होगी।"

इसमें सन्देह नहीं कि बेगमों का विश्वास अपने स्थान पर उचित ही था। वास्तव में बात यह थी कि लखनऊ के पतन के बाद भी अवध के कई भागों और हिन्दुस्तान के कई अन्य प्रान्तों में स्वाधीनता का संग्राम बराबर हो ही रहा था इसलिए उन बेगमों का वह विश्वास निराधार न था। जिस प्रकार बेगम हज़रत महल वीरांगना थी उसी प्रकार की वीरांगनाएँ ये सब बेगमें भी थीं।

अब हम यहीं से अवध और रुहेलखण्ड के इस वृत्तान्त को रोक देना चाहते हैं क्योंकि बिहार की ओर भी ध्यान देना आवश्यक हो रहा है।

——

बिहार का विप्लव और अहमदशाह

सन् १८५७ में विप्लवकारियों का जैसा व्यापक संगठन अवध और दिल्ली में था, वैसा संगठन बिहार में नहीं हो पाया था, फिर भी उस प्रान्त में विप्लव के कई महत्वपूर्ण केन्द्र थे। विशेषतया पटने में एक विशाल केन्द्र था जिसकी शाखाएँ और उपशाखाएँ प्रान्त में चारों ओर फैली हुई थीं। सन् १८५७ से पहले पटने में अनेक गुप्त सभाएँ हुआ करती थीं। वहाँ की पुलिस भी इस संगठन में शामिल था। इतिहास की पुस्तकों में लिखा है कि उस समय पटने के केन्द्र के पास धन का कुछ भी अभाव न था। असंख्य वैतनिक और अवैतनिक प्रचारक चारों ओर ग्रामीण जनता के बीच विप्लव का प्रचार करते हुए फिरने लगे थे। वहाँ के विप्लवकारी नेताओं का दिल्ली, लखनऊ और कानपुर के नेताओं के साथ गुप्त रूप से पत्र-व्यवहार हुआ करता था।

जिस समय अंग्रेजों को यह पता चला कि पटने वालों का भी सम्बन्ध अवध के विप्लवकारियों से हो चुका है और वे भी उन्हीं लोगों के समान अंग्रेजों को भारत से निकाल देना चाहते हैं तब अंग्रेजों ने तुरन्त पटने की रक्षा के लिए सिखों की एक सेना भेज दी। कहा जाता है कि जिस समय अंग्रेजों की ओर से पटने की रक्षा करने के लिए ये सब सिख सैनिक पटने गये उस समय वहाँ के लोगों ने उनके प्रति ऐसे घृणित भावों को प्रकट किया कि लोग उन सिखों की छाया तक से घृणा

करने लगे और उनकी छाया उन सबों पर न पड़ जाय इसलिए विशेष रूप से सावधान रहने लगे। बिहार प्रान्त के निवासियों पर भी अंग्रेज सन्देह करने लगे। सन्देह करने के साथ ही साथ उन्होंने दमन-चक्र को भी चालू कर दिया। जिला तिरहुत के एक पुलिस के जमादार वारिसअली को विप्लव के सन्देह पर गिरफ़्तार कर लिया गया और बिना किसी प्रकार के न्याय के उसे फाँसी भी दे दी गई। वारिसअली के पत्रों में एक पत्र गया के विप्लवकारी नेता अलीकरीम के नाम का पकड़ा गया। कम्पनी की सेना का एक दस्ता अलीकरीम को गिरफ़्तार करने के लिए भेजा गया। अलीकरीम अपने हाथी पर सवार होकर देहात चला गया। कम्पनी की सेना ने उसका पीछा किया किन्तु आसपास के ग्राम वाले अलीकरीम से मिले हुए थे, इसलिए उन सबों ने कम्पनी के सिपाहियों को धोखा देकर ग़लत रास्ता बता दिया। उन सबों के बताये हुए रास्ते पर चलते-चलते कम्पनी की सेना थक गई और अन्त में असफल होकर अपने स्थान पर लौट आई।

ऐसे ही समय में पटने के कमिश्नर टेलर को विदित हुआ कि शहर के तीन प्रभावशाली मौलवी विप्लव के संगठन में भाग ले रहे हैं। टेलर ने तुरन्त उन तीनों को ही बातचीत करने के बहाने अपने घर पर बुलाया और जब वे उसके घर पर आ गये तब उन्हें धोखे से गिरफ़्तार कर लिया।

३ जुलाई को पटने में थोड़ा-सा विप्लव हुआ किन्तु सिख सैनिकों की सहायता से बड़ी सरलता के साथ उस विप्लव को दबा दिया गया। विप्लवकारियों का प्रधान नेता पीरअली फाँसी पर चढ़ा दिया गया। उस समय के इतिहास की पुस्तकों

में लिखा है कि कठोर यातनाएँ दे-देकर पीरअली को मारा गया। कमिश्नर टेलर स्वयं लिखता है कि पीरअली ने बड़ी वीरता और धार्मिक भावों के साथ यातनाओं और मृत्यु दोनों का ही सामना किया। दानापुर में उस समय तीन हिन्दुस्तानी पलटनें, एक गोरी पलटन और कुछ तोपखाना था। पीरअली की मृत्यु के बाद २५ जुलाई को दानापुर की देशी पलटनों ने स्वाधीनता की घोषणा कर दी। इसके बाद ये पलटनें जगदीशपुर की ओर बढ़ीं।

जगदीशपुर एक छोटी-सी पुरानी राजपूत रियासत शहाबाद के ज़िले में थी। सम्राट् शाहजहाँ के दर्बार से जगदीशपुर की रियासत के मालिक को 'राजा' की उपाधि दी गई थी और उसी समय से पीढ़ी-दर-पीढ़ी बराबर चली आ रही थी। कम्पनी के शासन-काल में यह रियासत भी लार्ड डलहौज़ी की अपहरण नीति का शिकार हो चुकी थी। जगदीशपुर का राजा कुँवरसिंह आसपास के इलाके में अधिक लोक-प्रिय था। कुँवरसिंह की आयु उस समय ८० वर्ष से ऊपर थी। फिर भी राजा कुँवरसिंह बिहार के विप्लवकारियों का प्रमुख नेता और सन् १८५७ के सबसे अधिक ज्वलन्त व्यक्तियों में से था। जिस समय दानापुर की विप्लवकारी सेना जगदीशपुर पहुँची उस समय बूढ़े कुँवरसिंह ने तुरन्त ही अपने अस्त्र और शस्त्र उठा लिये और शीघ्रता के साथ अपने महल से निकल कर उस सेना का नेतृत्व ग्रहण कर लिया। इसके बाद विप्लवकारी सेना के साथ कुँवरसिंह आरा पहुँचा। आरा पहुँचकर उसने वहाँ के खज़ाने को अपने अधिकार में कर लिया, जेलखाने के कैदी मुक्त कर दिये गये और अंग्रेज़ोंके दफ़्तरों को गिराकर चौरस मैदान बना दिया गया। इस प्रकार

के कार्यों को समाप्त कर उसने आरा के छोटे-से क़िले को घेर लिया। उस क़िले के अन्दर थोड़े से अंग्रेज़ और कुछ सिख सिपाही थे। इतिहास की पुस्तकों में लिखा हुआ है कि क़िले में पानी की कमी पड़ गई। क़िले के अन्दर के सिखों ने अंग्रेज़ों के संकट को देखकर तुरंत २४ घंटे के अन्दर एक नया कुँआ खोद कर तैयार कर दिया। कुँवरसिंह ने कम्पनी की सेना से वादा किया कि यदि आप लोग क़िला हमारे सुपुर्द कर दें तो आप सब को प्राण-दान दे दिया जायगा। किन्तु क़िले के भीतर की सेना ने स्वीकार न किया। क़िले के अंदर के सिख सिपाहियों को कुँवरसिंह ने समझा बुझाकर विप्लवकारियों के पक्ष में करना चाहा किन्तु इस कार्य में वह सफल न हुआ क्योंकि सिख-सिपाहियों पर उसकी बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। परिणाम यह हुआ कि विप्लवकारी तीन दिनों तक आरा के क़िले को घेरे रहे और उसे जीतने के लिए लगातार आक्रमण भी करते रहे।

आरा के क़िले का समाचार पाते ही २६ जुलाई को दानापुर से कप्तान डनबर के अधीन क़रीब ३०० अंग्रेज़ सैनिक तथा १०० सिख सिपाही आरा के सैनिकों की सहायता के लिए चल पड़े। आरा के समीप ही आम का एक बाग़ था। उसी आम के बाग़ में कुँवरसिंह ने अपने कुछ सिपाही आम के वृक्षों की टहनियों में छिपा रखे थे। रात का समय था। जिस समय दानापुर की सेना ठीक वृक्षों के नीचे पहुँची, उस समय अंधकार में ही वृक्षों के ऊपर से गोलियाँ बरसनी आरंभ हो गईं। सबेरा होते-होते ४१५ आदमियों में से केवल ५० आदमी जीवित बचकर दानापुर को ओर लौट गये और कप्तान डनबर

इसी ग्राम के बाग़ में परलोक को सिधार गया।

कप्तान डनबर की मृत्यु और शेष सैनिकों की हार के बाद मेजर आयर एक बड़ी सेना और तोपों के साथ आरा के क़िले से अंग्रेज़ों की सहायता के लिए बढ़ा। २ अगस्त को बीबीगंज के निकट कुँवरसिंह और मेजर आयर का सामना हो गया। सामना होते ही दोनों ओर की सेनाएँ अपनी-अपनी विजय के लिए संग्राम में कूद पड़ीं। बड़े ही भयानक रूप से युद्ध होने लगा। किसकी विजय होगी इसे निश्चय कर सकना उस समय कठिन हो रहा था। एक बार अंग्रेज़ी सेना के एक अफ़सर कप्तान हेस्टिंग्स ने मेजर आयर से आकर कहा कि जीत हमारे हाथों से खिसकती हुई दिखाई देती है किन्तु फिर भी अन्त में मेजर आयर की ही विजय रही। कुँवरसिंह की सेना को हार कर पीछे हटना पड़ा और आठ दिनों तक विप्लवकारियों द्वारा घिरे रहने के बाद आरा का नगर और क़िला फिर से अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गया।

बीबीगंज के युद्ध में हारकर कुँवरसिंह अब जगदीशपुर की ओर लौट आया। मेजर आयर ने अपनी विजयी सेना के साथ उसका पीछा किया इसलिए कई दिनों तक संग्राम होता रहा और अन्त में मेजर आयर ने १४ अगस्त को जगदीशपुर के महल को अपने अधिकार में कर लिया।

बारह सौ सैनिकों और अपने महल की स्त्रियों को साथ लेकर बूढ़ा कुँवरसिंह जगदीशपुर से निकल गया। उसने अब किसी दूसरे स्थान पर जाकर अंग्रेज़ों के साथ अपना बल आज़माने का निश्चय किया।

यह वह समय था जब कि कुछ गोरी और कुछ गोरखा

सेना आज़मगढ़ की ओर से अवध में प्रवेश कर रही थी। १८ मार्च सन् १८५८ को आस-पास के अन्य विप्लवकारियों को अपने साथ लेकर कुँवरसिंह ने आज़मगढ़ से २५ मील की दूरी पर अतरौलिया नामक स्थान पर डेरा जमाया। जिस समय अंग्रेजों को यह समाचार मिला उस समय वे सब तुरंत उससे लड़ने के लिए तैयार होने लगे इसलिए मिलमैन के अधीन कुछ पैदल, कुछ सवार और दो तोपें २२ मार्च सन् १८५८ को कुँवरसिंह को युद्ध में पराजित करने के लिए पहुँची। उसी दिन अतरौलिया के मैदान में दोनों ही ओर की सेनाओं का बड़ी वीरता और साहस के साथ आमना-सामना हुआ किन्तु थोड़े ही समय के बाद कुँवरसिंह अपनी सेना के साथ बड़ी शीघ्रता से पीछे की ओर हटने लगा। अंग्रेजों की सेना ने यह समझ लिया कि कुँवरसिंह हार कर मैदान से भाग गया। विजय के उत्साह से उत्साहित होकर मिलमैन ने अपनी सेना को एक आम के बगीचे में ठहरा कर भोजन करने की आज्ञा दी और इधर चूँकि कुँवरसिंह उस जंगल की एक-एक चप्पा भूमि से परिचित था इसलिए वह भी अपने शत्रुओं के कार्यों को कहीं से छिपकर देख रहा था। इस बुढ़ापे में भी वह अत्यंत फुर्तीला था। ठीक उसी समय जब कि मिलमैन की सेना भोजन कर रही थी, कुँवरसिंह अपने फुर्तीलेपन के कारण अचानक उस पर आकर टूट पड़ा। थोड़ी देर के संग्राम के बाद मैदान पूर्ण रूप से कुँवरसिंह के हाथ रहा। मिलमैन के अनेक सिपाही मारे गये और शेष सिपाहियों ने अतरौलिया से भाग कर कौशिला में आश्रय लिया। कुँवरसिंह ने मिलमैन का पीछा किया। मिलमैन के साथ जितने हिन्दुस्तानी नौकर थे सभी ने इस समय उसका साथ

छोड़ दिया था। लिखा है कि वे कम्पनी की सेना के बैलों और गाड़ियों समेत इधर-उधर भाग गये और शेष सामान और तोपें कुँवरसिंह के हाथ लगीं। अंग्रेज़ी सेना का अफ़सर मिलमैन अपने रहे-सहे आदमियों के साथ आज़मगढ़ की ओर भाग गया।

ज्यों ही मिलमैन के पराजित होने का समाचार प्राप्त हुआ त्यों ही एक दूसरी अंग्रेज़ी सेना कर्नल डेम्स के अधीन बनारस और मिर्ज़ापुर से चलकर मिलमैन की सहायता के लिए आज़मगढ़ पहुँच गई। २८ मार्च को यह सम्मिलित सेना कर्नल डेम्स के अधीन फिर कुँवरसिंह से लड़ने के लिए निकल पड़ी। आज़मगढ़ से कुछ दूरी पर कुँवरसिंह और कर्नल डेम्स में घमासान संग्राम हुआ। इस बार भी कुँवरसिंह को ही पूर्ण रूप से विजय प्राप्त हुई। कर्नल डेम्स को युद्ध के मैदान से बाध्य होकर भाग जाना पड़ा। भागते-भागते वह आज़मगढ़ पहुँचा और वहाँ के क़िले में जाकर आश्रय ग्रहण किया। विजयी कुँवरसिंह ने आज़मगढ़ नगर में तुरंत प्रवेश किया।

आज़मगढ़ को विजय कर और अपनी सेना के एक दल को आज़मगढ़ के क़िले पर आक्रमण करने के लिए छोड़ कर कुँवरसिंह अब बनारस की ओर बढ़ा। उस समय लार्ड कैनिंग इलाहाबाद में था। इतिहास-लेखक मालेसन लिखता है कि कुँवरसिंह की विजयों और उसके बनारस पर आक्रकण करने के लिए चढ़ाई करने के समाचार को सुनकर लार्ड कैनिंग घबरा गया था।

उस समय तक कुँवरसिंह अपनी राजधानी जगदीशपुर से १०० मील से ऊपर निकल आया था और अब वह बनारस

शहर के ठीक उत्तर में था। लखऊन से भागे हुए विप्लवकारी इस समय कुँवरसिंह की सेना में आकर शामिल हो गये। लार्ड कैनिंग ने तुरन्त सेनापति लार्ड मार्क कर को सेना और तोपों के साथ कुँवरसिंह को पराजित कर देने के लिए भेज दिया। ६ अप्रैल को लार्ड मार्क कर की सेना और कुँवरसिंह की सेना में संग्राम हुआ। लिखा हुआ मिलता है कि उस दिन ८१ वर्ष का बूढ़ा कुँवरसिंह अपने सफ़ेद घोड़े पर सवार ठीक घमासान लड़ाई के अन्दर बिजली के समान इधर से उधर लपकता हुआ दिखाई दे रहा था। लार्ड मार्क कर अन्त में हार गया। अपनी तोपों के साथ उसे पीछे हटना पड़ा। लार्ड मार्क कर को अपनी रक्षा का कोई उपाय न सूझा। विवश होकर उस समय युद्ध के मैदान से भागकर वह आजमगढ़ की ओर बढ़ा। कुँवरसिंह ने उसका पीछा किया। संभव है कि या तो कुँवरसिंह के विचार इस समय कुछ-कुछ बदलने लगे हों अथवा वह लार्ड मार्क की चालों में आ गया हो। इतिहास-लेखक मालेसन लिखता है कि कुँवरसिंह का इस समय बनारस आने का विचार छोड़कर आजमगढ़ की ओर लार्ड मार्क का पीछा करना उस समय के विचार से सबसे बड़ी भूल थी।

लड़ाई के मैदान से भागकर लार्ड मार्क ने युद्ध में बचे हुए अपने सैनिकों के साथ आज़मगढ़ के क़िले में आश्रय लिया। आजमगढ़ का शहर विप्लवकारियों के अधिकार में था। कुँवर-सिंह ने लार्ड मार्क और उसकी सेना को क़िले में कैद कर किले को पूर्ण रूप से घेर लेने का प्रबंध करना आरम्भ कर दिया। इधर पश्चिम की ओर से अब सेनापति लगर्ड एक दूसरी अंग्रेज़ी सेना के साथ लार्ड मार्क को सहायता करने के लिए

आजमगढ़ की ओर बढ़ा। कुँवरसिंह को इसका भी पता लग गया!

कुँवरसिंह ने सबसे पहले आज़मगढ़ छोड़कर ग़ाज़ीपुर पहुँचने और फिर वहाँ से गङ्गा पार कर जगदीशपुर पहुँचने और वहाँ पहुँचकर फिर अपनी पैतृक रियासत विजय करने का इरादा किया। इसके लिए कुँवरसिंह ने सुन्दर चाल चली।

लगर्ड की सेना तानू नदी के पुल से आज़मगढ़ की ओर आनेवाली थी। कुँवरसिंह ने अपनी सेना का एक दल लगर्ड की सेना का सामना करने के लिए उस पुल पर भेज दिया और अपनी शेष सेना के साथ कुँवरसिंह ग़ाज़ीपुर की ओर बढ़ा। उसका भेजा हुआ वह छोटा-सा सैन्य-दल बड़ी वीरता के साथ पुल के ऊपर लगर्ड की सेना का सामना करता रहा। जब कुँवरसिंह को पता लगा कि मुख्य सेना बहुत दूर निकल गई है तब वह धीरे-धीरे पीछे हटकर उस सेना से जाकर मिल गया। लगर्ड को कुँवरसिंह की इस चाल का पता तक न चला सका। इतिहास-लेखक मॉलेसन ने कुँवरसिंह की इस चाल और तानू नदी के ऊपर लड़ने वाले कुँवरसिंह के सिपाहियों की वीरता, दोनों की ही अधिक प्रशंसा की है। इसके बाद लगर्ड की सेना ने बारह मील तक कुँवरसिंह का पीछा किया किन्तु फिर भी कुँवरसिंह हाथ न आ सका।

इतने ही समय में थोड़ा सा चक्कर देकर स्वयं कुँवरसिंह ने अचानक लगर्ड की सेना पर आक्रमण किया। कम्पनी की सेना के कई अफ़सर और अनेक सैनिक उस आक्रमण में मारे गये। अन्त में कम्पनी की सेना को हार कर पीछे हट आना पड़ा और कुँवरसिंह गंगा की ओर बढ़ा।

कम्पनी की सेना के इस पराजय के समाचार को पाते ही एक दूसरी अंग्रेजी सेना सेनापति डगलस के अधीन कुँवरसिंह को परास्त करने के लिए बढ़ी । तघई नामक ग्राम के निकट डगलस और कुँवरसिंह की सेनाओं में भयंकर रूप से घमासान संग्राम हुआ । इस समय कुँवरसिंह ने अपनी सेना के तीन दल किये । एक दल ने डगलस का सामना किया । दूसरे दोनों दल घूम कर आगे बढ़ गये । पहला दल बड़ी वीरता के साथ डगलस की सेना से लड़ता रहा यद्यपि डगलस की सेना की तुलना में इस दल की संख्या कम ही थी । चार मील तक डगलस इस सेना को दबाता ही चला गया । अन्त में ज्यों ही डगलस की सेना थककर रुकी त्यों ही वे दूसरे दोनों दल अन्य मार्गों से घूम कर डगलस की सेना पर टूट पड़े । पराजित होकर डगलस को भी पीछे हट जाना पड़ा ।

अब कुँवरसिंह की सम्मिलत सेना गंगा की ओर बढ़ी । डगलस की सेना ने फिर उसका पीछा किया किन्तु कुछ भी लाभ न हुआ । कुँवरसिंह अपनी सेना के साथ आश्चर्यजनक शीघ्र गति से चलकर सिकन्दरपुर पहुँचा । वहाँ पहुँच कर उसने घाघरा नदी को पार किया और फिर मनोहरपुर ग्राम में जाकर कुछ देर के लिए विश्राम करने को रुक गया । मनोहर ग्राम में भी डगलस की सेना ने फिर कुँवरसिंह पर आक्रमण किया । इस आक्रमण में कुँवरसिंह के हाथी, कुछ बारूद और थोड़ी-सी भोजन-सामग्री डगलस के अधिकार में आ गई । इसके बाद कुँवरसिंह ने फिर अपनी सेना के कई छोटे-छोटे टुकड़े बना लिये और उन सब को अलग रास्तों से चलकर एक नियत स्थान पर मिलने की आज्ञा दी । डगलस के लिए इन पृथक-पृथक

दलों का पीछा कर सकना असम[illegible] गया। कुवँरसिंह की समस्त टुकड़ियाँ आगे चलकर मिल ग[illegible]और गंगा की ओर बढ़ चलीं।

गंगा के किनारे पहुँचकर कुँवरसिंह ने यह अफ़वाह उड़ा दी कि मेरी सेना बलिया के निकट हाथियों पर गंगा को पार करेगी। अंग्रेज़ी सेना उसी स्थान पर जाकर कुँवरसिंह को रोकने के लिए डट गई किन्तु कुँवरसिंह उस स्थान से सात मील नीचे शिवपुर घाट से रात्रि के समय नावों में बैठकर गंगा को पार करने लगा था। अंग्रेज़ी सेना को जब इस चाल का पता लगा तब वह शिवपुर पहुँच गई। उस समय तक कुँवरसिंह की समस्त सेना गंगा पार कर चुकी थी। केवल एक नाव शेष रह गई थी। कुँवरसिंह उसी नाव में था। ठीक जिस समय कुँवर-सिंह की नाव बीच गंगा की धार में थी उसी समय अंग्रेज़ी सेना के किसी सिपाही ने ऐसा निशाना लगाकर बन्दूक चलाई कि गोली कुँवरसिंह की दाहिनी कलाई में ही आकर लगी। ८१ वर्ष के बुढ़े कुँवरसिंह ने जब यह देख लिया कि गोली लगने से दाहिना हाथ बेकार हो चुका है और गाली के कारण समस्त शरीर में विष फैल जाने का भी डर है तब बायें हाथ से तल-वार खींचकर अपने घायल दाहिने हाथ को स्वयं एक ही वार में कुँहनी पर से काट कर गंगा की धारा में फेंक दिया और घाव पर कपड़ा लपेट कर कुँवरसिंह ने गंगा को पार किया अंग्रेजी सेना गंगा के उस पार उसका पीछा न कर सकी।

गंगा के उस पार कुछ दूरी पर जगदीशपुर की राजधानी थी। उस दिन से आठ महीने पूर्व कुँवरसिंह को जगदीशपुर

से निकल जाना पड़ा था। इन आठ महीने तक जगदीशपुर अंग्रेजों के अधिकार में रहा। २२ अप्रैल को राजा कुँवरसिंह ने फिर जगदीशपुर में प्रवेश किया। कुँवरसिंह के भाई अमरसिंह ने पहले से ही थोड़े से स्वयंसेवकों का एक दल कुँवरसिंह की सहायता के लिए जमा कर रखा था। इसलिए विशेष कोई कठिनाई नहीं रही। वीरता और साहस के प्रताप से राजधानी जगदीशपुर पर फिर से कुँवरसिंह का अधिकार हो गया।

राजधानी जगदीशपुर पर फिर से कुँवरसिंह का अधिकार हो जाने के समाचार से आरा के अंग्रेज अफ़सर चौकन्ने हो गये। २३ अप्रैल को लीग्रैण्ड के अधीन कम्पनी की सेना जगदीशपुर पर दुबारा आक्रमण करने के लिए आरा से चल पड़ी। इधर आठ महीने कुँवरसिंह और उसकी सेना को निरंतर युद्ध, आक्रमण और कठिन यात्रा करने में ही बीते थे और जगदीशपुर पहुँचे भी उसे अभी २४ घण्टे भी नहीं हुए थे, साथ ही साथ कुँवरसिंह का दाहिना हाथ भी कट चुका था और उस समय उसके पास एक हज़ार से अधिक सेना भी न थी। उधर उसकी तुलना में लीग्रैण्ड की सेना सुसज्जित और सुव्यवस्थित तथा पूर्ण रूप से विश्राम लाभ किये हुए थी और उसके साथ सभी प्रकार के अच्छे से अच्छे हथियार तथा बड़ी से बड़ी तोपें थीं। कुँवरसिंह के पास उस समय कोई तोप न थी। ऐसी सामरिक विषम परिस्थिति में भी जगदीशपुर से डेढ़ मील की दूरी पर लीग्रैण्ड और कुँवरसिंह की सेना में वीरोचित मर्यादा की चरम सीमा तक का संग्राम हुआ। लीग्रैण्ड की सेना में थोड़े-से अंग्रेज सैनिक और अधिकांश सिख सिपाही थे किन्तु

मैदान इस बार भी पूर्ण रूप से कुँवरसिंह के हाथों में ही रहा। उस दिन की पराजय को बतलाते हुए एक अंग्रेज अफसर जो जगदीशपुर के इस संग्राम में शामिल था, इस प्रकार के विचारों को प्रकट करता है—

"वास्तव में इसके बाद जो कुछ हुआ उसे लिखते हुए मुझे अत्यंत लज्जा आती है। लड़ाई का मैदान छोड़र हमने जंगल से भागना आरंभ किया। पीछे से शत्रु बराबर हमें पीटता रहा। हमारे सैनिक प्यासे मर रहे थे। एक निकृष्ट गन्दे छोटे-से पोखर को देखकर वे व्याकुल होकर उसकी ओर दौड़ पड़े। इतने में कुँवरसिंह के सवारों ने हमें पीछे से आकर दबा लिया। इसके बाद हमारे अपमान की कोई सीमा न रही और हमारा संकट चरम-सीमा तक पहुँच गया। यहाँ तक कि हम में से किसी में लज्जा तक न रही। जिस ओर जिसे कुशल दिखाई पड़ी, वह उसी ओर को भागने लगा। किसी ने भी अफसरों की आज्ञाओं की कोई पर्वाह न की। व्यवस्था और अनुशासन का अन्त हो गया। चारों ओर आहों, शापों और रोने के अतिरिक्त कुछ भी सुनाई न देता था। मार्ग में अंग्रेजों के गिरोह के गिरोह गर्मी के मारे गिर-गिर कर मर गये। किसी को दवा मिल सकना भी असंभव था क्योंकि हमारे अस्पताल पर कुँवरसिंह ने पहिले ही अधिकार जमा लिया था। कुछ वहीं गिर कर मर गये और जो शेष रहे उन्हें शत्रु ने काट डाला। हमारे कहार डोलियाँ रख-रख कर भाग गये सभी घबराये हुए थे, सभी डरे हुए थे। सोलह हाथियों पर केवल हमारे घायल साथी लदे हुए थे। स्वयं जनरल लीग्रैण्ड की छाती में एक गोली लगी और वह मर गया। हमारे सिपाही अपनी जान लेकर कर पाँच मील से ऊपर

दौड़ चुके थे ! अब उनमें अपनी बन्दूक़ उठाने तक की शक्ति न रह गई थी। सिखों को वहाँ की धूप सहने की आदत थी। उन्होंने हम से हाथी छीन लिये और हमसे आगे भाग गये। गोरों का किसी ने साथ न दिया। १९९ गोरों में से केवल ८० इस भयंकर संहार से जीवित बच सके ! इस जंगल में हमारा जाना ऐसा ही हुआ जैसा पशुओं का कसाईखाने में जाना, हम वहाँ केवल बध होने के लिए गये थे।"

इतिहास-लेखक ह्वाइट लिखता है—"इस अवसर पर अंग्रेज़ों ने पूरी और बुरी से बुरी हार खाई।"

जगदीशपुर के इस युद्ध में अंग्रेज़ी सेना की सब तोपें और सारा सामान कुँवरसिंह के हाथों में आ गया था। इस प्रकार २३ अप्रैल सन् १८५८ को विजयी कुँवरसिंह फिर से अपनी पैतृक रियासत पर शासन करने लगा। किन्तु इस समय तक कुँवरसिंह के हाथ का घाव अच्छा न हुआ था। उस घाव के ही कारण २६ अप्रैल सन् १८५८ को अपने महल के अन्दर राजा कुँवरसिंह की मृत्यु हुई। कुँवरसिंह के मृत्यु के समय स्वाधीनता का हरा झंडा उसकी राजधानी के ऊपर फहरा रहा था। राजा कुँवरसिंह ही ऐसा प्रतापी और वीर था जो अंग्रेज़ कम्पनी के अधिकार से अपनी रियासत और प्रजा दोनों को ही पूर्ण रूप से स्वाधीन कर चुका था और स्वाधीनता के हरे-झंडे के ही नीचे स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त हुआ था।

उसके सम्बन्ध में इतिहास-लेखक होम्स लिखता है—"उस बूढ़े राजपूत की जो ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध इतनी वीरता और इतनी आन के साथ लड़ा, २६ अप्रैल सन १८५८ को मृत्यु हो गई।"

राजा कुँवरसिंह का व्यक्तिगत चरित्र अत्यंत पवित्र था। वह बड़े ही संयम से अपने जीवन को बिताता था। यहाँ तक कहा जाता है कि उसके राज्य में कोई मनुष्य इस भय से कि कहीं कुँवरसिंह देख न ले, खुले तौर पर तम्बाकू तक न पीता था उसको समस्त प्रजा उसका विशेष रूप से आदर और उससे शुद्ध प्रेम करती थी। युद्ध-कौशल में वह अपने समय में सर्वश्रेष्ठ था।

जब जगदीशपुर का ऐसा प्रतापी राजा सुरपुर को सिधार गया तब उसका छोटा भाई अमरसिंह जगदीशपुर की राजगद्दी पर बैठा। अपने बड़े भाई के मरने के बाद अमरसिंह ने चार दिन भी विश्राम नहीं किया। केवल जगदीशपुर की रियासत पर अपना अधिकार बनाये रखने से ही वह संतुष्ट न रहा। उसने तुरंत अपनी सेना को फिर से जमा किया और आरा पर चढ़ाई कर दी। लीग्रैन्ड की सेना के पराजित हो जाने के बाद जनरल डगलस और जनरल लगर्ड की सेनाएँ भी गङ्गा को पार करके आरा की सहायता के लिए पहुँच चुकी थी। ३ मई को राजा अमर सिंह की सेना के साथ डगलस और लगर्ड की सेनाओं का पहला संग्राम हुआ। उसके बाद विहिया, हतमपुर, दलीलपुर इत्यादि के अनेक स्थानों पर दोनों सेनाओं में अनेक युद्ध हुए अमरसिंह भी ठीक उसी प्रकार को युद्ध नीति द्वारा अंग्रेजी सेना को बार बार हराता और हानि पहुँचता रहा जिस प्रकार की युद्ध नीति में कुँवरसिंह निपुण था। निराश होकर जनरल लगर्ड ने इस्तीफा (त्याग-पत्र) दे दिया। लड़ाई का समस्त उत्तरदायित्व अब जनरल डगलस पर पड़ा। डगलस के साथ सात हजार सेना थी। उसने अमरसिंह को परास्त

करने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली किन्तु जून, जुलाई, अगस्त और सितम्बर के महाने बीत गये फिर भो अमरसिंह परास्त न हो सका। इसी समय में विजयी अमरसिंह ने आरा में प्रवेश किया और जगदीशपुर की रियासत पर अपना आधिपत्य भी जमाये रखा। जनरल डगलस ने कई बार हार खा कर यह घोषणा करा दी कि जो मनुष्य किसी तरह भो अमरसिंह का मस्तक लाकर मेरे सामने उपस्थित होगा, उसे बहुत बड़ा इनाम दिया जायगा किन्तु इससे भी काम न चल सका।

अपनी इस चाल में भी असफल होने पर जनरल डगलस ने सात विशाल सेनाओं द्वारा सात ओर से जगदीशपुर को ही घेर लेने और आक्रमण करने का उपाय निश्चित किया। निश्चित किये हुए इसी उपाय के अनुसार १७ अक्टूबर को डगलस की विशाल सेनाओं ने जगदीशपुर को चारों ओर से घेर लिया। अमरसिंह ने भी देख लिया कि इतने विशाल सैन्यदल पर विजय प्राप्त कर सकना संभव नहीं है। वह तुरंत अपने चुने हुए थोड़े से सिपाहियों के साथ मार्ग चीरता हुआ अंग्रेजी सेना के बीच से निकल गया। जगदीशपुर पर फिर से कम्पनी का अधिकार हो गया किन्तु अमरसिंह किसी के भी हाथ न आया।

अंग्रेजी सेना के बीच से निकल कर जाते ही कम्पनी की सेना ने अमरसिंह का पीछा किया। १६ अक्टूबर को नौनदी नामक ग्राम में इस सेना ने अमरसिंह को घेर लिया। इस समय अमरसिंह के साथ केवल चार सौ सिपाही थे इन चार सौ में से तीन सौ ने नौनदी ग्राम के संग्राम में लड़कर अपनी जान दे दी शेष सौ सिपाहियों ने कम्पनी की सेना को एक बार पीछे हटा दिया। इतने में और अधिक सेना अंग्रेजों की सहा-

यता के लिए पहुँच गई। उनसे भी अमरसिंह के सौ सिपाहियों ने अपनी जान हथेली पर लेकर युद्ध किया। अंत में अमरसिंह और उसके दो और साथी युद्ध के मैदान से निकल गये। शेष ६७ वहीं वीरों की गति को प्राप्त हो गये। नौनदी के संग्राम में कम्पनी की ओर मरने वालों की सख्या इससे भी कहीं अधिक थी और घायलों की संख्या कितनी रही होगी यह बतलाना भी कठिन है।

अंग्रेज़ों की सेना ने फिर अमरसिंह का पीछा किया। एक बार थोड़े से सवार अमरसिंह के हाथी तक पहुँच गये। हाथी तो पकड़ लिया गया किन्तु अमरसिंह कूद कर निकल गया। इसके बाद प्राणों की रक्षा करते हुए अमरसिंह ने कैमूर के पहाड़ों में प्रवेश किया। शत्रु ने वहाँ पर भी उनका पीछा किया किन्तु अमरसिंह ने हार स्वीकार न की इसके बाद राजा अमरसिंह का कोई पता न चला।

इधर जगदीशपुर की स्त्रियों ने भी शत्रु के हाथ में पड़ना उचित नहीं समझा। लिखा है कि जिस समय महल की डेढ़ सौ स्त्रियों ने यह देखा की अब शत्रु के हाथों में पड़ने के सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं हैं तब वे सब तोपों के मुँह के सामने खड़ी हो गई और स्वयं अपने हाथ से फ़लीता लगाकर उन सबों ने अपने ऐहिक जीवन के नाटक को चिरकाल के लिए समाप्त कर दिया।

अवध के पड़ोसी प्रान्त बिहार के विप्लव का यह वृत्तान्त समाप्त कर हम फिर अवध और रुहेलखंड की ओर लौट रहे हैं। लखनऊ के पतन के बाद विप्लवकारियों का कोई विशेष केन्द्र कहीं भी देश भर में न रह गया। कम्पनी की सेनाएँ इस समय

चारों ओर फैलती जा रही थीं। पलटन पर पलटन इंग्लैण्ड से भर्ती होकर भारत में टिड्डी दल के समान चली आ रही थी। भारतवर्ष के विशाल साम्राज्य को अपने अधिकार से डावाँडोल होते देखकर इङ्गलैन्ड के शासकों ने उस समय अपनी समस्त शक्ति सन् १८५७ वाले भारतीय विप्लव को दमन करने में लगा रखी थी। पहली अप्रैल सन् १८५८ को कम्पनी की हिन्दुस्तानी सेना और देशी रियासतों की सेनाओं के अतिरिक्त कम्पनी के पास भारतवर्ष में ९६००० गोरी सेना थी। अंग्रेज़-जाति के बड़े-से-बड़े अनुभवी सेनापति भारत में मौजूद थे। दूसरी ओर सिखों और गोरखों ने मिलकर अपनी पूरी शक्ति से अंग्रेजों का साथ दिया। इधर विप्लवकारियों के अन्दर अव्यवस्था बढ़ती जारही थी। दिल्ली, कानपुर और लखनऊ जैसे केन्द्र हाथ से निकल चुके थे। इस परिस्थित में अवध और रुहेलखंड के नेताओं ने इधर-उधर फैले हुए विप्लवकारियों के नाम यह आज्ञा प्रकाशित की—

तुम लोग विधर्मियों की बाज़ाब्ता (विधर्मियों के विधान अर्थात् क़ानून को मान कर चलनेवाली) सेनाओं का खुले मैदान में सामना करने का प्रयत्न न करो, क्योंकि उनमें व्यवस्था हमसे बढ़कर है और उनके पास बड़ी-बड़ी तोपें हैं। उनके आने-जाने पर दृष्टि रखो, नदियों के समस्त घाटों पर अपना पहरा रखो, उनके पत्र-व्यवहार को बीच में रोक दो, उनकी रसद को रोक लो, उनकी डाक और चौकियों को तोड़ दो हमेशा उनके कैम्प के इधर-उधर फिरते रहो। फ़िरंगियों को बिल्कुल चैन न लेने दो।"

विप्लवकारियों की इस आज्ञा के सम्बन्ध में रसल लिखता

है—"इस सार्वजनिक घोषणा से नेताओं की बुद्धिमत्ता का पता चलता है और यह भी पता चलता है कि इससे अधिक भयंकर युद्ध का हमें कभी भी सामना न करना पड़ा था।"

लखनऊ के पतन होने के बाद मौलवी अहमदशाह लखनऊ से लगभग तीस मील दूर बारी नामक स्थान पर था। बेगम हज़रत महल छः हज़ार सैनिकों के साथ बिटावलो में थी। होपग्राण्ट तीस हज़ार सेना और तोपखाने के साथ लखनऊ से बारी की ओर बढ़ा। मौलवी अहमदशाह को इसका पता चल गया उसने बारी से चार मील दूर एक गाँव में अपनी पैदल सेना को नियुक्त किया और सवार सेना को किसी दूसरे स्थान में छिपा दिया। उसकी चाल यह थी कि कम्पनी की सेना इस गाँव पर चढ़ाई करे तो अहमदशाह की पैदल सेना उसका सामना करे और उसके सवार अचानक पीछे से आकर कम्पनी की सेना को घेर लें। मौलवी अहमदशाह स्वयं अपनी पैदल सेना के साथ रहा। सवारों से कह दिया गया था कि जिस समय तक पैदल सेना के साथ अंग्रेजों की लड़ाई न होने लगे उस समय तक तुम सब अपने आपको बराबर छिपाये रखना किन्तु उन सब सवारों ने कुछ भी ध्यान न रखा और भाग्य के निर्णायक क्षण भर अधीर सवारों ने अहमदशाह की आज्ञा के विरुद्ध अंग्रेजी सेना को सामने देखते ही अपने स्थान से निकल कर उस पर आक्रमण कर दिया। इस अवहेलना और अव्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि थोड़े-से युद्ध के बाद अहमदशाह को उस गाँव से निकल कर भाग जाना पड़ा और बारी के युद्ध का मैदान अंग्रेजों के हाथ रहा। यह ऐसा समय था जब कि कम्पनी की सेना के अनेक दल अवध और रुहेलखंड

के विप्लवकारियों को उत्तर की ओर क्रमशः खदेड़ते हुए चले जा रहे थे।

इस घटना और जीत के बाद वालपोल ने १५ अप्रैल को लखनऊ से ५० मील दूर रुइया के क़िले पर चढ़ाई की। रुइया के ताल्लुक़ेदार नरपतिसिंह के पास केवल दो सौ पचास साधारण सिपाही थे। वालपोल के साथ कई हज़ार सेना और तोपें थीं। सामने की ओर से वालपोल के डेढ़ सौ आदमियों ने क़िले पर चढ़ाई की। क़िले की दिवारों से गोलियों की बौछार होने लगी। ४६ अंग्रेज़ वहीं पर मर गये और जो शेष रहे उन्हें पीछे हट जाना पड़ा। वालपोल ने अपनी तोपों के साथ क़िले की दूसरी ओर से गोलेबारी करना आरंभ कर दिया। वालपोल के गोले क़िले को ऊपर से पार कर दूसरी ओर की अंग्रेज़ी सेना पर जाकर गिरने लगे। वालपोल को इस घबराहट को देखकर जनरल होप आगे बढ़ा और आगे बढ़ते ही मारा गया। समस्त अंग्रेज़ी सेना को बड़े ही अपमान के साथ हार कर क़िले से पीछे हट जाना पड़ा।

जनरल होप अंग्रेज़ों के मुख्यतम और अनुभवी सेनापतियों में से था। उसकी मृत्यु से भारत और इंग्लैण्ड के अंग्रेज़ों को बड़ा शोक हुआ। इस विजय के बाद भी नरपतिसिंह ने जब देख लिया कि मैं इतनी विशाल अंग्रेज़ी सेना के सामने न तो युद्ध में टिक सकूँगा और न इस छोटे-से क़िले में विलम्ब तक ठहर सकूँगा, तब वह अपने मुट्ठी भर आदमियों के साथ क़िले से बाहर निकल गया।

इधर नाना साहब और मौलवी अहमदशाह घूमते-फिरते शाहजहाँपुर पहुँचे। उनके पहुँचते ही कमाण्डर-इन-चीफ़ सर

कालिन कैम्पबेल ने शाहजहाँपुर पहुँच कर चारों ओर से नगर को घेर लिया। उसका उद्देश्य नाना साहब और मौलवी अहमदशाह को अपने वश में करना था किन्तु ये दोनों नेता अंग्रेजी सेना के बीच से शाहजहाँपुर छोड़ कर निकल गये।

अभी तक खाँनबहादुर खाँ ने रुहेलखंड की राजधानी बरेली को स्वतंत्र कर रखा था। दिल्ली का एक शहज़ादा मिर्ज़ा फ़ीरोज़शाह, नाना साहब, मौलवी अहमदशाह, बाला साहब, बेगम हज़रत महल, राजा तेजसिंह और अन्य अनेक विप्लवकारी नेता इस समय बरेली में थे। सर कालिन अपनी सेना के साथ बरेली की ओर बढ़ा। इधर विप्लवकारी नेता पहले से ही बरेली छोड़ देने और चारों ओर फैल जाने का निचश्य कर चुके थे। ५ मई को अंग्रेज़ी सेना ने बरेली को घेर लिया। बरेली के असंख्य विप्लवकारी केवल ढाल तलवार लेकर लड़ने के लिए अंग्रेज़ी सेना पर टूट पड़े और भयानक रूप से युद्ध होने लगा। दोनों ही ओर के सैनिक मारे गये। अन्त में ७ मई सन् १८५८ को खानबहादुर खाँ अन्य विप्लवकारी नेताओं और कुछ सेना के साथ बरेली छोड़कर निकल गया। इसके बाद अंग्रेज़ी सेना ने बरेली के नगर को अपने अधिकार में कर लिया।

बरेली के नगर को अपने अधिकार में लाने के लिए अंग्रेज़ी सेना को छोटे-छोटे कई संग्राम करने पड़े थे। सर कालिन कैम्पबेल भी उन्हीं संग्रामों को जीतने में अपने सैनिकों के साथ लगा हुआ था। अभी वह बरेली को ही अपने अधिकार में लाने के प्रयत्न में था कि इतने में मौलवी अहमदशाह ने इधर-

उधर घूम कर फिर से शाहजहाँपुर पर चढ़ाई कर दी और परिणाम यह हुआ कि समस्त अंग्रेजी सेना परास्त हो गई। इस प्रकार शाहजहाँपुर में फिर से विप्लवकारियों का अधिकार हो गया। इस समाचार को पाते ही कैम्पबेल ने फिर शाहजहाँपुर पर आक्रमण किया। इस बार तीन दिन तक संग्राम होता रहा और मौलवी अहमदशाह के लिए बचकर निकलना भी असंभव हो गया इस लिए चारों ओर से विप्लवकारी सिपाही सहायता के लिए पहुँच गये। इतना ही नहीं बेगम हज़रत-महल, शहज़ादा फ़ीरोज़शाह, नाना साहब आदि भी अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर १५ मई को शाहजहाँपुर पहुँचे। मौलवी अहमदशाह फिर इन सब की सहायता से शाहजहाँपुर से निकल आया। इसके बाद रुहेलखंड से घूम कर मौलवी अहमदशाह ने पुनः अवध की सीमा में प्रवेश किया।

मौलवी अहमदशाह किसी भी प्रकार अंग्रेज़ों के चंगुल में नहीं आता था इस बार अवध में प्रवेश करते ही अंग्रेजों से लड़ने का उसने फिर से नया आयोजन किया और अपनी शक्ति बढ़ाने का उपाय सोचने लगा। रास्ते में पवन नाम की छोटी-सी हिन्दू रियासत थी। बेगम हज़रतमहल की मुहर लगाकर मौलवी अहमदशाह ने एक पत्र पवन के राजा के पास सहायता के लिए भेज दिया। वहाँ के राजा जगन्नाथसिंह ने तुरंत मौलवी अहमदशाह को अपने यहाँ बुला भेजा। अपने हाथी पर बैठ कर अहमदशाह पवन पहुँचा। राजा जगन्नाथ सिंह और उसके भाई से अहमदशाह को बातचीत हुई। बातचीत हो ही रही थी कि जगन्नाथसिंह के भाई ने धोखे से मौलवी

अहमदशाह पर गोली चला दी। इस विश्वास घातक के वारसे अहमदशाह न बच सका। राजा जगन्नाथ सिंह ने तुरंत अहमदशाह का सिर काट कर उसे एक कपड़े में लपेटा और स्वयं पास के अंग्रेजी कैम्प में दे आया। इस प्रकार ५ जून सन् १८५८ को मौलवी अहमदशाह का अन्त हुआ। दूसरे दिन मौलवी अहमदशाह का कटा हुआ मस्तक शाहजहाँपुर की कोतवाली के सामने टाँग दिया गया। राजा जगन्नाथ सिंह को इस सेवा के बदले में कम्पनी की सरकार से पचास हज़ार रुपये इनाम में मिले।

कुछ भी हो हमारे पाठक यह भली भाँति समझ गये होंगे कि मौलवी अहमदशाह अपने बुद्धि-बल से उत्तरी भारत में विप्लवकारियों का सब से बड़ा योग्य नेता बन चुका था और धैर्य, साहस तथा वीरता में भी अद्वितीय था। उसके सम्बन्ध में होम्स लिखता है कि मौलवी अहमदशाह उत्तरी भारत में अंग्रेजों का सब से प्रबल शत्रु था।

एक दूसरा अंग्रेज़ इतिहास लेखक मालेसन लिखता है—मौलवी एक बड़ा विचित्र पुरुष था × × × सेनापति की हैसियत से विप्लव में उसकी योग्यता के अनेक प्रमाण मिले। × × × अभिमान के साथ और कोई भी मनुष्य यह नहीं कह सकता था कि मैंने दो बार सर कालिन कैम्पबेल को मैदान में परास्त किया। × × × फैज़ाबाद के मौलवी अहमदशाह की इस प्रकार मृत्यु हुई। यदि एक ऐसे मनुष्य को जिसकी जन्म-भूमि की स्वाधीनता का अन्याय से अपहरण कर लिया गया हो, और जो फिर से उस स्वाधीनता को स्थापित करने के लिए योजना करे और युद्ध करे, देशभक्त

कहा जा सकता है, तो इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता कि मौलवी अहमदशाह सच्चा देश भक्त था। किसी की भी गुप्त हत्या करके उसने अपनी तलवार को कलंकित नहीं किया था, निहत्थे और निरपराध मनुष्यों की हत्या को उसने कभी पसंद भी नहीं किया था, उसने मर्दाना वार, आन के साथ और डटकर खुले मैदान में उन विदेशियों के साथ युद्ध किया जिन्होंने उसका देश छीन लिया था। प्रत्येक देश के वीर और सच्चे लोगों को मौलवी अहमदशाह को आदर के साथा स्मरण करना चाहिए।"

ये विचार एक अंग्रेज इतिहास लेखक के हैं। हमें भी इस बात का गर्व होना चाहिए कि हमारे देश में इस प्रकार के वीर पुरुष हो चुके हैं, जो प्राणों के रहते हुए पराधीन नहीं हुए। हमारी अपनी भी यही धारणा है कि संसार के स्वाधीनता के शहीदों में सन् १८५७ के मौलवी अहमदशाह का नाम सदा के लिए आदरणीय रहेगा।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई

हम अपने पाठकों को इसी पुस्तक के 'झाँसी की रानी और लखनऊ की बेगम' शीर्षक वाले भाग में बतला चुके हैं कि अँग्रेज़ी कम्पनी वालों ने किस-किस प्रकार झाँसी की रानी को कष्ट पहुँचाना आरम्भ कर दिया था और उनके कष्टों से छुटकारा पाने के लिए झाँसी की रानी ने वीरता से पूर्ण कितने प्रकार के प्रयत्न किये थे और अन्त में किस प्रकार उसने अँग्रेज़ों को जीता था।

जो एक बार युद्ध में पराजित होता है वह नित्य प्रतिशोध लेने का उपाय सोचता है, और जब तक वह अपने शत्रु को नहीं पराजित कर लेता अथवा स्वयं नहीं नष्ट होता तब तक वह उचित अवसर ही की प्रतीक्षा करता है। इसी विचार-धारा के अनुसार झाँसी की रानी से पराजित होने वाले अँग्रेज़ भी प्रतिशोध लेने की भावना से उचित अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। विप्लवकारी सैनिकों द्वारा पराजित अँग्रेज़ अफ़सर और उनके वेतनभोगी सैनिक अपने को बलशाली बनाने के लिये सभी प्रकार के प्रयत्न करने लगे थे।

यमुना नदी के दक्षिण और विन्ध्याचल के उत्तर का समस्त प्रान्त ११ महीने तक विप्लवकारियों के ही अधिकार में रहा और उसका समस्त श्रेय महारानी लक्ष्मीबाई को ही है। महारानी लक्ष्मीबाई के शासन से सभी को पूर्ण रूप से संतोष था और अँग्रेज़ों की आँखों में महारानी लक्ष्मीबाई कांटों के समान खटक

रही थी क्योंकि उसी के कारण अँग्रेजी सेना की दाल उस प्रदेश में कहीं भी गलाये नहीं गलती थी।

इसीलिए सर ह्यू रोज़ के अधीन एक विशाल सेना जिसमें हैदराबाद, भोपाल और अन्य रियासतों की सेनाएँ भी मिली हुई थीं, बड़ी-बड़ी तोपों के साथ उस प्रदेश को फिर से विजय करने के लिये भेजी गई।

सर ह्यू रोज़ मऊ से ६ जनवरी सन् १८५८ को रवाना हुआ। रायगढ़, सागर, बानापुर, चँदेरी, इत्यादि स्थानों पर विजय प्राप्त करती हुई उसकी विशाल सेना २० मार्च को झाँसी के निकट पहुँची। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय समस्त प्रदेश के विप्लवकारियों का मुख्य केन्द्र झाँसी ही था। नगर के भीतर बानापुर का राजा मर्दानसिंह और अन्य अनेक राजा तथा सरदार रानी की सहायता के लिये मौजूद थे।

कम्पनी की सेना के पहुँचने से पहले ही रानी लक्ष्मीबाई ने झाँसी के चारों ओर दूर-दूर तक के इलाके को जन्य-शून्य करा दिया था, जिससे कि आक्रमण करनेवाले शत्रु की सेना को झाँसी पर आक्रमण करते समय रसद इत्यादि न मिल सके। न तो खेतों में अनाज की एक बाल थी, न कहीं पर घास का तिनका ही था और न कोई ऐसा छायादार वृक्ष ही था जिसके नीचे बैठकर कोई क्षण भर विश्राम कर सके। किंतु हमारे और इस देश के लिए दुर्भाग्य के कारण बनने वाले महाराज सींधिया ने और टेहरी टीकमगढ़ के राजा ने कम्पनी की सेना के लिए रसद, घास और अन्य आवश्यक वस्तुओं का इतना अच्छा प्रबन्ध कर दिया था कि उस सेना को किसी भी प्रकार की कोई कठिनाई न हुई।

जब अँग्रेज़ों की सेना झाँसी की ओर बढ़ने लगी झाँसी तब की रानी लक्ष्मीबाई ने स्वय विप्लवकारियों का सेनापतित्व ग्रहण किया। प्रत्येक मोर्चे को उसने अपनी देख-रेख में तैयार कराया और अपने क़िले की सभी दीवारों पर तोपें चढ़वाईं। सर ह्यू रोज़ स्वयं लिखता है कि रानी लक्ष्मीबाई के साथ झाँसी की सैकड़ों स्त्रियाँ तोपखानों और मैग़ज़ीनों में आती जाती और काम करती दिखाई दे रही थीं। २४ मार्च को सबेरे सबसे पहले झाँसी की 'घनगर्ज' नाम की एक तोप ने अँग्रेज़ों की सेना के ऊपर गोले बरसाने का काम आरम्भ कर दिया। उसके बाद आठ दिन तक निरन्तर संग्राम होता रहा। एक दर्शक जो उस समय झाँसी में मौजूद था; झाँसी के इस संग्राम के सम्बन्ध में लिखता है।

"२५ तारीख से घोर युद्ध आरम्भ हुआ। अँग्रेज़ों ने समस्त दिन और समस्त रात्रि गोले बरसाये। रात्रि के समय क़िले और नगर के ऊपर तोपों के गोले भयंकर दिखाई देते थे। पचास अथवा तीस सेर का गोला ऐसा मालूम होता था जैसे एक छोटी सी गेंद, किन्तु अंगारे की तरह लाल। × × × २६ तारीख के दोपहर को कम्पनी की सेना ने नगर के दक्षिणी फाटक पर इतने ज़ोर से गोले बरसाये कि उस ओर को झाँसी की तोपें ठंढी हो गईं किसी को भी वहाँ खड़े रहने का साहस न हो सका। × × × इस पर पश्चिमी फाटक के तोपची ने अपनी तोप का मुँह उस ओर फेर कर शत्रु के ऊपर गोले बरसाने आरम्भ किये। तीसरे गोले ने अँग्रेज़ी सेना के सबसे अच्छे तोपची को उड़ा दिया। इस पर अँग्रेज़ी तोप ठंढी हो गई। रानी लक्ष्मीबाई ने प्रसन्न होकर अपनी ओर से तोपची को जिसका

नाम गुलामग़ौस खां था, सोने का कड़ा इनाम में दिया। × × × पाँचवें या छठे दिन चार-पांच घण्टे तक रानी की तोपों ने चमत्कार दिखाया। उस दिन अँग्रेज़ों को ओर असंख्य आदमी मारे गये और अनेक तोपें ठंढी हो गईं। फिर अँग्रेज़ी तोपें अधिक उत्साह से चलने लगीं। झाँसी की सेना का दिल टूटने लगा और उनकी तोपें ठंढी होने लगीं। सातवें दिन शाम को शत्रुके गोलों ने नगर के बाईं ओर की दीवार का एक भाग गिरा दिया और उस ओर की तोप ठंढी हो गई। कोई वहाँ पर खड़ा न रह सकता था किन्तु रात्रि के समय ११ मिस्त्री कम्बल ओढ़े दीवार तक पहुँचे और सबेरा होते-होते उस भाग की मरम्मत कर दी। सूर्य निकलनेसे पूर्व झाँसी की तोप फिर अपना कार्य करने लगी। × × × कम्पनी की ओर इससे बहुत भारी नुकसान हुआ, यहाँ तक कि उनकी तोपें बहुत देर के लिए निकम्मी हो गईं। आठवें दिन प्रातःकाल कम्पनी की सेना शंकर किले की ओर बढ़ी। दूरबीनों की सहायता से अंग्रेजों ने किले के भीतर पानी के सोतों पर गोले बरसाने आरंभ किये। ६--७ आदमी पानी लेने के लिए पहुँचे, जिनमें से चार वहीं पर मर गये, शेष अपने बर्तन छोड़ कर भाग आये। चार घंटे तक किसी को नहाने-धोने तक के लिए पानी न मिल सका। इस पर पश्चिमी और दक्षिणी फाटकों के तोपचियों ने कम्पनी की सेना के ऊपर लगातार गोलेबारी शुरू की और कम्पनी की जो तोपें शंकर किले पर आक्रमण कर रहीं थीं, उनका मुँह फेर दिया। तब जाकर लोगों को नहाने और पीने के लिए पानी मिल सका। इमली के वृक्षों के नीचे बारूद का एक कारखाना था। × × × एक गोला इस कारखाने पर पड़ा जिससे ३० आदमी और ८

स्त्रियाँ मर गईं। उसी दिन सब से अधिक चिल्लाहट हुई। उस दिन का संग्राम भीषण था। बन्दूकों की आवाज़ दिलों को दहलाती थी, तोपें जोरों के साथ चल रही थीं। जगह-जगह तुरही और बिगुल की आवाज़ सुनाई देती थी। आसमान धुएँ और धूल से भरा हुआ था। नगर की दीवार के ऊपर कई तोपची और अनेक सिपाही मारे गये। उनकी जगह दूसरे नियुक्त कर दिये गये। रानी लक्ष्मीबाई उस दिन बड़े परिश्रम के साथ कार्य करती रही। वह प्रत्येक वस्तु को स्वयं देखती थी, आवश्यक आज्ञाएँ जारी करती थी और दीवार में जहाँ कमजोरी देखती थी, तुरन्त मरम्मत कराती। रानी की इस उपस्थिति से सिपाहियों की हिम्मत बेहद बढ़ गई। वे बराबर लड़ते रहे।"

किन्तु कम्पनी की विशाल सेना और उसके सामान के सामने झाँसी की सेना का अकेले अधिक विलम्ब तक ठहर सकना असंभव था।

उस समय तात्या टोपे अपनी सेना के साथ यमुना नदी के उत्तर में था। यमुना पार कर के वह अब चरखारी के राजा के यहाँ पहुँचा। उसके पहुँचने पर भी चरखारी के राजा ने स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने से इन्कार कर दिया था। इस पर तात्या टोपे ने चरखारी पर आक्रमण किया। उसने राजा से २४ तोपें छीनीं और तीन लाख रुपये युद्ध के खर्च के लिए वसूल किये। इसके बाद तात्या कालपी पहुँचा।

कालपी में उसे रानी लक्ष्मीबाई का एक पत्र मिला जिसमें रानी ने उससे झाँसी की सहायता के लिए पहुँचने की प्रार्थना की थी। पत्र को पाते ही तात्या झाँसी की ओर बढ़ा। लिखा

हुआ मिलता है कि तात्या के अधीन एक विशाल सेना थी। कम्पनी की सेना एक बार संकट में पड़ गई, सामने की ओर रानी लक्ष्मीबाई और पीछे की ओर तात्या टोपे की सेना। फिर भी कम्पनी की सेना ने इस समय बड़े साहस से काम लिया और विदित होता है कि तात्या टोपे की सेना ने बड़ी कायरता दिखाई। १ अप्रैल को अंग्रेज़ी सेना ने साहस के साथ पीछे की ओर मुड़कर तात्या की सेना पर आक्रमण किया। तात्या के लगभग डेढ़ हज़ार आदमी मारे गये और उसकी तोपें अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गईं।

अब तो झाँसी की दशा और भी अधिक निराशाजनक हो गई फिर भी रानी लक्ष्मीबाई ने साहस को नहीं खोया। ३ अप्रैल को अंग्रेज़ी सेना ने झाँसी पर एक बार और आक्रमण किया। यही अन्तिम बार का आक्रमण था। सभी ओर से एक ही साथ आक्रमण होने लगा। रानी अपने घोड़े के ऊपर सवार सिपाहियों और अफ़सरों के हौसले बढ़ाती हुई, उनमें ज़ेवर और इनाम बाँटती हुई, बिजली के समान इधर से उधर फिर रही थी। शत्रु ने सब से पहले नगर के उत्तर की ओर सदर दरवाज़े पर ज़ोर दिया। आठ स्थानों पर सीढ़ियाँ लग गई। रानी की तोपों ने अपना काम जारी रखा। अंग्रेज़ अफ़सर डिक और मिचेलजान ने सीढ़ियों पर चढ़कर अपने साथियों को ललकारा, किन्तु तुरंत दो गोलियों ने इन दोनों बहादुर अंग्रेज़ों को वहीं पर ढेर कर दिया। बोनस और फ़ाक्स ने उनके स्थान को ग्रहण किया और वे दोनों भी मार डाले गये। आठों सीढ़ियाँ टूट कर गिर पड़ीं। इतिहास लेखक लो लिखता है कि झाँसी की दीवारों से गोलों और गोलियों की बौछार

उस दिन बहुत ही भयानक थी, जिसके कारण अंग्रेज़ी सेना को पीछे हट जाना पड़ा।

किन्तु फिर भी जब कि उत्तर की ओर सदर दरवाज़े की यह दशा थी कहा जाता है कि किसी भारतीय विश्वासघातक की सहायता से कम्पनी की सेना दक्षिणी दरवाज़े से नगर में घुस आई। इसके बाद कम्पनी की सेना एक स्थान के बाद दूसरे स्थान को विजय करती हुई महल की ओर बढ़ी। क़िले की दीवार के ऊपर से रानी ने नगर-निवासियों के संहार और उनकी दुर्दशा को देखा। वह तुरन्त एक हज़ार सैनिकों के साथ अंग्रेज़ी सेना की ओर लपकी। दोनों ओर से बन्दूकों को फेंक कर तलवारों की लड़ाई होने लगी। दोनों ओर असंख्य सैनिक मारे गये। कुछ दूर तक कम्पनी की सेना को फिर पीछे हटना पड़ा।

ठीक ऐसे ही समय में किसी ने आकर रानी को यह सूचना दी कि सदर दरवाज़े का रक्षक सरदार खुदाबख्श और तोप-खाने का अफसर सरदार ग़ुलाम ग़ौस खाँ, दोनों ही मारे गये, जिसका तात्पर्य यह था कि उत्तर की ओर का दरवाज़ा अब शत्रु के लिए खुल गया। इस सूचना को सुनते ही रानी का दिल टूट गया। उसने एकबार किले के मैगज़ीन में अपने हाथ से आग लगाकर उसके साथ प्राण दे देने का विचार किया। किन्तु फिर अधिक सोच समझकर उसने झाँसी से बाहर कहीं और पहुँचकर स्वाधीनता-संग्राम में सहायता देने का निश्चय किया। इसके बाद ही झाँसी के नगर पर अंग्रेजी सेना का अधिकार हो गया।

रानी लक्ष्मीबाई ने उसी दिन रात को सदा के लिए झाँसी

बेगम ज़ीनत महल

असली फोटो जो सन् '५७ के विप्लव के बाद क़ैदी की हालत में लिया गया था।

छोड़ दिया। हथियार बाँधे हुए, मर्दाना भेष में, अपने दत्तक पुत्र दामोदर को कमर से कसे हुए वह क़िले की दीवार के ऊपर से एक हाथी की पीठ पर कूद पड़ी, फिर वह अपने प्यारे सफेद घोड़े पर सवार हुई, १० या १५ सवार भी उसने अपने साथ लिये और कालपी को ओर चल पड़ी।

उसी समय लेफ़्टिनेन्ट बोकर ने कुछ चुने हुए सवार लेकर रानी का पीछा किया। रानी और उसके साथियों ने अपने घोड़ों को सरपट छोड़ दिया। बोकर और उसके साथी सवार बराबर पीछा करते रहे। सवेरा होते-होते रानी एक क्षण भरके लिए भाण्डेर नामक ग्राम के समीप रुकी। गाँव से दूध लेकर उसने दामोदर को पिलाया। अंग्रेजी सैन्यदल यहाँ भी पीछा करता हुआ आ पहुँचा। रानी तुरन्त अपने साथियों के साथ फिर घोड़े पर चढ़कर कालपी की ओर बढ़ो। लेफ्टिनेन्ट बोकर का घोड़ा रानी के घाड़े के पास आ पहुँचा। रानी ने तुरन्त अपनी तलवार खींच ली। रानी लक्ष्मीबाई की तलवार के एक ही वार में घायल होकर बोकर अपने घोड़े से गिर पड़ा। इतने में ही रानी के साथ के सवारों में और बोकर के साथ के सवारों में तलवार के हाथ होने लगे। अन्त में घायल बोकर और उसके साथी सवार हार कर पीछे रह गये। रानी और उसके साथियों ने फिर अपने घोड़ों को सरपट छोड़ दिया। सुबह से दोपहर हो गया और फिर दोपहर से तीसरा पहर हुआ किन्तु कहीं भी रानी को ठहरने का अवकाश न मिल सका। चलते-चलते शाम हो गई, धीरे-धीरे नीले आसमान में तारे छिटकने लगे किन्तु फिर भी रानी न रुकी। अन्त में लगभग आधी रात के समय अपने बच्चे दामोदर को कमर से बाँधे हुए झाँसी से कालपी

तक १०२ मील से ऊपर का रास्ता तय करके रानी लक्ष्मीबाई ने कालपी में प्रवेश किया। कालपी पहुँचते ही रानी का प्यारा घोड़ा मर गया। शेष रात रानी ने कालपी में विश्राम किया। प्रातःकाल होने पर नाना साहब के भतीजे राव साहब सेनापति तात्या टोपे और लक्ष्मीबाई में परस्पर बातें हुईं।

जिस प्रकार सर ह्यू रोज़ मऊ से झाँसी की ओर रवाना हुआ था उसी प्रकार जनरल ह्विटलाक १७ फ़र्वरी सन् १८५८ को जबलपुर से सागर इत्यादि फिर से विजय करने के लिए निकला था। ह्विटलाक के साथ भी पर्याप्त गोरी और देशी पलटनें थीं। ओरछा का राजा ह्विटलाक के साथ हो गया। सागर के बाद ह्विटलाक बाँदा की ओर बढ़ा। बाँदा के नवाब ने अनेक अंग्रेजों को अपने महल में आश्रय दे रखा था, उनके साथ उसका व्यवहार बहुत ही उदार था किन्तु यह सब होते हुए भी वह अपने प्रान्त के विप्लवकारियों का एक मुख्य नेता था। आरम्भ में ही उसने बाँदा से अंग्रेजी-राज्य के चिन्ह उखाड़ कर सम्राट् बहादुरशाह का हरा झण्डा नगर के ऊपर फहरा दिया था।

इसलिए ह्विटलाक को अपनी ओर बढ़ते देखकर नवाब सामना करने को तैयार हो गया। कई लड़ाइयाँ हुईं और अन्त में नवाब को ही हारना पड़ा। विजयी ह्विटलाक ने १६ अप्रैल को बाँदा में प्रवेश किया। नगर छोड़कर अपनी थोड़ी-सी सेना के साथ नवाब कालपी की ओर निकल गया।

नवाब को जीत लेने और बाँदा में प्रवेश करने के बाद ह्विटलाक ने करवी के राव माधोराव पर चढ़ाई की। उस समय माधोराव दस वर्ष का बालक था। उसकी नाबालिग़ी के

के दिनों में रियासतका प्रबन्ध कम्पनी द्वारा नियुक्त किये हुए एक कारबारी के हाथों में था। इतना ही नहीं, करवी के राव ने सन् १८५७ के विप्लव में किसी प्रकार का भाग भी नहीं लिया था। जिस समय उसने ह्विटलॉक के आने का समाचार सुना उसी समय वह उसके स्वागत के लिए आगे बढ़ा। बिना किसी प्रकार के रोक-टोक ह्विटलाक और उसकी सेना ने नगर में प्रवेश किया और राजधानी के महल में पहुँचते ही बालक माधोराव को गिरफ़्तार कर लिया, महल को गिरा दिया, राजधानी को लूट लिया और रियासत को कम्पनी के राज्य में मिला लिया। करवी की इस घटना के सम्बन्ध में इतिसाह-लेखक मालेसन लिखता है—

"ह्विटलाक की सेना के ऊपर वहाँ किसी ने एक गोली भी नहीं चलाई थी, फिर भी ह्विटलाक ने इरादा कर लिया कि बालक राव के साथ इस प्रकार का व्यवहार किया जाय जैसा किसी ऐसे मनुष्य के साथ किया जाता है जो अंग्रेज़ी सेना के विरुद्ध लड़ा हो। इस बेइमानी और अन्याय का कारण यह था कि करवी के महल में माल भरा हुआ था जिससे सिपाहियों को अनेक कठिन संग्रामों और गर्मी की कष्टकर यात्राओं के लिए इनाम दिये जा सकते थे। करवी के महल के तहखानों और खाज़ानों में सोना, चाँदी, जवाहरात और क़ीमती हीरे भरे हुए थे। × × × ह्विटलाक को इस धन का लोभ था।"

करवी की ऐसी दुर्दशा करने के बाद ह्विटलाक महोबा पहुँचा। वहाँ से उसने सभी ओर अपनी सेना भेजकर आस-पास के विप्लवकारियों का दमन करना आरंभ कर दिया। रानी

लक्ष्मीबाई, रावसाहब, तात्या टोपे, बाँदा का नवाब, शाहगढ़ और बानापुर के राजा तथा अन्य अनेक विप्लवकारी नेता उस समय अपनी-अपनी सेना के साथ कालपी में मौजूद थे।

इस विशाल सैन्यदल के लिए शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेना कोई विशेष कठिन कार्य न था किन्तु इन सब विप्लवकारियों में कोई ऐसा योग्य और प्रभावशाली व्यक्ति न था जो शेष सब को अपने अनुशासन अथवा आज्ञा के अधीन कर सकता। निस्संदेह झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई उन सबों में अधिक योग्य थी किन्तु वह स्त्री थी और उस समय उसकी उम्र केवल २२ वर्ष की थी। तात्या टोपे वीर और दक्ष सेनापति था किन्तु वह एक साधारण घराने में उत्पन्न हुआ था। वह एक ऐसा समय था जब कि प्राचीन प्रतिष्ठित वंश के नरेशों का किसी स्त्री के या साधारण परिवार में उत्पन्न हुए मनुष्य के अधीन काम करना इतना सरल न था जितना कि इस समय सरल समझा जा रहा है।

यहाँ पर भी यह वही दोष था जो कि दिल्ली के पतन का मुख्य कारण हो चुका था और अवध के विप्लवकारियों को भी इसी दोष के कारण अपने प्रयत्नों में असफल होना पड़ा। इतना सब होते हुए भी रानी लक्ष्मीबाई थोड़ी-सी सेना लेकर कालपी से ४२ मील दूर कंचगाँव पहुँची। कंचगाँव में फिर सर ह्यू रोज़ की सेना से लक्ष्मीबाई की सेना का आमना-सामना हुआ और उधर विप्लवकारी नेताओं में मतभेद और अव्यवस्था बनी ही रही। किसी ने भी रानी लक्ष्मीबाई की भरपूर सहायता नहीं की। उसका कुपरिणाम यह हुआ कि कंचगाँव में फिर विप्लवकारियों को पराजित होना पड़ा। इतिहास-लेखक मालेसन

बड़ी प्रशंसा के साथ लिखता है कि पराजय के बाद विप्लव-कारी सेना आश्चर्यजनक व्यवस्था के साथ कालपी की ओर लौट आई। किन्तु इस स्थल पर हमें यही कहना पड़ता है कि यह व्यवस्था उनमें पराजय के बाद पैदा हुई होगी अथवा ऐसा भी हो सकता है कि रानी लक्ष्मीबाई की योग्यता के कारण ही व्यवस्था बनी रही होगी।

कंचगाँव में विजयी होते ही सर ह्यू रोज ने तुरन्त कालपी पर चढ़ाई कर दी। रानी लक्ष्मीबाई ने फिर अपनी पराजित सेना को प्रोत्साहित किया। वह अपने सवारों के साथ स्वयं सर ह्यू रोज का सामना करने के लिए आगे बढ़ी। भयानक और प्रचण्ड रूप से कालपी के मैदान में संग्राम होने लगा। उस संग्राम में भी रानी लक्ष्मीबाई ऐसी वीरता के साथ लड़ी कि एक बार अंग्रेजी सेना के दहिने भाग को पीछे हट जाना पड़ा। कम्पनी के तोपची अपनी तोपें छोड़ कर भाग गये। लक्ष्मीबाई अपने घोड़े पर सब से आगे थी। इसके बाद सर ह्यूरोज बाईं ओर से मुड़कर लक्ष्मीबाई का सामना करने के लिए आगे बढ़ा। अन्त में मैदान सर ह्यू रोज के हाथों रहा। २४ मई को कम्पनी की सेना ने कालपी में प्रवेश किया। कालपी के क़िले में अंग्रेजों को लगभग सात सौ मन बारूद और अनेक अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य बहुत सा सामान मिल गया। रानी लक्ष्मीबाई, राव साहब और बाँदे के नवाब तथा थोड़ी-सी सेना के साथ कालपी छोड़कर निकल गई।

हम मानते हैं कि कालपी के संग्राम में विप्लवकारियों की हार से भारत पर दुर्दिन के बादल और भी भयानक रूप से छा

जाने लगे किंतु साथ ही साथ हमें यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि सर ह्यूरोज़ जो इस समय तक लगभग एक हज़ार मील की कठिन यात्रा कर, पहाड़ों, जंगलों और नदियों को पार कर, बड़ी-बड़ी सेनाओं पर विजय प्राप्त कर चुका था और नर्मदा से यमुना तक का प्रदेश कम्पनी के लिए फिर से विजय कर चुका था, कम्पनी के अत्यंत योग्य और वीर सेनापतियों में से था।

कालपी के युद्ध में पराजित होने के बाद विप्लवकारियों के पास न तो सामान था, न कोई योग्य सेना ही थी और न कोई सुदृढ़ किला ही उनकी रक्षा के लिए था फिर भी रानी लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे में साहस ज्यों का त्यों बना ही रहा। गुप्त रूप से कालपी से निकल कर तात्या टोपे ग्वालियर पहुँचा। ग्वालियर में उसने महाराजा सींधिया की सेना और प्रजा को अपनी ओर कर लिया। इस नई सेना को साथ लेकर वह फिर पीछे को ओर मुड़ा। गोपालपुर में तात्या, लक्ष्मीबाई, बाँदा के के नवाब और रावसाहब की फ़िर भेट हुई। लक्ष्मीबाई ने अब रावसाहब को सब से पहिले ग्वालियर विजय करने की सलाह दी जिससे कि विप्लवकारियों का फिर से एक नया केन्द्र बन सके। २८ मई सन १८५८ को सब विप्लवकारी सेना अपने अपने नेताओं के साथ ग्वालियर के समीप पहुँच गई। विप्लवकारी नेताओं ने मिलकर महाराजा सींधिया के पास निम्न लिखित पत्र को भेज दिया—

"हम लोग आपके समीप मित्र के भाव से आ रहे हैं आप हमारे और अपने पूर्व सम्बन्ध को स्मरण कीजिए। हमें आपसे सहायता की आशा है ताकि हम दक्षिण की ओर बढ़ सकें।"

इसी प्रकार की कुछ और बातें उस पत्र में थीं। किन्तु जयाजीराव सींधिया इन लोगो की ओर मित्रता के भावों को दिखाने के स्थान पर १ जून सन १८५८ को अपनी सेना और तोपों के सामने उनका सामना करने के लिए निकल पड़ा सींधिया के इस भाव को देख कर ती॰ा सौ सवारों के साथ रानी लक्ष्मीबाई सींधिया की तोपों पर टूट पड़ीं। उधर सींधिया की अधिकांश सेना पहले ही तात्या को बचन दे चुकी थी। ये लोग तुरन्त अपने अफ़सरों के साथ विप्लवकारियों की ओर आकर मिल गये। ऐस ही अवसर पर ग्वालियर की समस्त तोपें ठंडी हो गईं।

ग्वालियर के राजा जयाजीराव और उसके मंत्री दिनकरराव को मैदान छोड़कर आगरे की ओर भाग जाना पड़ा। ग्वालियर की प्रजा ने हर्ष और उल्लास के साथ विजयी विप्लवकारियों का स्वागत किया। ग्वालियर की सेना ने पेशवा नाना साहब के प्रतिनिधि रावसाहब को ही पेशवा मानकर तोपों की सलामी दी। सींधिया के अर्थ-मंत्री अमरचन्द भाटिया ने सींधिया का सारा खज़ाना विप्लवकारी नेताओं के हाथों में दे दिया।

३ जून सन् १८५८ को फूलबाग में एक बहुत बड़ा जलसा और दरबार हुआ। समस्त सामन्तों, सरदारों और अमीरों ने भी अपना-अपना स्थान ग्रहण किया। अरब, रुहेला, राजपूत और मराठा पलटनें अपनी वर्दियाँ पहने दरबार में जमा हो गईं। पेशवा का शिरयना और कलग़ी तुर्रा रावसाहब के मस्तक पर रखा गया। समस्त दरबार ने रावसाहब को पेशवा स्वीकार किया। पेशवा के मंत्री भी नियुक्त किये गये। तात्या टोपे प्रधान

सेनापति के पद पर नियुक्त कर दिया गया। बीस लाख रुपये सेना में बाँट दिये गये और अंत में तोपों की सलामी हुई।

इस प्रकार तत्याटोपे और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने दिल्ली, कानपुर और लखनऊ के स्थान पर सन् १८५७-५८ के विप्लवकारियों को एक नया और महत्वपूर्ण केन्द्र प्रदान किया। तात्याटोपे और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के इस कारनामे का वर्णन करते हुए इतिहास-लेखक मालेसन लिखता है—

"इस प्रकार जो बात असंभव मालूम होती थी, वह हो गई। × × × सर ह्यू रोज़ समझ गया कि अब विलम्ब करने से कितना बड़ा नुक़सान अवश्यम्भावी है। यदि ग्वालियर तुरन्त विप्लवकारियों के हाथों से नहीं छीन लिया गया तो कोई यह पहले से नहीं कह सकता कि परिणाम कितना अधिक बुरा हो सकता है। यदि विप्लवकारियों को अवकाश मिल गया तो तात्या टोपे जिसका राजनैतिक और सैनिक बल ग्वालियर पर अधिकार हो जाने के कारण बेहद बढ़ गया है और जिसके पास इस समय ग्वालियर के समस्त जन वहां का धन और सामान मौजूद है। कालपी की पराजित सेना के अवशेषों पर एक नई सेना खड़ी कर लेगा और समस्त भारत के अन्दर एक मराठा विप्लव उत्पन्न कर देगा। तात्या टोपे इस काम में बड़ा चतुर था। ऐसी दशा में सम्भव है कि वह पेशवा का झंडा फहराकर दक्षिण में महाराष्ट्र के ज़िलों को भड़का दे। उन ज़िलों में अँग्रेज़ी सेना शेष नहीं रह गई है। यदि मध्य भारत में विप्लवकारियों को प्रयाप्त सफलता मिल गई तो संभव है कि दक्षिण के निवासी फिर से पेशवा की उस सत्ता के लिए खड़े हो जाँय जिसके लिए

उनके पूर्वज संग्राम कर चुके थे। और अपना रक्त बहा चुके थे।"

इधर ज्यों ही ग्वालियर विप्लवकारियों के अधिकार में आ गया और वहाँ उन सबों ने अपना शासन स्थापित कर लिया त्यों ही रानी लक्ष्मीबाई ने इस बात पर जोर दिया। कि और सब काम छोड़कर सेना को तुरन्त इकट्ठी और व्यवस्थित कर मैदान में लाया जाय। राव साहब और अन्य नेताओं ने रानी की इस सलाह को उपेक्षा की दृष्टि से देखा और विशेष ध्यान नहीं दिया। निमन्त्रणों और उत्सवों में अमूल्य समय नष्ट किया जाने लगा। इतने में सर ह्यू रोज अपनी सेना के साथ आ पहुँचा और बड़े ही वेग के साथ ग्वालियर पर टूट पड़ा। सर ह्यू रोज ने महाराज सींधिया को अपने साथ रखा और इस बात की घोषणा करा दी कि कम्पनी की सेना केवल सींधिया को ग्वालियर की गद्दी पर फिर से स्थापित करने के लिये आक्रमण करने आई है।

इस पर कम्पनी की सेना और सर ह्यू रोज का सामना करने के लिए तात्या टोपे आगे बढ़ा। इस आक्रमण से पहले ही एक बार ग्वालियर की सेना कम्पनी की सेना से उत्तर भारत के युद्ध में हार खा चुकी थी। इसलिए थोड़ी ही देर के संग्राम ग्वालियर की सेना में उथल-पुथल मच गई। राव साहब घबरा गया लक्ष्मीबाई ने फिर एक बार बिखरी हुई सेना में नये जीवन का संचार किया। उसने फिर से सेना की दृढ़ व्यूह रचना की और ग्वालियर नगर के पूर्वीय फाटक की रक्षा का भार स्वयं अपने कंधों पर ले लिया।

इस प्रकार झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई पुनः संग्राम के मैदान में उतर पड़ी। उस समय उसके साथ उसकी दो सहेलियाँ

मन्दरा और काशी घोड़ों पर सवार वीरता के साथ शत्रुओं पर शस्त्र चला रही थीं । कम्पनी की सेना का प्रसिद्ध सेनापति जनरल स्मिथ अब लक्ष्मीबाई का सामना करने के लिए बढ़ा। कई बार स्मिथ की सेना ने पूर्वीय फाटक पर आक्रमण किया किन्तु प्रत्येक बार उसे हार कर पीछे हट जाना पड़ा। कई बार रानी लक्ष्मीबाई ने फाटक से निकल कर बाहर की सेना पर हमला किया और अनेक शत्रुओं को मैदान में समाप्त कर फिर अपने फाटक को आ सँभाला। इतिहास की पुस्तकों में लिखा हुआ मिलता है कि लक्ष्मीबाई उस दिन सबेरे से शाम तक घोड़े पर सवार बिजली के समान इधर से उधर जाती हुई दिखाई देती रही । अन्त में जनरल स्मिथ को उस ओर का प्रयत्न छोड़ कर पीछे हट जाना पड़ा। १७ जून सन १८५८ का मैदान झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के ही हाथों रहा । १८ जून को जनरल स्मिथ और अधिक सेना लेकर फिर उसी फाटक पर पहुँचा। उस दिन अंग्रेज़ी सेना ने कई ओर से ग्वालियर के किले पर हमला किया। जनरल स्मिथ के साथ सेनापति सर ह्यू रोज़ भी रानी लक्ष्मीबाई का सामना करने के लिए पूर्वीय फाटक के सामने दिखाई दिया। बहुत सबेरे, जब कि लक्ष्मीबाई अपनी दोनों सहेलियों के साथ शर्बत पी रही थी, सूचना मिली कि कम्पनी की सेना बढ़ी चली आ रही है। तुरंत शर्बत का कटोरा फेंक कर रानी लक्ष्मीबाई अपनी सहेलियों के साथ आगे बढ़ी। उस दिन रानी लक्ष्मीबाई मर्दाना भेष में थी। एक अंग्रेज़ दर्शक लिखता है—

"तुरंत सुन्दर रानी मैदान में पहुँच गई। सर ह्यू रोज़ की सेना के मुकाबले में उसने दृढ़ता के साथ अपनी सेना को

खड़ा किया। प्रचंड वेग के साथ उसने बार-बार सर ह्यू रोज़ की सेना पर आक्रमण किया। रानी की सेना कई स्थानों में शत्रु के गोलों से बिंध गई। उसके सैनिकों की संख्या निरन्तर कम होती चली गई। फिर भी रानी सर्वदा सब के आगे दिखाई देती थी। बार बार वह अपनी बिखरी सेना को जमा करती रही और पद पद पर अलौकिक वीरता का परिचय देती रही। किंतु इस सब से भी काम न चला। स्वयं सर ह्यू रोज़ ने अपने साँडनी सवारों के साथ आगे बढ़कर रानी लक्ष्मीबाई की अंतिम व्यूह रचना को तोड़ डाला। इस पर भी वीर और निर्भीक रानी अपने स्थान पर डटी रही।"

उस समय जब कि रानी लक्ष्मीबाई अपने इस अलौकिक वीरता के साथ सर ह्यू रोज़ का सामना कर रही थी, तब शेष अंग्रेज़ी सेना अन्य विप्लवकारी दलों को चीरती हुई पीछे की ओर से रानी पर आकर टूट पड़ी। अब तो रानी दोनों ही ओर से घिर गई। ग्वालियर की तोपें ठंढी हो गईं। मुख्य सेना तितर-बितर हो गई। विजयी अंग्रेज़ी सेना चारों ओर से रानी के अधिक समीप बढ़ी चली आ रही थी। रानी के केवल उनकी दोनों सहेलियाँ और १५ या २० सवार बाक़ी रह गये। रानी ने अपने घोड़े को सरपट छोड़ा और शत्रु की सेना को चीरते हुए दूसरे ओर की विप्लवकारी सेना से जाकर मिलना चाहा। उसी समय अंग्रेज़ सवारों ने उसका पीछा किया। रानी लक्ष्मीबाई अपनी तलवार से मार्ग काटती हुई आगे बढ़ी।

अचानक एक गोली उसकी सहेली मन्दरा के आकर लगी। घोड़े से गिरकर मन्दरा चिरकाल के लिए सुरपुर को सिधार गई। तुरन्त रानी ने मुड़कर अपनी तलवार से उस गोरे सवार

पर वार किया, जिसकी गोली ने मन्दरा को सुरपुर भेजा था। सवार कटकर गिर पड़ा, रानी फिर आगे बढ़ी। सामने एक छोटा-सा नाला था। एक छलाँग के बाद अंग्रेज सवारों का रानी लक्ष्मीबाई को छू सकना असंभव हो जाता किन्तु दुर्भाग्य-वश रानी का घोड़ा नया था। पिछले संग्रामों में भयानक युद्ध करते-करते उसके कई प्यारे घोड़े उसकी सवारी में समाप्त हो चुके थे। घोड़ा बजाय छलाँग मारने के नाले के इस पार चक्कर खाने लगा। अंग्रेज सवार अब और अधिक निकट आ पहुँचे। रानी चारों ओर से घिर गई और उस समय वह बिल-कुल अकेली ही थी। सहायता के लिए उसके साथ कोई नहीं था यहाँ तक कि घोड़ा भी धोखा दे चुका था।

कुछ भी हो, रानी में साहस अटूट था और वीरता के भावों की भी कमी न थी। इसलिए उसने अकेले ही उन सब का अपनी तलवार से सामना किया। शत्रु की ओर के एक सवार ने पीछे से आकर रानी के सिर पर वार किया। उसके वार करते ही रानी के मस्तक का दहिना भाग अलग हो गया। दाहिनी आँख भी निकल कर बाहर आ गई, फिर भी लक्ष्मी-बाई घोड़े पर डटी हुई अपनी तलवार चलाती रही। इतने में एक वार रानी की छाती पर हुआ। सिर और छाती दोनों से खून का फव्वारा छूटने लगा। अचेत होते होते रानी ने अपनी तलवार से उस गोरे सवार को जिसने सामने से छाती पर वार किया था, काटकर गिरा दिया! किन्तु इसके बाद लक्ष्मीबाई की भुजा में और अधिक बल न रह गया। सारी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होने लगी। उस समय रानी लक्ष्मीबाई का एक विश्वासपात्र सेवक रामचन्द्रराव देशमुख रानी के

समीप ही था। घटना-स्थल के निकट बाबा गंगादास की कुटिया थी। रानी को उठाकर रामचन्द्रराव उस कुटिया में ले गया। बाबा गंगादास ने रानी को पीने के लिए ठंडा पानी दिया और उसे अपनी कुटिया में लिटा दिया। थोड़े ही समय के अन्दर रानी लक्ष्मीबाई का शरीर ठंडा पड़ गया और रानी इस संसार में अपने जीवन की अमर कहानी और वीरता से पूर्ण निर्मल कीर्ति को छोड़ कर परम धाम को शान्ति लाभ करने के लिए चली गई।

रानी की अंतिम इच्छा के अनुसार रामचन्द्रराव ने शत्रु से छिपाकर घास की एक छोटी-सी चिता बनाई और उसपर रानी लक्ष्मीबाई के मृत शरीर को लिटा दिया। थोड़ी देर में ही आग की लपटों में लक्ष्मीबाई के शरीर की केवल अस्थियाँ शेष रह गई और यह सब सांसारिक कथानक रह गया।

इसमें सन्देह नहीं कि झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई का व्यक्तिगत समस्त जीवन जितना पवित्र और कलंक-हीन था, उसकी परलोक-यात्रा भी उतनी ही प्रशंसनीय और वीरोचित थी। संसार के इतिहास और सामरिक क्षेत्रों में कदाचित् विरले ही उदाहरण इस प्रकार की वीर और पवित्र स्त्रियों के मिलेंगे जिन्होंने इतनी कम आयु में इस प्रकार शुद्ध जीवन व्यतीत करने के बाद झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के समान अलौकिक वीरता और असाधारण युद्ध कौशल के साथ किसी भी देश की स्वधीनता के लिये संग्राम किया हो अथवा इस प्रकार अपने आदर्श के लिए लड़ते लड़ते युद्ध क्षेत्र में परम-धाम को लाभकर लिया हो।

इतिहास लेखक विन्सेण्ट स्मिथ ने जो भारतवर्ष के आदर्शों या भारतवर्ष के रहनेवालों के मनुष्योचित अधिकारों का अधिक पक्षपाती नहीं है, महारानी लक्ष्मीबाई को "स्वाधीनता-संग्राम के नेताओं में सब से अधिक योग्य नेता" स्वीकार किया है। आज भी भारतीय जनता "खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झाँसी वाली रानी थी।" हिन्दी साहित्य की प्रसिद्ध कवियत्री सुभद्रा कुमारी चौहान के इन्हीं वाक्यों के साथ नित्य झाँसी की रानी लक्ष्मी-बाई को बड़ी श्रद्धा के भावों से स्मरण करती रहती है।

मध्यप्रान्त और दक्षिणी भारत की घटनाएँ

अभी तक जिन सब घटनाओं का वर्णन करते हुए हम चले आ रहे हैं उन सब से यह प्रमाणित है कि सन् १८५७ के विप्लव का मुख्य क्षेत्र उत्तरी भारत ही था। यदि विन्ध्याचल से लेकर दक्षिण भारत का समस्त भाग उसी प्रकार इस विप्लव में संगठित हो जाता जिस प्रकार उत्तरी भारत का भाग संगठित हो चुका था तो मद्रास और बम्बई वाली अंग्रेजी सेनाओं का उत्तरी भारत की ओर बढ़कर बिहार, बनारस, इलाहाबाद अवध और रुहेलखण्ड के वीर विप्लवकारियों को फिर से विजय कर सकना असंभव हो जाता और सन १८५७ के विप्लव का अन्तिम परिणाम कुछ दूसरा ही होता। यह सत्य है कि उत्तरी भारत के विप्लव-प्रचारक दक्षिणी भारत में पहुँच चुके थे और उनके प्रचार से वहाँ के अनेक स्थानों में कुछ हुआ भी किन्तु वह सब इतने कम समय में और इतने अव्यवस्थित ढंग से हुआ कि अंग्रेजों के लिए उसे दबा देना अत्यंत सरल होगया और वहाँ के विप्लवकारियों को उससे किसी भी प्रकार का विशेष लाभ न पहुँच सका।

लंदन के अन्दर रंगो बापूजी और अजीमुल्ला खाँ की भेंट का वर्णन हम इसी पुस्तक के प्रारंभ में ही कर चुके हैं। पाठक भी कदाचित् इसे भूले न होंगे। वही रंगो बापूजी सतारा में बैठकर नाना साहब के साथ पत्र व्यवहार करता रहा और वहीं से दक्षिण भारत के अनेक सरदारों और नरेशों को विप्लव के

पक्ष में करने का विशेष रूप से प्रयत्न करता रहा। परिणाम यह हुआ कि १३ जुलाई सन १८५७ को कोल्हापुर की देशी पलटन अंग्रेजों के विरुद्ध बिगड़ खड़ी हुई। सिपाहियों ने अपने कई अंग्रेज अफ़सरों को मार डाला और खज़ाने पर अधिकार जमा लिया। किन्तु इस घटना के थोड़े ही महीनों के भीतर अंग्रेजों ने वहाँ के विप्लवकारियों का दबा लिया और जितने विप्लव कारी थे सभी शान्त होकर बैठ गये। १५ दिसम्बर को महाराजा के छोटे भाई चिमना साहब की सहायता से कोल्हापुर के नगर में फिर से विप्लव होने लगा। नगर के फाटक बन्द कर दिये गये, नगर की दीवारों पर तोपें चढ़ा दी गई और स्वाधीनता का डंका सभी ओर बजवा दिया गया। इतने ही पर वहाँ अंग्रेजी सेना पहुँच गई और भयानक घमासान संग्राम होने लगा। बड़ी देर तक संग्राम होता रहा और अन्त में विजय अंग्रेजों की ही रही। विजयी होते ही अंग्रेज़ दानवता का प्रदर्शन करने लगे और उसी प्रदर्शन को सफल बनाने लिये कोल्हापुर के निवासियों को तोपों के मुँह के पास खड़ा करके उड़ाने लगे। कितने मरे, कितने घायल हुए और कितने निरपराध तोपों के मुँह से उड़ाये गये, इसका वर्णन कर सकना कठिन है।

जिस प्रकार कोल्हापुर की देशी पलटन में विप्लव के लक्षण आने लगे थे उसी प्रकार अगस्त सन् १८५७ में बेलगाँव की देशी पलटन में विप्लव के लक्षण दिखाई देने लगे थे किन्तु तुरंत ही वहाँ के विप्लवकारी नेताओं को तोप के मुँह से उड़ा दिया गया। बेलगाँव और धारवाड़ को भी शांत कर दिया गया। इधर रंगो बापूजी का एक बेटा फाँसी पर लटका दिया गया। सतारा राजकुल के दो व्यक्तियों को निर्वासित कर दिया गया। रंगो

बापूजी सतारा से हट गया। उसको पकड़ने के लिए बड़े-बड़े इनामों की घोषणा की गई और अनेक गुप्तचर नियुक्त किये गये किन्तु फिर भी उसका पता न चल सका।

विप्लव के दिनों में ही बम्बई की कई देशी पलटनों ने निश्चय कर रखा था कि पहले बम्बई शहर में विप्लव के कार्यों को आरंभ किया जाय और फिर पूना पर आक्रमण करके वहाँ पर अपना अधिकार जमा लिया जाय यदि पूर्णरूप से अधिकार जम गया तो नाना साहब को पेशवा मानकर उसकी घोषणा करा दी जाय। इसी प्रकार के परामर्शों में ही बम्बई के सिपाही बहुत सा समय नष्ट करने लगे और अंग्रेजों को उनके सभी इरादों का पता चलता गया। ऐसी दशा में वही हुआ जो होना चाहिये था अर्थात् कुछ सिपाहियों को फाँसी दे दी गई, कुछ को देश से निर्वासित कर दिया गया और विप्लव की जो अग्नि जलने वाली थी उसे जलने से पहले ही शान्त कर दिया।

नागपुर के समीप की छावनी में कुछ देशी सिपाहियों ने १३ जून सन् १८५७ के दिन विप्लव करने का निश्चय कर लिया था। वहाँ के और आस-पास के बड़े-बड़े नागरिक और दूसरे वर्ग के मुख्य-मुख्य व्यक्ति विप्लव की इस योजना में सम्मिलित होने का वचन भी दे चुके थे। सभी प्रकार की तैयारियाँ हो चुकी थीं किन्तु १६ जून से पहले ही नागपुर पहुँच कर मद्रास की देशी पलटनों ने विप्लवकारियों को ऐसा दबाया कि वे कुछ कर भी न सके और बड़ी सरलता से ठोक कर लिये गये।

जबलपुर प्रान्त का गोंड राजा शंकरसिंह और उसका पुत्र ये दोनों ही सच्चे देशभक्त, स्वाधीनता के प्रेमी और विप्लव के पक्के साथी थे। उन्होंने जबलपुर की ५२ नम्बर देशी पलटन

को बड़ी ही बुद्धिमानी के साथ अपनी ओर कर लिया था किन्तु दुर्भाग्य से कुछ ऐसे देशद्रोही गुप्तचर पीछे लग गये थे, जिनके कारण अंग्रेज़ों को सारा हाल मालूम होता चला गया। जब जबलपुर की देशी पलटन और वहाँ का गोंड राजा तथा राजाकुमार विप्लव की भयानक अग्नि जलानेवाले थे तब अंग्रेज़ों ने गोंड-राजा और उसके पुत्र को तुरंत कैद कर लिया। इसके बाद वही दानवता का नंगा चित्र जनता के सामने दिखाने का प्रयत्न किया जिसे वे भारत के सभी स्थानों में दिखाते चले आ रहे थे अर्थात् १८ सितम्बर सन् १८५७ के दिन अंग्रेज़ों ने राजा शंकर-सिंह और उसके पुत्र को तोप के मुँह से उड़ा दिया। इस क्रूर और वीभत्स घटना का प्रभाव ऐसा पड़ा कि ५२ नम्बर की देशी पलटन बिगड़ खड़ी हुई। परिणाम यही हुआ कि वहाँ का एक अंग्रेज़ अफ़सर तुरंत मार डाला गया और ५२ नम्बर पलटन के थोड़े-से सिपाहियों ने अन्य स्थानों पर जाकर विप्लव में भाग लिया। दिल्ली के शाहज़ादे फ़ीरोज़शाह ने रियासत धार में, महीदपुर में, गोरिया में और इसी प्रकार अन्य कई स्थानों में विप्लव की योजनाएँ कीं किन्तु कहीं भी विशेष सफलता न हो सकी।

अब हम चाहते हैं कि पाठक दक्षिण हैदराबाद की ओर भी कुछ देर के लिए घूम पड़ें। सन् १८५७ के विप्लव में यहाँ का निज़ाम अफ़ज़लुद्दौला और उसका वज़ीर सर सालारजंग किस विचारधारा का था, यह भी जान लेना आवश्यक है।

रियासत हैदराबाद की नीति सदा से विचित्र रही है। इसे नित्य इस बात का अभिमान रहा है कि भारतवर्ष में मेरे समान दूसरा कोई नहीं है। उसके इस अभिमान का कारण यही है

है कि यह रियासत जन-संख्या के विचार से अब भी भारतवर्ष की रियासतों में सब से बड़ी है और सब से अधिक धनवान भी है। इस रियासत का क्षेत्रफल ८२६९८ वर्ग मील है। यहाँ की ८२ प्रतिशत जनता अब भी हिन्दू है और राजवंश मुसलमान हैं। शासक 'निज़ाम' के नाम से प्रसिद्ध है। क्षेत्रफल के विचार से इस देश की सब से बड़ी रियासत काश्मीर है किन्तु काश्मीर का अधिक भाग पहाड़ी है इसलिए वहाँ की आबादी हैदराबाद की आबादी से कहीं कम है। थोड़े में यों समझ लेना चाहिए कि काश्मीर की आबादी से हैदराबाद की आबादी चौगुनी है और हैदराबाद की भूमि उपजाऊ और धन-धान्य से पूर्ण होने के कारण यह भारतवर्ष की प्रमुख रियासत हो गई है। यह रियासत तीन भागों में विभक्त है। आन्ध्र, महाराष्ट्र और कर्नाटक। ये तीनों भाग भाषा और संस्कृति के विचार से आज भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं किन्तु समीप के प्रान्तों के इसी प्रकार के भागों से इनका गहरा और प्राकृतिक सम्बन्ध है अतएव इस स्थल पर समझ लेना चाहिए कि रियासत हैदराबाद भिन्न-भिन्न प्रकार के तीन भागों का समुदाय मात्र है।

इस रियासत का संस्थापक इस समय से सवा दो सौ साल पूर्व उत्तरी भारत से यहाँ आया था और वह रियासत के तीन भागों की तीनों भाषाओं का जानकार भी न था इसलिए उर्दू को ही उसने यहाँ की राजभाषा बनाया। इस भाषा के जानने वाले अधिकतर मुसलमान हैं, इसलिए यहाँ की अधिकांश आबादी हिन्दुओं की होने पर भी मुस्लिम अहलकारों का प्रभुत्व है और उन मुसलमानों में से कुछ तो बाहर से आये हुए हैं और जो स्थानीय हैं उनका भी विशेष सम्बन्ध

जनता से नहीं है। रियासत की अधिकतर आबादी हिन्दुओं की ही है इसलिए यहाँ का निज़ाम-वंश अंग्रेज़ों की ही मित्रता के पक्ष में रहा है और यहाँ पर सर्वदा अंग्रेज़ अफसरों का बोलबाला रहा है। सन १८५३ में निज़ाम ने बरार प्रान्त उस्मानाबाद और रायपुर ज़िले कम्पनी को इसलिए दिये थे कि इनकी आमदनी से हैदराबाद में रहनेवाली कम्पनी की सेना का खर्च चले और जो रकम बच रहे वह निज़ाम को दे दी जाया करे। सन् १८५७ के विप्लव में निज़ाम ने अंग्रेज़ों की बड़ी सहायता की थी और सहायता करने के कारण ही उस्मानाबाद और रायपुर के ज़िले उसे लौटा दिये गये थे। इन्हीं सब कारणों से हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सन् १८५७ के विप्लव की सफलता और असफलता का उत्तरदायी तथा अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दक्षिणी भारत का हैदराबाद अवश्य था।

एक अंग्रेज़ इतिहास लेखक लिखता है—"तीन महीने तक हिन्दुस्तान का भाग्य निज़ाम अफ़ज़लुद्दौला और उसके वज़ीर सर सालारजंग के हाथों में था।" इसमें संदेह की कुछ भी बात नहीं है कि यदि हैदराबाद का निज़ाम उस समय के स्वाधीनता प्रेमी विप्लवकारियों का साथ दे जाता तो समस्त दक्षिण भारत में विप्लव की ऐसी भयंकर अग्नि जल उठती जिसे शान्त कर सकना अंग्रेज़ों के लिए असंभव हो जाता।

जून और जुलाई सन् १८५७ में दक्षिण हैदराबाद के नगर-निवासियों के अन्दर विप्लव की ओर अधिक उत्तेजना के भाव दिखाई पड़े। बड़े-बड़े मौलवियों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध फ़तवे निकाले, विप्लव का समर्थन करने और जनता के भावों को विप्लव के अनुकूल बनाने के लिए असंख्य पत्र-पत्रिकाएँ बाँटी

गईं। मस्जिदों में बड़ी-बड़ी सभाएँ हुईं और कुछ मुसलमान सिपाही विप्लव की अग्नि को उत्तेजित करने के लिए मैदान में उतर भी आये किन्तु दक्षिण हैदराबाद के निजाम अफ़ज़लुद्दौला और उसके वज़ीर सालारजंग ने भारतमाता के वीर सपूतों को गुलामी के जंजीर में जकड़ देने के लिए दानवी कृत्य करने वाले अंग्रेजों का ही सच्चा साथ दिया। हाँ हाँ, कहीं भी कोई विप्लवकारी अथवा विप्लव के आन्दोलन को चलाने वाला कोई नेता वहाँ मिल गया तुरंत उसे पकड़ कर अंग्रेजों के हवाले कर दिया और कभी-कभी ऐसा भी किया कि कम्पनी की दानवी सेना की सहायता से स्वयं विप्लवकारी सिपाहियों को कटवा डाला और अपने हैदराबाद राज्य को बचाये रखा।

इसी दक्षिण हैदराबाद के समीप एक दूसरी छोटी सी रियासत थी। वह उस समय जोरापुर की रियासत के नाम से प्रसिद्ध थी। रियासत जोरापुर का राजा छोटी उम्र का होने पर भी विप्लव के पक्ष में था। अंग्रेजों से लड़ने के लिए उसने अरब और रुहेले पठानों की एक सेना जमा कर ली थी। फर्वरी सन् १८५८ में वह हैदराबाद आया। सर सालारजंग ने उसे गिरफ़्तार कर लिया और तुरंत अंग्रेजों के हवाले कर दिया। गिरफ़्तारी के बाद भी इस बालक राजा का व्यवहार अत्यंत प्रशंसनीय और वीरोचित रहा। एक अंग्रेज अफ़सर मीडोज टेलर के साथ वह अधिक मेल-जोल रखता था और उसे 'अप्पा' कहा करता था। जेलखाने में मीडोज टेलर उससे मिलने गया। राजा पहले के ही समान बड़े आदर से मिला। मीडोज टेलर ने उससे बड़ी देर तक बातें की और बातों ही बातों में उससे अन्य विप्लवकारी नेताओं के नाम पूछे। इस सम्बन्ध में मीडोज

लिखता है—राजा ने बड़े अभिमान के साथ अकड़कर कहा, "नहीं अप्पा, यह मैं कभी नहीं बतलाऊँगा ! आप मुझे इस बात की सलाह देते हैं कि मैं रेजीडेन्सी से जाकर मिलूँ किन्तु मैं यह नहीं करूँगा। कदाचित् उसे यह आशा होगी कि मैं अपने प्राणों की भिक्षा माँगूँगा किन्तु अप्पा ! मैं दूसरे की भिक्षा पर कायर के समान जीना पसंद नहीं करता और न मैं कभी अपने देशवासियों का नाम प्रकट करूँगा।"

इस घटना के बाद वही अंग्रेज़ अफ़सर मीडोज़ टेलर एक दिन फिर राजा के पास मिलने के लिए गया। जाते ही उसने उस बालक राजा से कहा, "यदि तुम दूसरे विप्लवकारी नेताओं के नाम बतला दोगे तो तुम्हें क्षमा कर दिया जायगा।" मीडोज़ टेलर के ऐसा कहते ही उस बालक राजा ने कहा, "× × × क्या ? जब कि मैं मृत्यु के मुख में जाने को तैयार हूँ तब क्या मैं विश्वासघात करके अपने देश निवासियों के नाम प्रकट करूँगा ! नहीं, नहीं तोप, फाँसी, कालापानी इनमें से कोई भी इतना भयंकर नहीं है जितना कि विश्वासघात !" बालक राजा के उत्तर निस्सन्देह प्रशंसनीय और विशेष रूप से वीरोचित मर्यादा के अनुसार ही थे। मीडोज़ टेलर ने राजा को सूचना दी, तुम्हें प्राणदंड दिया जायगा।" इस सूचना को सुन लेने पर भी उस वीर बालक राजा ने उत्तर देते हुए कहा—"किन्तु अप्पा ! मुझे एक प्रार्थना करनी है। मुझे फाँसी न देना, मैं चोर नहीं हूँ। मुझे तोप के मुँह से उड़ाना। फिर देखना कि मैं कितनी शान्ति के साथ तोप के मुँह पर खड़ा रह सकता हूँ।"

उस वीर बालक राजा के इन उत्तरों से मीडोज़ टेलर मुग्ध हो गया। अन्य दानवी अंग्रेज़ों का अनुकरण करना वह भूल

गया। उसने हैदराबाद के रेजीडेन्ट से उस वीर बालक राजा के लिए विशेष रूप से अनुरोध किया। किसी भी प्रकार उसे प्राणदंड न दिया जाय इस बात आग्रह भी किया। उसके विशेष रूप से कहने-सुनने का फल इतना ही हुआ कि उस वीर बालक राजा को प्राणदण्ड के स्थान पर कालेपानी की सजा दी गई। जब उस वीर बालक राजा को कालेपानी लिये जा रहे थे, तब उस वीर बालक राजा ने अपने किसी अंग्रेज पहरे-दार से खेल-खेल में पिस्तौल ले ली और अवसर पाकर अपने ऊपर गोली दाग ली। इस घटना से पूर्व उसने एक दिन कहा था—"मैं कालेपानी से मृत्यु को अधिक पसंद करता हूँ! कैद और कालापानी? मेरी प्रजा में से तुच्छ से तुच्छ पहाड़ी भी जेल में रहना पसंद न करेगा। फिर मैं तो उन सबका राजा हूँ।"

इस वीर बालक राजा का वृत्तान्त और उसके शब्द जो कुछ भी हमने इस पुस्तक में दिये हैं वे सब उसी वीर बालक राजा के मिलने वाले उसी अंग्रेज अफ़सर मीडोज टेलर की लिखी हुई अंग्रेजी पुस्तक "स्टोरी आफ़ माई लाइफ़" नाम की पुस्तक से ही लिये गये हैं।

जोरापुर के वीर बालक राजा की घटना के बाद एक दूसरी घटना का वर्णन कर देना भी आवश्यक हो रहा है। वह घटना भी किसी भी प्रकार उक्त घटना से कम रोमांचकारी नहीं है। इस घटना से पाठकों को यह भली भाँति ज्ञात हो जायगा कि किस प्रकार अपना ही भाई अपने लिए शत्रु का रूप धारण कर लेता है और व्यक्तिगत स्वार्थ की संकुचित सीमा से ही वह उज्ज्वल होने वाले राष्ट्र के भविष्य को घोर अंधकारमय बना देता है।

ज़ोरापुर के राजा का एक साथी था। वह भी नारगुण्ड नाम की रियासत का राजा था। वह भास्करराव बाबा साहब के नाम से प्रसिद्ध था। बाबा साहब की रानी वीरता के भावों से ओत-प्रोत थी। स्वाभिमान और स्वाधीनता ये दोनों ही उसके जीवन के मुख्य ध्येय थे। वह किसी विदेशी शक्ति के अधीन जीवित रहना अपना और अपने वंश का न मिटने वाला कलंक समझती थी। इसीलिए वह अंग्रेज़ों के लिए साक्षात् मृत्यु का स्वरूप बनने को तैयार रहा करती थी। वह नित्य अपने स्वामी भास्करराव बाबा साहब को अंग्रेज़ों के विरुद्ध हथियार उठाने के लिए उत्तेजित किया करती थी किंतु बाबा साहब भी उसकी बातों को एक कान से सुनते थे और दूसरे कान से निकाल देते थे। कुछ दिनों के बाद रानी ने हठपूर्वक राजा से अंग्रेज़ों को मार भगाने के लिए कहा। लिखा है कि बहुत दिनों तक सोचने-विचारने में ही राजा का समय बीत गया। अंत में रानी के विशेष रूप से आग्रह करने पर २५ मई सन् १८५८ को बाबा साहब ने भी अंग्रेज़ों के विरुद्ध संग्राम की घोषणा कर दी। बाबा साहब के सैनिक हथियार बाँधकर तैयार हो गये। इधर बाबा साहब की युद्ध-घोषणा को सुनते ही कम्पनी की एक सेना को लेकर मॉनसन नाम का एक अंग्रेज तुरन्त नारगुण्ड की ओर चल पड़ा। उधर बाबा साहब ने भी अपने कुछ सिपाहियों के साथ मॉनसन को रात्रि के समय नारगुण्ड के समीप एक जंगल में जाकर घेर लिया। फिर क्या था? दोनों ही ओर के सैनिकों ने अपने-अपने हथियार सम्हाल लिये। जंगल में ही भयानक रूप से संग्राम होने लगा और परिणाम यह हुआ कि मॉनसन संग्राम में ही मार डाला गया और उसका सिर तुरन्त काट

लिया गया तथा बचे हुए धड़ को जला दिया गया। कम्पनी की जितनी सेना बाबा साहब को जीतने के लिए आई हुई थी उसमें से अनेक सैनिक मारे गये और जो शेष रहे वे सब अपने-अपने प्राणों को लेकर भाग गये। दूसरे दिन सबेरा होते ही मॉनसन का कटा हुआ मस्तक नारगुण्ड की दीवार पर लटका दिया गया। समस्त नारगुण्ड रियासत में बाबा साहब की वीरता और विजय की प्रशंसा होने लगी किंतु बाबा साहब का सौतेला भाई इस प्रशंसा से खिन्न होने लगा। वह गुप्त रूप से अंग्रेजों के साथ मिल गया और किस प्रकार अंग्रेज बाबा साहब को परास्त कर सकेंगे, उसका भेद बतलाने लगा। उससे सारा भेद मालूम लेने पर अंग्रेजी सेना ने नारगुण्ड पर फिर से आक्रमण किया। इस बार के आक्रमण में बाबा साहब की सेना हार गई। बाबा साहब स्वयं निकलकर भाग गया। किंतु थोड़े ही दिनों के बाद बाबा साहब गिरफ़्तार कर लिया गया और १२ जून सन् १८५८ को वह फाँसी पर लटका दिया गया। उसकी रानी और माता दोनों ने मालप्रभा नदी में कूद कर चिर-शान्ति लाभ कर ली।

स्वाधीनता के पुजारी कोमल दुर्ग के भीमराव ने खानदेश के भीलों और उनकी स्त्री ने तीर-कमान लेकर अंग्रेजों से युद्ध किया था किन्तु ये सब प्रयत्न समय निकल जाने के बाद ही हुए इसीलिए सरलता से दमन कर दिये गये। इसी प्रकार समय निकल जाने पर रंगून और बरमा के अन्य प्रान्तों में थोड़ा-सा विप्लव हुआ था किन्तु कुछ भी लाभ न हो सका।

नाना साहब और बेगम हजरत महल

मध्य-प्रान्त और दक्षिणी भारत की घटनाओं का वर्णन समाप्त कर हम फिर उसी अवध की ओर आते हैं जिसे हम यह मान चुके हैं कि सन् १८५७ के विप्लव का वही एकमात्र सब से बड़ा क्षेत्र था। यहाँ पर ध्यान देने योग्य विशेष बात यह है कि मौलवी अहमदशाह की हत्या कराने से पहले ही लार्ड कैनिंग ने समस्त अवध में यह घोषणा करा दी थी कि जो लोग हथियार रख देंगे उन्हें कम्पनी की ओर से क्षमा कर दिया जायगा और जिन लोगों की जागीरें आदि ज़ब्त कर ली गई हैं वे सब लौटा दी जायँगी किन्तु फिर भी इस घोषणा का कोई विशेष सन्तोषजनक प्रभाव विप्लवकारी जनता पर पड़ता हुआ दिखाई न पड़ा। इसके बाद ही ५ जून सन् १८५८ को अहमदशाह की हत्या की गई। इस अमानुषिक हत्या-काण्ड से अवध-निवासियों का क्रोधानल फिर एक बार भयानक रूप से भड़क उठा। परिणाम यह हुआ कि निज़ामअली खाँ ने पीली-भीत पर आक्रमण कर दिया। पीलीभीत में कम्पनी की जितनी भी सेना थी उससे सम्हलते भी न बना। खानबहादुर खाँ ने तुरन्त चार हज़ार सैनिकों की सेना तैयार कर ली; उनमें वीरता के भावों को लाकर फिर से अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ने का साहस संचार किया। हतोत्साह के कारण जितनी कायरता आ चुकी थी, उसे बात की बात में दूर कर दिया और फिर उसी

सेना को लेकर खानबहादुर खाँ फिर से स्वाधीनता-संग्राम के मैदान में उतर आया।

जब निज़ामअली खाँ और खानबहादुर खाँ के मैदान में उतरने का समाचार फ़र्रुखाबाद पहुँचा तब वहाँ भी पाँच हज़ार सिपाही नये साहस और नये उत्साह के साथ फिर से जमा हो गये। स्वाधीनता-लाभ करने के लिए पागल बननेवाले विप्लव-कारी जी-जान से अंग्रेज़ों के विरुद्ध हथियार बाँधकर मैदान में युद्ध की प्रतीक्षा करने लगे। नाना साहब, बाला साहब, विलायत-शाह और अलीखाँ मेवाती के अधीन हज़ारों विप्लवकारी सैनिक आ-आकर जमा होने लगे। उन सबों के लिए अंग्रेज़ों का भारत में रह जाना ही बड़े दुःख का विषय हो रहा था। जितनी शीघ्रता से सम्भव हो सके उतनी ही शीघ्रता से भारत से अंग्रेज़ों को निकाल देना उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य हो रहा था। घाघरा नदी के किनारे चौक घाट में बेगम हज़रत महल और सरदार मामुँ खाँ की सेना इकट्ठी हो चुकी थी। वह एक क्षण भी विलम्ब करने को तैयार न थी। जिस प्रकार आँखों के लिए शूल दुःख देने वाले माने गये हैं उसी प्रकार उन सबों की आँखों में अंग्रेज़ खटक रहे थे। शाहज़ादा फ़ीरोज़शाह भी इसी समय अवध में ही था। इन सब के अतिरिक्त रुइया का राजा नरपतसिंह, राजा रामबख्श, बहुनाथसिंह, चन्दासिंह, गुलाबसिंह, भूपालसिंह, हनुमन्तसिंह आदि अनेक बड़े-बड़े ज़मींदार अपने-अपने सैन्यदल लेकर अवध को फिर से अंग्रेज़ों के अधिकार से छीन लेने के प्रयत्नों में लग गये। बूढ़े राजा बेनीमाधव ने फिर से लखनऊ पर चढ़ाई करने की तैयारी

आरंभ कर दी। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि उन सबों में नई उत्तेजना आ चुकी थी।

जिस समय अंग्रेज़ों ने विप्लवकारियों और उनके नेताओं की इन सब तैयारियों का समाचार सुना उस समय वे सब किंकर्त्तव्य-विमूढ़ से हो गये। उनकी समझ में यही न आया कि विप्लवकारियों में यह सब वीरता का भाव किस प्रकार फिर से आ गया। कौन ऐसी शक्ति उन सबों की सहायता करने लगी है जिससे कि वे सब फिर से अंग्रेज़ों को तुच्छ समझकर लड़ने का विचार करने लगे हैं! बड़े ही आश्चर्य का विषय है। १३ महीने तक तो लगातार संग्राम होते रहे और छ महीने से ऊपर तक लखनऊ में ही रक्त की नदियाँ बहती रहीं। किसी प्रकार प्राणों की रक्षा करनेवाले और लखनऊ छोड़कर भाग जाने-वाले विप्लवकारी नेता अब क्या सोचकर फिर से युद्ध का प्रयत्न करने लगे हैं! क्या अब भी उन सबों में कोई ऐसा पुरुष रह गया है जिसने अंग्रेज़ों से हार न खाई हो और जो इस समय वीरता के साथ लखनऊ पर आक्रमण करने का साहस कर रहा है! कुछ भी हो, विप्लवकारियों की सेना इस बार लखनऊ के समीप नवाबगंज में आकर जमा हुई। १३ जून सन् १८५८ को सेनापति होपग्राण्ट के अधीन कम्पनी की सेना ने, जिसमें कई हिन्दुस्तानी पलटनें शामिल थीं, अचानक इन सब विप्लवकारियों पर आक्रमण किया। उस दिन के संग्राम का वृत्तांत सेनापति होपग्राण्ट इस प्रकार लिखता है—

"हम लोगों पर उनके आक्रमण असफल रहे, किन्तु वे आक्रमण अत्यंत शक्तिशाली थे और हमें उनका सामना करने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ा। असंख्य सुन्दर और साहसी

जमींदारों ने दो तोपें खुले मैदान में लाकर पीछे की ओर से हम पर आक्रमण किया। मैंने हिन्दुस्तान में बहुत से मैदान संग्राम के देखे हैं और बहुत से बहादुर को इस दृढ़ता के साथ लड़ते देखा है कि या तो विजय प्राप्त करेंगे या मर मिटेंगे किन्तु मैंने इन जमीदारों के व्यवहार से बढ़कर शानदार कभी कोई दृश्य नहीं देखा। पहले उन्होंने हमारी एक सवार पलटन पर आक्रमण किया। हमारे सवार उनके सामने न ठहर सके और इतने विचलित हो गये कि हमारी दो तोपें जो उस पलटन के साथ थीं बड़े संकट में पड़ गई मैंने एक दूसरी सात नम्बर पलटन को आगे बढ़ने का आदेश दिया। उनके साथ चार और तोपें थीं। ये तोपें शत्रु से पाँच सौ गज की दूरी पर लगा दी गईं। उन पर गोले बरसाने आरंभ किये गये। वे इस बुरी तरह कट-कट कर गिरने लगे जिस प्रकार हसिये से घास। उनका नेता एक लम्बा-चौड़ा आदमी था। उसके गले में एक घेघा था। वह तनिक भी नहीं घबराया। उसने अपनी तोपों के पास दो हरे झण्डे गड़वा कर उनके निचे अपने आदमियों को इकट्ठा किया किंतु हमारे गोले इतनी बुरी तरह बरस रहे थे कि जो लोग तोपों के पास तक पहुँचते थे, वहीं मर कर गिर पड़ते थे। इसके बाद दो और नई पलटनें हमारी सहायता के लिए पहुँच गई। तब हम बाकी बचे शत्रुओं को पीछे हटा सके। इस पर भी वे अपनी तलवारें और भाले हमारी ओर घुमाते जाते थे। केवल उन दोनों तोपों के आस-पास हमें १२५ लाशें मिलीं। तीन घंटे के घमासान संग्राम के बाद विजय हमारी ओर रही।"

समस्त अवध में इसी प्रकार के घमासान संग्राम चारों ओर होने लगे। जिस प्रकार अंग्रेजी सेना के सैनिक वीरता के साथ

लड़कर भारत को गुलाम बनाना चाहते थे उसी प्रकार विप्लवकारी सेना के सैनिक वीरता के साथ लड़कर भारत को स्वाधीन बनाना चाहते थे। समय और परिस्थिति की अनुकूलता और प्रतिकूलता पर किसी का भी वश नहीं है अथवा उस समय भारत का भविष्य कुछ और ही हो जाता। कुछ भी हो भारतीय वीर अपना कार्य कर ही रहे थे।

अक्टूबर सन् १८५८ में कमाण्डर-इन-चिफ (प्रधान सेनापति) सर कॉलिन कैम्पबेल ने नये सिरे से असंख्य अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी पलटनों को जमा किया और चारों ओर से अवध के विप्लवकारियों को घेर कर ऐसा प्रबल आक्रमण किया कि वे सब अधिक समय तक युद्ध के मैदान में न ठहर सके। दक्षिण की ओर भागने का रास्ता था ही नहीं इसलिए उत्तर की ही ओर भागने लगे। वे उत्तर की ओर भागते जाते थे और अंग्रेजी सेना उनका पीछा करती जा रही थी। ऐसा ज्ञात होता था मानों अंग्रेजी सेना उन्हें खदेड़े लिये जा रही हो। विप्लवकारी भागते जाते थे और कभी कभी कहीं रुक कर युद्ध भी करते जाते थे। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं वे अंगरेजी सेना को ऐसा खदेड़ते थे कि उसे रास्ता ही नहीं मिलता था। कहना पड़ता है कि नये सिरे से अवध के निवासियों ने एक-एक इंच जमीन के लिए विकट से विकट संग्राम किये। अपने कर्त्तव्य से वे डिगे नहीं।

राजा बेनीमाधव के निवास स्थान शंकरपुर पर तीन सेनाओं ने एक ही साथ तीन ओर से चढ़ाई की। उस समय अंग्रेजों की शक्ति बहुत कुछ बढ़ी-चढ़ी हुई थी और शंकरपुर के राजा

बेनीमाधव के पास सेना और सामान दोनों की ही कमी थी फिर भी स्वाधीनता का पुजारी वीर राजा बेनीमाधव ने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार नहीं की। कमाण्डर-इन-चीफ़ सर कॉलिन कैम्पबेल ने राजा बेनीमाधव के पास सन्देशा भेजा, "अब आप को विजय की आशा करना व्यर्थ है। यदि आप वृथा रक्तपात नहीं चाहते तो अंग्रेज सरकर की अधीनता स्वीकार कर लिजिए। आपको क्षमा कर दिया जायगा और आपकी समस्त जमींदारी आपको लौटा दी जायगी।"

राजा बेनीमाधव ने तुरंत उत्तर दिया, "इसके बाद किले की रक्षा कर सकना मेरे लिये असंभव है, इसलिए मैं किले को छोड़ रहा हूँ। किंतु मैं अपना शरीर कदापि आपके सुपुर्द न करूँगा। क्योंकि मेरा शरीर मेरा अपना नहीं, बल्कि मेरे बादशाह का है।"

इसमें सन्देह नहीं कि 'बादशाह' शब्द से राजा बेनीमाधव का तात्पर्य अवध नरेश नवाब बिरजिस क़द्र और दिल्ली के सम्राट बहादुरशाह से था। देश-भक्ति और राज-भक्ति के साथ साथ स्वाभिमान और स्वाधीनता के भावों का कितना अपूर्व ज्वलन्त उदाहरण है! अवध! तू धन्य है!

सन् १८५७ के विप्लव को आरंभ हुए पूरा डेढ़ वर्ष बीत चुका था। इस समय वह घटना हुई जो भारतीय बृटिश राज्य के इतिहास में एक विशेष सीमा चिन्ह मानी जाती है। विप्लव के प्रारंभ में ही यह भविष्यवाणी हो चुकी थी कि भारत से अंग्रेज कम्पनी का राज्य उठ जायगा। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि यह भविष्यवाणी सच हुई क्योंकि पहली नवम्बर सन्

१८५८ से कम्पनी का राज्य भारतवर्ष से हटा लिया गया। इंग्लैण्ड के शासकों ने उस समय कंपनी की एक सौ साल की सत्ता को समाप्त कर देना ही अपनी कुशल के लिए विशेष रूप से आवश्यक समझा इसलिए पहली नवम्बर से ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के स्थान पर इङ्गलैण्ड की मलका विक्टोरिया का राज्य भारत पर स्थापित कर दिया गया।

उस समय लॉर्ड कैनिंग इलाहाबाद में था। पहली नवम्बर को 'भारतीय नरेशों और भारतीय प्रजा के नाम' मलका विक्टोरिया की एक घोषणा भारतवर्ष में प्रकाशित की गई। उसी दिन लॉर्ड कैनिंग ने स्वयं इलाहाबाद में दारागंज के समीप क़िले के नीचे इस घोषणा को असंख्य मनुष्यों के सामने पढ़ कर सुनाया। इस घोषणा में मलका विक्टोरिया की ओर से भारत के निवासियों को सूचना दी गई कि—

"कम्पनी का राज्य अब से समाप्त हुआ और उसके स्थान पर भारत के शासन की बाग हमने (अर्थात् मलका विक्टोरिया) अपने हाथों में ले ली है, सिवाय उन लोगों के जो हमारी अंग्रेज़ी प्रजा की हत्या में भाग लेने के अपराधी हैं, शेष जो लोग भी हथियार रख देंगे उन सब को क्षमा कर दिया जायगा। भारत के निवासियों की गोद लेने की प्रथा भविष्य में उचित समझी जायगी और दत्तक पुत्रों को पिता की सम्पत्ति और गद्दी का अधिकारी माना जायगा। किसी के धार्मिक विश्वासों या धार्मिक रीति रिवाज में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जायगा। देशी नरेशों के साथ कम्पनी ने इस समय तक जितनी सन्धियाँ की हैं उन सब शर्तों का भविष्य में ईमानदारी के साथ पालन किया जायगा। इसके बाद किसी भारतीय नरेश की

रियासत या उसका कोई अधिकार नहीं छीना जायगा। समस्त भारत निवासियों के साथ ठीक उसी प्रकार का व्यवहार किया जायगा जिस प्रकार का व्यवहार अंग्रेजों के साथ किया जा रहा है। इसी प्रकार की और भी अन्य सूचनाएँ थीं।

किंतु अभिमान के साथ कहना पड़ता है कि कम से कम उस समय अवध के निवासियों पर मलका विक्टोरिया की इस घोषणा का कुछ भी प्रभाव संतोष-जनक रूप से न पड़ा। इंग्लैण्ड की मलका की ओर से इस घोषणा के प्रकाशित होते ही बेगम हज़रत महल की ओर से एक घोषणा इसके जवाब में अवध की समस्त प्रजा के नाम प्रकाशित हुई। यह घोषणा हिन्दुस्तानी भाषा में थी किन्तु उसी रूप में यह हमें नहीं मिल सकी है। यहाँ हम जो कुछ दे रहे हैं वह सब अंग्रेजी से ही अनुवाद करके दे रहे हैं क्योंकि उस समय के जितने पत्र और घोषणा आदि हैं सभी का अनुवाद अंग्रेजी में ही हो चुका था और अब वे सब पत्र आदि नहीं मिल रहे हैं। बेगम हज़रत महल ने अपनी उस घोषणा में लिखा था कि,

"× × × पहली नवम्बर सन् १८५८ की घोषणा जो हमारे सामने आई है बिलकुल स्पष्ट है। × × × इसलिए हम × × × बहुत सोच समझ कर अपनी यह घोषणा प्रकाशित करते हैं जिससे कि पूर्वीय घोषणा के मुख्य-मुख्य असली उद्देश्य प्रकट हो जायँ और हमारी प्रजा सावधान हो जाय।

उस घोषणा में लिखा है कि भारतवर्ष का देश जो अभी तक कम्पनी के शासन में था अब मलका ने अपने शासन में ले लिया है और भविष्य से मलका के कानून को माना जायगा।

हमारी धर्मनिष्ठ प्रजा को इस पर भरोसा नहीं करना चाहिए क्योंकि कम्पनी के कानून, कम्पनी के अंग्रेज कर्मचारी,कम्पनी के गवर्नर जनरल और कम्पनी की अदालतें आदि सब ज्यों की त्यों बनी रहेंगी। तो फिर वह नई बात कौन सी हुई जिससे जनता को लाभ हो या जिस पर वह विश्वास कर सके।

उस घोषणा में लिखा है कि कम्पनी ने जो वादे और संधियाँ की हैं मलका उन्हें स्वीकार कर लेगी। लोगों को चाहिए कि इस चाल को ध्यान से देख लें। कंपनी ने समस्त भारतवर्ष पर अधिकार कर लिया है और अगर यह बात बनी रही तो फिर इसमें नई बात क्या हुई? कंपनी ने भरतपुर के राजा को पहले अपना बेटा बतलाया और फिर उसका इलाका ले लिया। लाहौर के राजा को वे लन्दन ले गये और फिर कभी उसे भारत लौटने न दिया। नवाब शम्सुद्दीन खाँ को एक ओर उन्होंने फाँसी पर लटका दिया और दूसरी ओर से सलाम किया। पेशवा को उन्होंने पूना और सतारा से निकाल दिया और आजीवन बिठूर में कैद कर दिया। बनारस के राजा को उन्होंने आगरे में कैद कर दिया। बिहार, उड़ीसा और बंगाल के नरेशों का उन्होंने नाम व निशान तक नहीं छोड़ा। स्वयं हमारे कदीम इलाके उन्होंने हमसे यह बहाना करके ले लिये कि फौज को तनखाहें देनी हैं और हमारे साथ जो संधि की उसकी सातवीं धारा में उन्होंने यह कसम खाई कि हम आपसे और अधिक कुछ न लेंगे। इसलिए यदि जो-जो प्रबन्ध कम्पनी ने कर रखे हैं वे सब स्वीकार किये जायँ तो इससे पहले की दशा में और अब इस नई दशा में क्या अंतर हुआ? ये सब तो

पुरानी बातें हैं किंतु हाल में भी कसमों और संधि-पत्रों को तोड़कर और यह बात जानते हुए भी कि अंग्रेजों ने हमसे करोड़ों रुपये कर्ज ले रखे थे उन्होंने बिना किसी कारण के, केवल यह बहाना लेकर कि आपका व्यवहार अच्छा नहीं है और आपकी प्रजा असंतुष्ट है, हमारा देश और करोड़ों रुपये का माल हमसे छीन लिया। यदि हमारी प्रजा हमारे पूर्वाधिकारी नवाब वाजिदअलीशाह से असंतुष्ट थी तो वह हमसे संतुष्ट कैसे हुई ! और कभी किसी भी नरेश के लिए प्रजा ने अपने जान और माल को इस तरह न्योछावर करके अपनी राज-भक्ति का परिचय नहीं दिया जिस तरह कि हमारी प्रजा ने हमारे साथ किया है ! फिर क्या कमी है कि वे हमारा देश हमें वापस नहीं देते ? इसके अतिरिक्त उस घोषणा में लिखा है कि मलका को अपना इलाका बढ़ाने की इच्छा नहीं है, फिर भी वह इन देशी रियासतों को अपने राज्य में मिला लेने से दूर नहीं रह सकती। × × ×

"उस घोषणा में लिखा है कि ईसाई धर्म सच्चा है किंतु और किसी धर्मवालों के साथ अनुचित व्यवहार नहीं किया जायगा और सब के साथ एक समान कानूनी व्यवहार किया जायगा। न्याय-शासन से किसी धर्म के सच्चे अथवा झूठे होने से क्या संबन्ध है ? × × × सुअर खाना और शराब पीना, चर्बी के कारतूस दाँत से काटना और आटे तथा मिठाइयों में सुअर की चर्बी मिलाना, सड़कें बनाने के बहाने मंदिरों और मस्जिदों को गिराना, गिरजा बनाना, गलियों और कूचों में ईसाई मत का प्रचार करने के लिए पादरियों को भेजना × × ×

इन सब बातों के होते हुए लोग कैसे विश्वास कर सकते हैं कि उनके धर्म में हस्तक्षेप न किया जायगा ? × × ×

"उस घोषणा में लिखा है कि × × × जिन लोगों ने हत्याएँ की हैं अथवा हत्याओं में सहायता पहुँचायी है उन पर किसी प्रकार भी दया न की जायगी, शेष सब को क्षमा कर दिया जायगा। एक मूर्ख मनुष्य भी समझ सकता है कि इस घोषणा के अनुसार दोषो और निर्दोषी कोई मनुष्य भी नहीं बच सकता। × × × एक बात उसमें स्पष्ट कही गई है, वह यह है कि किसी भी दोषी मनुष्य को न छोड़ा जायगा, इसलिए जिस गाँव अथवा इलाके में हमारी सेना ठहरी है उसके निवासी नहीं बच सकते। उस घोषणा को पढ़कर जिसमें कि स्पष्ट शत्रुता के भाव भरे हुए हैं हमें अपनी प्यारी प्रजा की दशा पर अधिक दुःख है। अब हम एक स्पष्ट और विश्वस्त आदेश प्रकाशित करते हैं कि हमारी प्रजा से जिन-जिन लोगों ने मूर्खता करके गाँव के मुखियों की हैसियत से अपने लिए अंग्रेजों के सामने पेश किया है वे १ जनवरी सन् १८५६ से पहले हमारे कैम्प में आकर उपस्थित हों। निस्संदेह उनका अपराध क्षमा कर दिया जायगा। × × × आज तक कभी किसी ने नहीं देखा कि अंग्रेजों ने किसी का अपराध क्षमा किया हो। हमारी प्रजा में से कोई अंग्रेजों की घोषणा के धोखे में न आये।" यह सब चार्ल्स बाल की पुस्तक से लिया गया है।

इस घोषणा के प्रकाशित होने के छ महीने बाद तक अवध के अन्दर स्वाधीनता का संग्राम निरन्तर होता रहा। इस संबंध में चार्ल्स बाल लिखता है—"मलका विक्टोरिया की घोषणा के बाद भी अवध के अन्दर आश्चर्य-जनक संग्राम

निरंतर होता रहा। विप्लवकारियों के इन सब दलों के साथ उनके देशवासियों की सहानुभूति थी और इस सहानुभूति से उन्हें इतनी अधिक बल और इतनी अधिक उत्तेजना प्राप्त हुई जिसका कि अनुमान भी नहीं किया जा सकता। ये विप्लवकारी बिना किसी प्रबन्ध के जहाँ चाहे चले जा सकते थे। साथ में भोजन सामग्री ले जाने की भी अवश्यकता नहीं होती थी क्योंकि लोग सब जगह उन्हें भोजन पहुँचा देते थे। वे बिना पहरे के अपना सामान जहाँ चाहे छोड़ सकते थे क्योंकि लोग उनके सामान पर आक्रमण नहीं करते थे। उन्हें सदा अपनी और अंग्रेज़ों की स्थिति का ठीक-ठीक पता रहता था क्योंकि लोग उन्हें घण्टे-घण्टे भर के अन्दर आकर सूचना देते रहते थे। हम उनसे अपनी कोई योजना छिपाकर नहीं रख सकते थे, क्योंकि हमारी प्रत्येक खाने की मेज़ के पास और अंग्रेज़ी सेना के प्रायः प्रत्येक खेमे में उनसे गुप्त सहानुभूति रखने वाले लोग खड़े रहते थे। हमारे लिए उन पर अचानक आक्रमण कर सकना एक अलौकिक-सी बात थी, क्योंकि हमारे चलने की अफ़वाह एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को, हमारे सवारों से अधिक तेज़ी के साथ उन तक पहुँच जाती थी।"

इन्हीं सब कारणों से मलका विक्टोरिया की घोषणा के ६ महीने बाद तक भी वीरता और स्वाभिमान के भावों से ओत-प्रोत अवध का विप्लवकारी प्रान्त अंग्रेज़ों के वंश में न आ सका था। समय-समय पर शंकरपुर, डौंड़ियाखेड़ा* रायबरेली

---

*डौंड़ियाखेड़ा—अंग्रेज़ इतिहास लेखक सर जान के, जस्टिस मैक्कार्थी, मैडले, चार्लस बाल और मालेसन आदि ने अवध के उन

सीतापुर इत्यादि स्थानों पर बराबर संग्राम होते रहे। अन्त में अप्रैल सन् १८५६ तक अवध के समस्त विप्लवकारी नैपाल की सीमा के उस पार निकाल दिये गये।

इस सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि लगभग साठ हज़ार पुरुष, स्त्री और बच्चों ने नाना साहब, बाला साहब, बेगम हज़रतमहल और नवाब बिरजिस क़द्र के साथ नैपाल में प्रवेश किया। नाना साहब और महाराजा जंगबहादुर में कुछ समय तक पत्र-व्यवहार होता रहा। नाना साहब ने पहले नैपाल दर्बार से अंग्रेज़ों के विरुद्ध सहायता के लिए प्रार्थना की, उसके बाद केवल भारतीय निर्वासितों के लिए नैपाल में रहने की स्वीकृति चाही। महाराजा जंगबहादुर ने इसमें से कोई भी बात स्वीकार न की, बल्कि अंग्रेज़ी सेना को नैपाल में प्रवेश करने और इन भारतीय निर्वासितों का संहार करने की आज्ञा प्रदान कर दी। इन निर्वासित भारतीयों में से अनेक हथियार फेंक कर भारत लौट आये और अनेक जंगलों तथा पहाड़ों में समा गये। ऐसे ही समय में नाना साहब और जनरल होप ग्राण्ट के बीच थोड़ासा पत्र-व्यवहार हुआ। जब कोई विशेष लाभ न हुआ तब नाना साहब ने अंतिम पत्र होप ग्राण्ट के समीप भेजा और उसी पत्र में अंग्रेज़ों के अन्यायों को दिखाते हुए लिखा था कि,

---

स्थानों का नाम जहाँ कि विप्लवकारी नेता रहते थे, चाहे जिस प्रकार तोड़-मरोड़ कर लिखा हो किन्तु चूँकि इस पुस्तक का लेखक अवध का ही है और वहाँ के कई स्थानों से परिचित भी है इसलिए ढुंढिया खेड़ा न लिखकर डौंड़ियाखेड़ा लिख रहा है। यह स्थान ज़िला उन्नाव में गंगा के तट पर है। सन् १८५७ के विप्लव में इसका नाम भी प्रसिद्ध हो चुका है। परगना डौंड़ियाखेड़ा अब भी प्रसिद्ध है।

"आपको हिन्दुस्तान पर अधिकार करने का और मुझे दंडनीय घोषित करने का क्या अधिकार है ? हिन्दुस्तान पर राज्य करने का अधिकार आपको किसने प्रदान किया ? क्या आप फिरंगी लोग बादशाह हैं और हम इस अपने देश में रह कर भी चोर हैं ?"

इस पत्र-व्यवहार के बाद पता नहीं कि नाना साहब का क्या हुआ। बेगम हज़रत महल और उसके पुत्र बिरजिस क़द्र को कुछ दिनों के बाद नैपाल दर्बार ने अपने यहाँ आश्रय प्रदान किया।

अवध प्रान्त के इस विप्लव के सम्बन्ध में इतिहास लेखक मालेसन लिखता है—"जिस विप्लव को उन सिपाहियों ने आरंभ किया था, जिनमें से कि अधिकांश अवध के ही निवासी थे, उस विप्लव में समस्त अवध-निवासियों ने सम्मिलित होकर स्वाधीनता के लिए संग्राम किया। × × × हिन्दुस्तान के किसी दूसरे भाग ने इतनी दृढ़ता के साथ डटकर और इतनी अधिक देर तक हमारा सामना नहीं किया जितना कि अवध ने। इस समस्त युद्ध में उस अन्याय को याद करके जो अन्याय सन् १८५६ में उनके साथ किया गया था, अवध-निवासियों के हृदय अधिकाधिक सबल और उनका संकल्प अधिकाधिक दृढ़ होता रहता था। × × × अन्त में जब कमाण्डर-इन-चीफ़ सर कालिन कैम्पबेल लार्ड (क्लाइड) ने समस्त अवध में से बचे हुए विप्लव-कारियों को बीन-बीन कर नैपाल के जंगलों में आश्रय लेने के लिए विवश कर दिया तब इन लोगों ने प्रायः हार मानने की अपेक्षा भूखों मर जाना अधिक पसंद किया। किसानों ने,

ताल्लुक़ेदारों ने, ज़मींदारों ने, व्यापारियों ने बहुत दिनों के निरंतर युद्ध के बाद केवल उस समय हार स्वीकार की जिस समय कि उन्होंने देख लिया कि अब सब कुछ हो चुका।"

अवध के पतन की घटनाओं का अन्त अब यहीं से होता है। इस सम्बन्ध में और कुछ लिखना व्यर्थ है। पाठक स्वयं विचार कर देख सकते हैं कि समस्त भारतवर्ष से विदेशी शासन को हटा देने के लिए जो महान् और व्यापक प्रयत्न किये गये वे सब किस प्रकार निष्फल गये और भारतवर्ष में अंग्रेजी शासन की जड़ एक समय के लिए अधिक दृढ़ हो गई।

——

तात्या टोपे

तात्या टोपे का अंत

जहाँ तक सम्भव हो सका है, वहाँ तक हमने सन् १८५७ के समस्त वृत्तान्त का वर्णन कर दिया है। यदि कुछ शेष रह गया है तो वह तात्या टोपे का ही अंतिम वर्णन रह गया है अतएव इस विषय की ओर भी ध्यान देना आवश्यक हो रहा है। इसमें संदेह नहीं कि पाठक यह जानना चाहते होंगे कि प्रसिद्ध मराठा सेनापति तात्या टोपे के अंतिम प्रयत्न कैसे थे ? विषय को पूर्ण करने के लिए हम भी तात्या टोपे के अन्तिम प्रयत्नों का वर्णन करने का प्रयत्न करना उचित समझ रहे हैं।

पाठक यह जानते ही होंगे कि नाना साहब, बाला साहब और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई यही सब तात्या टोपे के मुख्य साथी थे किन्तु इनमें से अब कोई शेष नहीं रह गया था तथा भारत में फिर से अंग्रेजी सत्ता स्थापित हो चुकी थी। साथ ही साथ न तो तात्या टोपे के पास अब कोई कुशल सेना थी और न युद्ध करने के योग्य विशेष सामान ही था। कुछ भी हो, तात्या टोपे वीर, साहसी और योद्धा था, इसलिए उसने आशा न छोड़ी। २० जून सन् १८५८ को ग्वालियर से निकल कर तात्या टोपे ने राव साहब, बाँदा के नवाब मुट्ठी भर बचे हुए सैनिकों के साथ नर्मदा की ओर बढ़ना चाहा। उस समय तात्या टोपे का उद्देश्य नर्मदा नदी को पार कर पेशवा के नाम पर दक्षिण भारत के नरेशों और उनकी प्रजा को फिर से विप्लव के लिए तैयार करने को था। २२ जून को अंग्रेजी सेना ने उसे जौरा अलीपुर

में जा घेरा। अंग्रेजों की सेना से घिर जाने पर भी तात्या टोपे वहाँ से बच कर निकल गया। इस समय किसी भी प्रकार नर्मदा को पार कर जाना ही उसका ध्येय था और अंग्रेज यह चाहते थे कि वह किसी भी प्रकार नर्मदा को पार न कर सके।

समय और परिस्थिति पर विचार करते हुए वीर मराठा सेनापति तात्या टोपे ने सब से पहले भरतपुर की ओर जाने का विचार किया। उसके उस विचार को समझ लेने पर तुरंत एक शक्तिशाली अंग्रेजी सेना उसको फाँसने के लिए भरतपुर पहुँच गई। उसने तुरंत अपना विचार पलट दिया और भरतपुर की ओर न बढ़कर जयपुर की ओर मुड़ गया। जयपुर की प्रजा और सेना दोनों ही उससे सहानुभूति रखती थीं। उन सबों को तैयार रहने के लिए तात्या टोपे ने सूचना दे दी। इधर अंग्रेजों को भी इसका पता चल गया। फिर क्या था! नसीराबाद से जयपुर के लिए तुरन्त एक प्रबल अंग्रेजी सेना भेज दी गई। तात्या भी तुरन्त सावधान हो गया और अब वह दक्षिण की ओर मुड़ा। कर्नल होम्स के अधीन एक सेना ने उसका पीछा किया। युद्ध-विद्या में पारंगत तात्या टोपे ने दूसरी चाल चली। अंग्रेजी सेना उसका पीछा करती ही रही और वह उससे आँख बचाकर टोंक पहुँच गया। टोंक पहुँचते ही टोंक के नवाब ने नगर के फाटकों को बन्द करा लिया। किसी प्रकार वहाँ तक पहुँच जाने पर भी उसे रक्षा का स्थान न मिल सका। स्थान मिलना तो दूर रहा, उस पर दूसरा ही संकट आ पहुँचा। टोंक के नवाब ने चार तोपों के साथ अपनी कुछ सेना उसका सामना करने के लिए भेज दिया और किसी भी प्रकार तात्या टोपे को टोंक से

निकाल देने का आदेश भी कर दिया। वह सब सेना तुरंत तात्या टोपे का सामना करने के लिए चल पड़ी किंतु आश्चर्य की बात यह हुई कि नवाब के आदेश का उल्लंघन कर वह सेना सामने आते ही तात्या टोपे से जाकर मिल गई और युद्ध का सारा सामान उसके हाथों में दे दिया। अपनी उस नई सेना और सामान के साथ तात्या टोपे अब इन्द्रगढ़ की ओर बढ़ा। उन दिनों वर्षा जोरों के साथ हो रही थी और पीछे से कर्नल होम्स अपनी सेना के साथ उसकी ओर बढ़ा चला आ रहा था और राजपूताने की ओर से सेनापति राबर्टस के अधीन एक दूसरी सेना तात्या टोपे पर आक्रमण करने के लिए बढ़ी आ रही थी। उस समय चम्बल नदी तात्या टोपे के सामने थी और खूब चढ़ी हुई थी।

उन तीनों आपत्तियों से बचकर तात्या टोपे पूर्व और उत्तर के कोने की ओर बढ़ा उसका विचार बूँदी पहुँचने का हो रहा था। चलते-चलते नीमच नसीराबाद प्रान्त में वह भीलवाड़ा नामक एक ग्राम में जाकर ठहरा। इस समाचार को पाते ही ७ अगस्त सन १८५८ को जनरल राबर्टस ने तात्या टोपे पर चढ़ाई की। दिन भर घमासान संग्राम होता रहा। रात्रि के समय अपनी सेना और तोपों के साथ तात्या टोपे उदयपुर रियासत में कोटरा ग्राम की ओर निकल गया। कोटरा में भी १४ अगस्त को फिर अंग्रेजी सेना ने उसे घेर लिया। घिर जाने पर फिर घोर युद्ध हुआ किन्तु इस बार तात्या टोपे को अपनी तोपें मैदान में छोड़ कर पीछे हट जाना पड़ा। ज्यों-ज्यों वह पीछे हट रहा था त्यों-त्यों अंग्रेजी सेना उसका पीछा करती जा रही

थी। किसी ओर से मार्ग न पाकर वह वीर मराठा सेनापति तात्या टोपे फिर चम्बल की ओर बढ़ा।

इस समय एक अंग्रेज़ी सेना पीछे से तात्या की ओर बढ़ी चली आ रही थी, दूसरी सेना दाहिनी ओर से बड़ी शीघ्रता के साथ बढ़ी चली आ रही थी, और तीसरी सेना ठीक उसके सामने पहले से ही चम्बल के किनारे तैयार खड़ी थी। फिर भी वह वीर योद्धा साहस के साथ आगे बढ़ा और पूर्ण राजनीति का अवलम्बन कर किसी को धोखा देते हुए और किसी से अपने को बचाते हुए चम्बल तक पहुँच गया। इतना ही नहीं, आश्चर्य-जनक फुर्ती के साथ अंग्रेज़ी सेना से कुछ ही दूरी पर चम्बल नदी को पार कर गया। अब तो वह चम्बल नदी तात्या टोपे और अंग्रेज़ी सेना के बीच में पड़ गई। चूँकि उस समय तात्या टोपे के पास न रसद थी और न तोपें थीं इसलिए वह कहीं भी न रुककर सीधे झालरापट्टन की ओर बढ़ा और उधर वहाँ का राजा अपनी सेना और तोपों के साथ उस पर आक्रमण करने के लिए निकला किन्तु उसका सामना होते ही झालरापट्टन की समस्त सेना थोड़ी देर के लिए रुक गई और फिर तात्या टोपे से जाकर मिल गई। अब तो तात्या टोपे को सेना, सामान और रसद आदि सब कुछ मिल गया। जिस समय वह झालरापट्टन की ओर बढ़ रहा था उस समय उसके पास एक भी तोप न थी किन्तु अब उसके पास ३२ तोपें हो गईं। विजयी तात्या ने तुरन्त झालरापट्टन के राजा से युद्ध के खर्च के लिए पन्द्रह लाख रुपये वसूल किये। पाँच दिनों तक तात्या वहीं ठहरा रहा। उसने अपनी सेना को वेतन दिया। राव साहब और बाँदे का नवाब बराबर तात्या के साथ थे। तीनों ने मिलकर फिर नर्मदा नदी को पार करने का विचार किया। इन लोगों को रोकने और फाँसने

के लिए अंग्रेजों ने अपनी समस्त सेनाओं का एक विस्तृत जाल-सा बिछा दिया किन्तु इससे अब होता क्या है ? क्योंकि तात्या टोपे के पास भी इस समय सामना कर सकने के लिए पर्याप्त युद्ध की सामग्री थी। वह अब इन्दौर की ओर बढ़ा।

यह वह समय था जब कि छः बड़े-बड़े अंग्रेज सेनापति राबर्टस, होम्स, पार्क, मिचेल, होप और लौरबार्ट सभी ओर से तात्या को घेर लेने का प्रयत्न कर रहे थे। कई बार तात्या और उसकी सेना अंग्रेजों की सेना को सामने दिखाई तक दे जाती थी किन्तु उस दशा में ही तात्या बच कर निकल जाता था। उसे घेर सकना अंग्रेजी सेना के लिए कठिन होने लगा किन्तु इतना सब होने पर भी अंग्रेजी सेना निरंतर पीछा करने लगी। सहसा रायगढ़ के निकट मिचेल की सेना तात्या टोपे पर बड़े ही भयानक रूप से टूट पड़ी। थोड़ी देर तक संग्राम होता रहा फिर तीस तोपें मैदान में छोड़कर तात्या टोपे अपने को बचाता हुआ निकल गया। रास्ते में एक स्थान पर उसे चार तोपें और मिल गईं।

इन सब घटनाओं के बाद उत्तर की ओर बढ़कर तात्या ने सींधिया के नगर ईशागढ़ पर आक्रमण किया और वहाँ से आठ और तोपें प्राप्त कीं। जिस किसी भी प्रकार हो, वह नर्मदा नदी को पार करने की धुन में था और अंग्रेजों की विशाल सेना चारों ओर से घेर कर उसे रोकना चाहती थी। तात्या टोपे की इस समय वाली समस्त यात्राओं, चालों, विजयों और पराजयों की घटनाओं का वर्णन कर सकना असंभव है। उसके सम्बन्ध में एक अंग्रेज लेखक इस प्रकार लिखता है—

"इसके बाद तात्या के बचने और भाग जाने का वह आश्चर्य-जनक सिलसिला आरंभ होता है जो दस महीने तक निरंतर चलता रहा और जिससे मालूम होता था कि हमारी विजय निष्फल हो गई। इस सिलसिले के कारण तात्या का नाम समस्त यूरोप में हमारे अधिकांश अंग्रेज सेनापतियों के नामों की तुलना में भी कहीं अधिक प्रसिद्ध हो गया। तात्या के सामने समस्या सरल न थी। × × × उसे अपनी अव्यवस्थित सेना को लगातार इतनी शीघ्रातिशीघ्र गति से ले जाना पड़ता था कि जिससे न केवल उसका पीछा करने वाली सेनाएँ ही, बल्कि वे सेनाएँ भी जो कभी दाहिनी ओर से और कभी बाईं ओर से अचानक उस पर आक्रमण करने लगती थीं, वे सभी हाथ मलती रह जाती थीं। एक ओर वह इस प्रकार पागल के समान अपनी सेना को भगाता हुआ लिये जाता था, दूसरी ओर वह दर्जनों शहरों पर अधिकार कर लेता था, अपने साथ नया सामान जमा कर लेता था, इधर-उधर से नई तोपें साथ ले लेता था और इन सब के अतिरिक्त अपनी सेना के लिए इस प्रकार के नये रंगरूट स्वयंसेवक के रूप में भर्ती करता जाता था जिन्हें कि साठ मील रोजाना के हिसाब से लगातार भागना पड़ा था। अपने थोड़े साधनों से तात्या ने जो कुछ कर दिखाया, उससे सिद्ध होता है कि उसकी योग्यता साधारण न थी। × × × वह उस श्रेणी का मनुष्य था जिस श्रेणी का कि हैदरअली था। कहा जाता है कि तात्या नागपुर से होकर मद्रास पहुँचना चाहता था। यदि वह वास्तव में मद्रास पहुँच जाता तो वह हमारे लिए उतना ही भयानक सिद्ध होता जितना कि हैदरअली किसी समय हो चुका था। उसके लिए नर्मदा इतनी ही बड़ी

रुकावट साबित हुई जितनी कि इंग्लिश चैनल नैपोलियन के लिए। तात्या सब कुछ कर सका किन्तु नर्मदा को पार न कर सका। × × × प्रारंभ में अंग्रेजी सेनाएँ इतने ही धीरे-धीरे आगे बढ़ीं जितने धीरे चलने की उन्हें आदत थी किन्तु फिर लाचार होकर उन्होंने शीघ्र गति से चलना सीखलिया। जनरल पार्क और कर्नल नेपियर की अन्तावली कोई-कोई यात्राएँ इतनी ही तेज थीं जितनी तात्या की औसत आधी यात्राएँ। फिर भी तात्या बच कर निकल जाता रहा। गर्मियाँ निकल गईं, सारी बरसात निकल गई, सारी सर्दी निकल गई और फिर समस्त गर्मी निकल गई, किन्तु फिर भी तात्या निकला चला जा रहा था। उसके साथ कभी दो हजार थके हुए अनुयायी होते थे और कभी पन्द्रह हजार।"

इतना सब हो जाने के बाद तात्या टोपे ने अपनी सेना के दो टुकड़े कर डाले। एक को अपने अधीन रखा और दूसरे को राव साहब के अधीन कर दिया। दोनों दल दो ओर से आगे बढ़े। कई स्थानों में अंग्रेजी सेना से संग्राम करते हुए वे दोनों दल ललितपुर में जाकर फिर मिल गये यहाँ पर दक्षिण में मिचेल की सेना, पूर्व में कर्नल लिडेल की सेना, उत्तर में कर्नल मीड की सेना, पश्चिम में कर्नल पार्क की सेना और चम्बल की ओर से जनरल राबर्ट्स की सेना—पाँच ओर से पाँच अंग्रेजी सेनाओं ने तात्या टोपे को घेर लिया। अंग्रेजी सेना को धोखा देने के लिए तात्या ने अब दक्षिण की यात्रा छोड़कर शीघ्रता के साथ उत्तर की ओर बढ़ना आरंभ कर दिया। अंग्रेजों ने भी समझ लिया कि तात्या ने दक्षिण जाने का विचार छोड़

दिया ऐसा समझ लेने पर वे सब अपने प्रयत्नों में शिथिल पड़ गये। उन सबों के शिथिल पड़ते ही तात्या उत्तर में जहाँ तक पहुँच पाया था, वहीं रुक गया। जब उसे विश्वस्त-सूत्र से ज्ञात हो गया कि अंग्रेजी सेना के सभी अफ़सर उसकी ओर से निश्चित हो चुके हैं और उसे घेरने के प्रयत्नों को भी शिथिल करने लगे हैं तब वह उत्तर की ओर थोड़ा-सा और बढ़कर अचानक मुड़ पड़ा और बड़ी शीघ्रता के साथ बेतवा नदी को पार कर गया।

जैसे ही वह बेतवा नदी को पार कर आगे की ओर बढ़ा वैसे ही कजूरी नाम के एक स्थान पर अंग्रेजी सेना ने उसे घेर लिया। फिर क्या था? तुरंत संग्राम होने लगा और किसी प्रकार वहाँ से बच कर वह रायगढ़ पहुँचा और फिर सीधा तीर की तरह दक्षिण की ओर लपका। उसकी इन सब चालों से अंग्रेज घबरा गये। जनरल पार्क एक ओर से लपका, मिचेल पीछे से लपका और बेचर सामने से तात्या टोपे की ओर बढ़ा किन्तु वह अपनी सेना सहित नर्मदा नदी के तट पर पहुँच गया और होशंगाबाद के समीप बड़े-से बड़े युद्ध-विद्या-विशारदों को चकित कर अपनी समस्त सेना के साथ नर्मदा नदी को सकुशल पार कर गया।

इस घटना के सम्बन्ध में इतिहास लेखक मॉलेसन लिखता है—"जिस दृढ़ता और धैर्य के साथ तात्या ने अपनी इस योजना को सफल बनाया उसकी प्रशंसा करनी ही पड़ती है।"

लन्दन 'टाइम्स' के सम्वाद-दाता ने लिखा—"हमारा अत्यंत अद्भुत मित्र तात्या टोपे इतना कष्ट देने वाला और

चालाक शत्रु है कि उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। पिछले जून के महीने से उसने मध्य भारत में तहलका मचा रखा है, उसने हमारे स्थानों को रौंद डाला है, खजाने को लूट लिया है और हमारे मैगजीनों को खाली कर दिया है। उसने सेनाएँ जमा करली हैं और खो दी हैं। लड़ाइयाँ लड़ी हैं और हार खाई हैं। देशी-नरेशों से तोपें छीन ली हैं और उन तोपों को खो दिया है। फिर और तोपें प्राप्त की हैं, उन्हें भी खो दिया है। इसके बाद उसकी यात्राएँ बिजली के समान प्रतीत होती हैं। अठवाड़ों वह तीस-तीस और चालीस-चालीस मील प्रति दिन चला है। कभी नर्मदा के इस पार और कभी उस पार। कभी वह हमारे सैन्य दलों के बीच से निकल गया है, कभी पीछे से और कभी सामने से। × × × कभी पहाड़ों पर से, कभी नदियों पर से, कभी वादियों में से और कभी घाटियों में से, कभी दल-दलों में से, कभी आगे से और कभी पीछे से, कभी एक ओर से और कभी घूम कर, × × × फिर भी वह हाथ न आया।"

इस प्रकार अंग्रेजी सेना से लड़ता और बचता हुआ अंत में अक्टूबर सन् १८५८ में तात्या टोपे अपनी सेना सहित राव साहब और बाँदा के नवाब को साथ लिये हुए नागपुर के निकट पहुँच गया। लॉर्ड कैनिंग और उसके साथी विशेष रूप से घबरा गये। उस दशा में उन सब को क्या करना चाहिए था, यही उनकी समझ में नहीं आ रहा था। तात्या टोपे के नागपुर के निकट पहुँच जाने के समाचार से अंग्रेज फिरसे अपनी असफलता का स्वप्न देखने लगे और उनके लिए भविष्य कितना वीभत्स और भयानक होगा इसको भी जो कुछ कल्पना कर सके उससे

भी अधिक भयभीत होने लगे। इस सम्बन्ध में इतिहास लेखक मालेसन इस प्रकार लिखता है—

"जिस मनुष्य को महाराष्ट्र—अन्तिम पेशवा का न्याय-युक्त उत्तराधिकारी स्वीकार करता था उसीका भतीजा (तात्या टोपे) सेना के साथ महाराष्ट्र को भूमि पर जा पहुँचा। × × × निज़ाम हमारा वफ़ादार था किन्तु वह समय बड़ा विचित्र था। × × + इससे पहले भी इस प्रकार की मिसालें हो चुकीं थी जब कि यदि किसी नरेश ने राष्ट्र के भावों के विरुद्ध कार्य किया तो प्रजा ने अपने उस नरेश के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया। सीधिंया के विरुद्ध भी इस प्रकार का विद्रोह हो चुका था। हमें यह भय होना आवश्यक था कि कहीं ऐसा न हो कि तात्या की सेना समस्त महाराष्ट्र को हमारे विरुद्ध शस्त्र उठा लेने के लिए उत्तेजित कर दे और फिर जब समस्त महाराष्ट्र जाति विदेशियों के विरुद्ध हथियार उठा ले तब इसे देख कर दक्षिण (अर्थात् निज़ाम-हैदराबाद के इलाके) के लोग भी रोके न रुक सकें।"

इसी प्रकार की सैकड़ों बातें सोच-सोच कर उस समय के लार्ड कैनिंग और अनेक अंग्रेज अफ़सर दिन-रात चिन्तित रहा करते थे। दिन में न तो उन सब को भूख लगती थी और न रात में नींद आती थी। प्रत्येक समय उन सबों के नेत्रों के सामने तात्या टोपे का चित्र ही घूमा करता था। भविष्य किधर पलटा खाता है इसे समझ सकने में उस समय के बड़े बड़े राजनीतिज्ञ असमर्थ हो रहे थे। अंग्रेजों के सामने तो केवल यही एक प्रश्न था कि यदि तात्या टोपे के साथ समस्त महाराष्ट्र जाति हो गई और उसने उत्तेजित होकर अंग्रेजों के विरुद्ध

हथियार उठा लिया तो फिर भारत में रहनेवाले अंग्रेजों का क्या होगा ? इसी प्रश्न को लेकर वे परस्पर परामर्श करते और भयभीत होते थे यह सभी के निकट स्पष्ट होने लगा था कि तात्या को अपने अधीन कर सकना अंग्रेजों के लिए बड़ी ही कठिन समस्या है।

इसमें संदेह नहीं कि यदि यही घटना एक साल पहले होती तो फिर यह भी संभव था कि शेष भारतीय इतिहास की गति दूसरी ओर को पलट जाती किन्तु इस स्थल पर यह भी मानना पड़ेगा कि उस समय से पिछले एक वर्ष के अन्दर भारतवासियों का उत्साह विशेष रूप से भंग हो चुका था। उत्तरी भारत में जिस तात्या को लोग स्वयं आ-आकर बड़ी प्रसन्नता के साथ रसद पहुँचाते थे उस तात्या के समीप नागपुर की महाराष्ट्र जनता अब आने तक से भी डरने लगी।

तात्या टोपे ने वहाँ की परिस्थिति को समझ लिया फिर कुछ दिनों तक उसकी सेना वहीं ठहरी रही। इतने में ही अंग्रेज सेना ने फिर उसे चारों ओर से घेरना आरंभ कर दिया। उस समय तात्या के दक्षिण और उत्तर दोनों ही दिशाओं में अंग्रेजों की विशाल सेनाएँ थीं। उत्तर की ओर से अंग्रेजी सेना नर्मदा पार कर बढ़ी चली आ रही थी और इधर नागपुर से तात्या को कोई सहायता न मिल सकी। जब बचाव का कोई दूसरा उपाय समझ में न आया तब विवश होकर तात्या ने बड़ौदा की ओर बढ़ने का विचार किया।

अपने इस विचार को लेकर जैसे ही तात्या टोपे आगे बढ़ा वैसे ही उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने देखा कि नर्मदा के प्रत्येक

घाट पर दोनों ओर अंग्रेजों की सेना पड़ी हुई है । फिर भी साहस करता हुआ वह आगे की ओर बढ़ा और उसके बढ़ते ही मेजर सण्डरलैन्ड भी अपनी सेना के साथ उसकी ओर लपका। दोनों ही ओर के सैनिक लड़ने लगे। थोड़ी देर तक संग्राम होता रहा अन्त में तात्या टोपे ने अपनो सेना को आज्ञा दी कि सब तोपें पीछे छोड़कर नर्मदा नदी में कूद पड़े। तात्या और उसकी सेना एक पल भर में नर्मदा के दूसरे पार दिखाई देने लगी। इतिहास लेखक मालेसन लिखता है—"संसार की किसी भी सेना ने कभी कहीं पर इतनी शीघ्रता के साथ कूच नहीं किया जितनी शीघ्रता के साथ कि तात्या की भारतीय सेना इस समय कूच कर रही थी।"

नर्मदा को पार कर तात्या अपनी सेना के साथ राजपुरा पहुँचा। वहाँ के सरदार से उसने घोड़े और कुछ धन वसूल किय। दूसरे दिन वह छोटा उदयपुर पहुँचा। यहाँ से बड़ौदा केवल ५० मील की दूरी पर था। इतने में पार्क के अधीन अंग्रेजी सेना छोटा उदयपुर आ पहुँची। तात्या को बड़ौदा जाने का विचार छोड़ देना पड़ा। अब वह फिर उत्तर की ओर बढ़ा। ठीक ऐसे ही समय में निराश होकर बाँदा के नवाब ने मलका विक्टोरिया की घोषणा के अनुसार हथियार रख दिये। तात्या और राव साहब अकेले रह गये। मालेसन लिखता है—"किन्तु ये दोनों नेता इस कठिन आपत्ति के समय भी इतने ही शान्त, वीर और चतुर बने रहे जितने कि वे पहले किसी भी समय रह चुके थे।"

निस्संदेह उन दोनों ने उस समय भी बड़े साहस के साथ अपने क़दम बढ़ाये। बाँदा के नवाब के हथियार रख देने पर भी

वे अपने विचार पर अटल बने रहे। अंग्रेजों ने कदाचित् यह समझ लिया कि तात्या टोपे और राव साहब भी अपने साथी बाँदा के नवाब का ही अनुकरण करेंगे किन्तु वैसा नहीं किया गया। तात्या टोपे ने उदयपुर की ओर बढ़ना चाहा। जैसे ही वह उदय पुर की ओर बढ़ने लगा वैसे ही अंग्रेजों की कई सेनाएँ उस पर प्रबल वेग से टूट पड़ीं। तुरंत वह मुड़कर समीप के जंगल में प्रवेश कर गया। किन्तु वहाँ भी उसके लिए बच सकना असम्भव-सा दिखाई देने लगा। क्योंकि वहाँ भी जंगलों में अंग्रेजी सेना डटी हुई थी। जिधर तात्या जाता था उधर ही उसे अंग्रेज सैनिक मिल जाते थे। किसी प्रकार रात्रि का समय आया। जब रात अधिक हुई और जंगल में उसे फाँसने वाले अंग्रेज सैनिकों को दूर की वस्तु अंधकार के कारण न दिखाई पड़ने लगी तब वह उन सबके सामने से ही छाया के समान निकल गया। अंग्रेज सैनिक उसे देखकर भी न देख सके।

इस घटना के बाद एक दिन तात्या टोपे और राव साहब लगभग चार बजे शाम को प्रतापगढ़ की ओर बढ़े। सामने से आकर मेजर राक ने उन दोनों का मार्ग रोक लिया। मेजर राक की सेना को परास्त करता हुआ तात्या आगे निकल गया और २५ दिसम्बर सन् १८५८ को तात्या बाँसवाड़ा के जंगल से निकला। वहाँ भी उसे अंग्रेज सैनिकों ने घेर लेना चाहा। जंगल में अंग्रेज सैनिकों को देखकर तात्या रुक गया और रात्रि के अन्धकार में एक अंग्रेज को मारकर और उसकी सेना को तितर-बितर कर वह वहाँ से निकल कर एक सुरक्षित स्थान में आकर ठहर गया। ठीक इसी समय दिल्ली के राजकुल का प्रसिद्ध शाहजादा फ़ीरोज़शाह, जो अवध के संग्रामों में भाग ले

चुका था अपनी सेना के साथ तात्या की सहायता के लिए चला आ रहा था। जिस प्रकार शाहज़ादे फ़ीरोज़शाह ने अपनी सेना के साथ गंगा और यमुना को पार किया और फिर तात्या से जाकर भेंट की, "उसका कथानक भी बड़ा विचित्र है। १३ जनवरी सन् १८५९ को इन्द्रगढ़ में फ़ीरोज़शाह, तात्या और राव साहब में भेंट हुई। सींधिया का एक सरदार मानसिंह भी उस समय इन लोगों में आकर मिल गया।

यह ऐसा विकट समय था जब कि वीर तात्या टोपे फिर बुरी तरह चारों ओर से घिरने लगा था। नेपियर उसके उत्तर में था, शावर्स उत्तर-पश्चिम में, सोमरसेट पूर्व में, स्मिथ दक्षिण-पूर्व में, मिचेल और बैनसन दक्षिण में और बॉनर दक्षिण-पश्चिम में। ये सब तात्या को घेर लेने के लिए शीघ्र गति से बढ़े चले आ रहे थे। बढ़ते-बढ़ते तात्या देवास पहुँचा। १६ जनवरी सन् १८५९ को सबेरे देवास में तात्या, राव साहब, और फ़ीरोज़शाह तीनों एक ही स्थान पर बैठे बात-चीत कर रहे थे। अचानक किसी अंग्रेज अफ़सर का हाथ तात्या को कमर पर पड़ा और तुरन्त ही अंग्रेजी सेना ने उन तीनों पर आक्रमण कर दिया। उस परिस्थिति में ऐसा ज्ञात हुआ, मानों तात्या पकड़ गया, किन्तु फिर भी ये तीनों विप्लवकारी सैनिकों के नेता अचानक अंग्रेजी सेना के सैनिकों के चंगुल से निकल गये। चारों ओर खोज की गई किन्तु कोई भी अंग्रेज सैनिक अथवा अंग्रेज जासूस उन तीनों का पता न लगा सका।

२१ जनवरी को ये तीनों अलवर के निकट शिखरजी में दिखाई पड़े। अंग्रेजी सेना निरंतर उन्हें घेरने के लिए प्रयत्न कर ही रही थी अतएव फिर एक स्थान पर मुठभेड़ हो गई।

दोनों ओर के सैनिक संग्राम के मैदान में उतर पड़े। घमासान युद्ध होने लगा। इसमें संदेह नहीं कि दोनों ओर के सेनापति युद्ध-विद्या में पारंगत थे और वे अपनी-अपनी सेनाओं का संचालन उचित समय के अनुसार उचित ढंग से कर रहे थे। दोनों की ही योग्यता और रण-कुशलता समान थी। यदि तात्या पक्ष में कोई कमी थी तो वह सैनिकों और सामान की ही हो सकती थी। कुछ भी हो, दोनों ही ओर के सैनिकों में उत्साह था और विजय-लाभ की कामना भी थी। तात्या के पक्ष से जितने सैनिक लड़ रहे थे वे सब अपनी विजय में अपने देश की स्वतंत्रता की रूप-रेखा को देख रहे थे और अंग्रेजी सेना के सैनिक अपनी विजय में अपनी देश की शासन नीति और शोषण-प्रणाली की सत्ता से भारतवर्ष को तबाह कर देने का सुनहला स्वप्न देखने लगे थे और अंग्रेजी सेना के वेतनभोगी सैनिक अपनी विजय में अपने स्वामी और कम्पनी की दयालुता के लिए बड़ी-बड़ी आशाओं का महल बनाने की कल्पना करने लगे थे।

उस भयानक युद्ध का परिणाम यह हुआ कि स्वतंत्रता के पुजारी सैनिकों के सामने कम्पनी की सेना का पैर उखड़ने लगा। अंग्रेजी सेना के सेनापति लज्जित होने लगे। किसी प्रकार उत्साह दिलाने और उत्तेजित करने पर अंग्रेजी सेना के सैनिक फिर आगे बढ़ने का साहस करने लगे। उनका दुबारा साहस करना ही उनके लिए विजय का कारण बन गया। वास्तव में घटना इस प्रकार हुई कि तात्या टोपे का विश्वासपात्र सहायक सामन्त घोड़पदे भी घायल हो चुका था। वह वीर केशरी शिवाजी का वंशज था। उसके गिरते ही तात्या की समस्त

आशाएँ टुकड़े-टुकड़े हो गईं फिर भी वह युद्ध के मैदान में डटा रहा। जब विजय की आशा जाती रही तब वह अंग्रेजी सेना से बचकर तुरन्त जंगल में जाकर छिप गया किन्तु परिस्थिति और समय शीघ्रता के साथ उसके प्रतिकूल होता चला जा रहा था।

तात्या टोपे ने जिस जंगल में जाकर आश्रय लिया था, उसी के समीप वाले जंगल में सींधिया का सरदार मानसिंह भी छिपा हुआ था। तात्या ने फ़ीरोज़शाह और रावसाहब को सेना के साथ उसी जंगल में छोड़ दिया और स्वयं तीन आदमियों के साथ मानसिंह से मिलने के लिए चल पड़ा। मानसिंह इतने ही समय में अंग्रेजों से मिल चुका था और अंग्रेजों ने उसे जागीर देने का वादा कर लिया था। इसलिए तात्या टोपे को गिरफ़्तार करा देने के लिए वह बड़े उत्साह से कार्य करने लगा था किंतु इस गुप्त षड्यंत्र को तात्या नहीं जान सका था। इधर फ़ीरोज़शाह ने तात्या को वापस अपने पास बुलाना चाहा और उधर मानसिंह ने उसे रोक लिया और ७ अप्रैल सन् १८५९ को ठीक आधी रात के समय सोते हुए तात्या को भारत शत्रु अंग्रेजों के हवाले कर दिया।

यहाँ पर पाठक यह प्रश्न उपस्थित कर सकते हैं कि ऐसा रण-कुशल वीर सेनापति क्योंकर मानसिंह के जाल में फँसा? इस प्रश्न के उत्तर में हमें इतना ही कहना है कि मानसिंह जो सींधिया का सरदार था, ऐसा विश्वासघात करेगा इसकी कल्पना भी तात्या ने नहीं की थी और करने की कोई आवश्यकता भी न थी। पहले से ही साथ था, विश्वासघात का कोई भी कार्य उसने नहीं किया था। जिस प्रकार तात्या एक जंगल से दूसरे जंगल में जाकर छिपता और शत्रु पर आक्रमण करता था उसी

प्रकार मानसिंह भी उसका साथ देता था। जिस समय तात्या मानसिंह से मिलने गया था उस समय भी उसे विश्वास था कि भारत से अंग्रेजों को भगाने वाले स्वाधीनता-संग्राम में वह भी उसी के समान अपने आप को अर्पित कर चुका है इसीलिए वह उससे भविष्य के कार्यक्रम पर परामर्श करने चला गया था। अपने ही विश्वासपात्र व्यक्ति यदि विश्वासघात करें तो फिर कोई क्या कर सकता है! संसार के सभी कार्य एक दूसरे के भरोसे पर ही सफल हुआ करते हैं।

१८ अप्रैल सन् १८५६ तात्या टोपे के लिए फाँसी का दिन नियत हुआ। चारों ओर फौज का कड़ा पहरा था। लिखा है कि फ़ौज के चारों ओर टीलों पर खड़े हजारों ग्राम-निवासी तात्या को दूर से बड़ी श्रद्धा के साथ नमस्कार कर रहे थे। तात्या धैर्य और साहस के साथ फाँसी के तख्ते पर चढ़ा, उसकी बेड़ियाँ काटी गईं। तात्या ने हँसते हुए अपने हाथ से फाँसी का फन्दा गले में डाल लिया फिर चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ाई। फिर जननी जन्म-भूमि का ध्यान मन ही मन करने लगा। इतने में ही तखता खींचा गया। संध्या समय तक तात्या का शव फाँसी पर लटकता रहा। संध्या समय अनेक अंग्रेज दर्शकों ने दौड़ कर तात्या के मस्तक के दो-दो चार-चार केश तोड़ लिये और वीर तात्या की स्मृति-चिन्ह स्वरूप उन्हें अपने पास रख लिया।

वीर तात्या टोपे के बाद भी रावसाहब और शहजादा फ़ीरोजशाह एक महीने तक जी तोड़ कर लड़े। इसके बाद भेष बदल कर वे दोनों जंगलों में निकल गये। फ़ीरोजशाह सन १८६४ तक भारत के जंगलों में घूमता रहा उसके बाद अरब चला गया जहाँ वह सन् १८६६ में अन्य असंख्य देश से निकाले

गये भारतीय विप्लवकारियों के संग फ़क़ीर के भेष में देखा गया। तीन साल के बाद रावसाहब भी पकड़ा गया और २० अगस्त सन् १८६२ को कानपुर में फाँसी पर लटका दिया गया।

अब पाठक समझ गये होंगे कि किस प्रकार भारत को विदेशी शासन से मुक्त करने का सब से महान् और व्यापक प्रयत्न निष्फल गया और देशद्रोहियों के कारण अंग्रेज़ी-सत्ता की जड़ एक काल के लिए और अधिक दृढ़ता के साथ इस देश में जम गई।

——

विप्लव की असफलता और उसके बाद

सन् १८५७ के विप्लव का समस्त वृत्तान्त हम बतला चुके हैं। साथ ही साथ यह भी बतला चुके हैं कि किन-किन कारणों से यह विप्लव सफल होते होते असफल ही रह गया। कुछ भी हो पाठकों का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकर्षित करने के लिए हम बतलाये हुए वृत्तान्त के अधार पर पुनः एक बार दृष्टि-पात करना उचित समझ रहे हैं।। सन् १८५७ के विप्लव को असफल बनाने वाले कारण हमें साधारणतया पाँच ही दिखाई पड़ते हैं। वे कारण संक्षेप में इस प्रकार के कहे जा सकते हैं—

पहला कारण—चर्बी के कारतूसों और विशेषकर मेरठ की घटना के कारण बिप्लवकारियों ने स्वाधीनता के संग्राम को निश्चित समय से पहले ही आरंभ कर दिया। विप्लव के वृत्तान्त को बतलाते हुए हमने मालेसन, विलसन ह्वाइट जैसे अंग्रेज इतिहास लेखकों की सम्मति को भी उचित स्थान पर लिख दिया है। उनका भी यही विचार है कि यदि पूर्व निश्चय के अनुसार ३१ मई सन् १८५७ को एक ही साथ सभी स्थानों पर स्वाधीनता का यह व्यापक और महान संग्राम आरंभ हुआ होता तो कम्पनी के अंग्रेज शासकों के लिए भारतवर्ष को फिर से विजय कर सकना किसी भी प्रकार सम्भव न होता।

दूसरा कारण—सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम के विरुद्ध भारतवर्ष के सिखों और गोरखों ने कम्पनी के अंग्रेजों

की सहायता करके उनके लिए दिल्ली और लखनऊ जैसे विप्लव के महान केन्द्रों को फिर से विजय कर सकना सम्भव बना दिया। इस विषय में पंजाब प्रान्त के चीफ कमिश्नर सर जान लारेन्स के कथन का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया जा चुका है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि यदि पटियाला, नाभा और झींद ने विप्लव के सफल होने वाले क्षण में अंग्रेजों की सहायता न की होती तो कम्पनी के अंग्रेज स्वप्न में भी भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली को अपने अधिकार में नहीं ला सकते थे। दिल्ली के विप्लवकारी सैनिक और उनके नेता ऐसा कुछ कर दिखाते कि अंग्रेजों की हड्डियाँ भी भारतवर्ष के किसी कोने में न दिखाई पड़ती। यह सभी स्वीकार करते हैं कि यदि दिल्ली की विप्लवकारी सेना विजय प्राप्त कर पूर्व और दक्षिण में उतर आती तो सन १८५७ के विप्लव के बाद का समस्त मान चित्र ही बदल जाता। यह भी मानी हुई बात है कि विप्लकारियों का संगठन सुन्दर व्यवस्थित और सभी दृष्टिकोणों से प्रशंसनीय था फिर भी कम से कम असंख्य सिख और गोरखे जैसे भारतवासी अपने देशवासियों के विरुद्ध भिन्न-भिन्न प्रकार से अंग्रेजों की सहायता कर रहे थे। इस संबंध में रसल नाम का एक अंग्रेज इस प्रकार लिखता है—

"फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि अंग्रेज चाहे कितने भी बहादुर क्यों न हों, यदि समस्त भारतवासी पूर्ण रूप से हमारे विरुद्ध हो जाते तो भारत में अंग्रेजों का निशान तक कहीं शेष न रह जाता। हमारे क़िलों के अन्दर की सेनाओं ने जिस प्रकार जी तोड़कर अपने स्थानों की रक्षा की है, निस्सन्देह वह सब वीरोचित ही था। किन्तु इस वीरता में

भारतवर्ष के निवासी भी शामिल थे और उन्हीं की सहायता और उपस्थिति के कारण उन स्थानों की रक्षा करना हमारे लिए सम्भव हो सका। यदि पटियाला और झींद के राजा हमारे साथ मित्रता के भाव न प्रदर्शित करते और यदि सिख हमारी पलटनों में न भर्ती होते और उधर पंजाब को शान्त न रखते तो दिल्ली को घेर लेना हम लोगों के लिए सर्वथा असंभव हो जाता। लखनऊ में भी सिखों ने हमारी बड़ी सहायता की और प्रत्येक स्थान पर जिस प्रकार भारतवासी हमारी सेनाओं में भर्ती होकर लड़ाई में हमारी शक्ति को बढ़ाते थे, उसी प्रकार प्रत्येक स्थान पर भारतवासी ही हमारी घिरी हुई सेना की सहायता भी करते थे, हमें भोजन पहुँचाते थे और हमारी सेवा करते थे। इस क्षण भी यहाँ इस कैम्प में हमारी और सब की दशा क्या है! देशी फौजें ही सबसे आगे रहकर हमारी रक्षा कर रही हैं, देशी लोग हमारे घोड़ों के लिए घास काट रहे हैं, वे ही हमारे सईस हैं, वे ही हमारे हाथियों को चारा देते हैं वे ही हमारी बारबरदारी का प्रबन्ध करते हैं, कमसरियट में वही हमारे भोजन का प्रबन्ध करते हैं, वे ही हमारे गोरे सिपाहियों का खाना पकाते हैं, वे ही हमारे कैम्प की सफ़ाई करते हैं, वे ही हमारे डेरे गाड़ते हैं और उन्हें इधर उधर ले जाते हैं, वे ही हमारे अफ़सरों का सब काम करते हैं और वे ही अपने पास से रुपये उधार देते हैं। जो गोरा सिपाही मेरे साथ लिखने-पढ़ने का काम करता है, वह कहता है कि बिना हिन्दुस्तानी नौकरों, डोली उठानेवालों, अस्पताल के आदमियों और अन्य भारतवासियों के, उसकी पलटन एक सप्ताह भी जीवित न रह सकती।" जिस प्रकार

सिखों की सहायता के बिना दिल्ली को जीत सकना असम्भव था उसी प्रकार गोरखों की सहायता के बिना लखनऊ पर कंपनी के अंग्रेजों का अधिकार हो सकना असंभव था।

तीसरा कारण—जिस समय कम्पनी की अंग्रेजी सेना ने दिल्ली को घेर लिया था उस समय दिल्ली में आये हुए विप्लवकारियों में कोई ऐसा योग्य, शक्तिशाली और प्रभावशाली नेता न था जो नगर के अन्दर की समस्त शक्तियों को अपने अनुशासन में कर उन्हें एक महान् प्रयत्न के लिए आगे बढ़ा सकता। यही एक मात्र मुख्य कारण था कि राजधानी दिल्ली के अन्दर की विशाल विप्लवकारी सेना बाहर निकल कर नगर के बाहर की अंग्रेजी सेना को, जिसकी संख्या उनकी तुलना में कहीं कम थी, महीनों तक न समाप्त कर सकी और न हरा सकी। ऐसी ही त्रुटि किसी सीमा तक अवध की राजधानी लखनऊ में भी थी और इसी कारण कभी-कभी ठीक आपत्ति काल में ही विप्लवकारियों में व्यवस्था और आज्ञा-पालन की कमी विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती थी।

चौथा कारण—सींधिया, होलकर और राजपूताने के नरेशों का केवल संकोच और विप्लवकारियों की सफलता पर अविश्वास के कारण उस महान् और व्यापक राष्ट्रीय विप्लव में भाग न ले सकना भी विप्लव की असफलता का एक विशेष कारण था। यदि महाराजा जयाजीराव सींधिया अथवा कोई प्रसिद्ध राजपूत नरेश उचित समय पर अपनी सेना के साथ भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली में पहुँच जाता तो कम्पनी की सेना के लिए दिल्ली और दिल्ली के आस-पासवाले स्थानों में

अधिक समय तक ठहर सकना असंभव हो जाता; इतना ही नहीं, समस्त भारतवर्ष में भी उन्हें कोई स्थान न प्राप्त होता, साथ ही साथ राजधानी दिल्ली के अन्दर प्रभावशाली और योग्य नेता का अभाव भी दूर हो जाता। सम्राट बहादुरशाह ने इन सबों को विप्लव के पक्ष में लाने का भरसक प्रयत्न किया था किन्तु इन सबों ने उस ओर तनिक भी ध्यान न दिया परिणाम यह हुआ कि राजधानी दिल्ली का पतन होते ही समस्त भारतवर्ष के विप्लव का प्रयत्न शिथिल पड़ने लगा।

पाँचवाँ कारण—जिस उत्साह के साथ विन्ध्याचल से उत्तर के भाग ने स्वाधीनता-संग्राम को सफल बनाने के लिए विप्लव में भाग लिया था उसी उत्साह के साथ विंध्याचल से नीचे के भाग ने विप्लव का साथ नहीं दिया। इसमें सन्देह नहीं कि उस भाग से लोगों को बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं किन्तु सभी आशाओं पर पानी फिर गया था। कहा जाता है कि उस भाग के लोगों ने उत्तरी भाग के लोगों की तुलना में शतांश भी विप्लव के प्रयत्नों को सफल बनाने के लिए प्रयत्न नहीं किया था। यदि बम्बई, मद्रास, और महाराष्ट्र जैसे दक्षिणी प्रान्तों में उत्तरी भारत के साथ-साथ उसी प्रकार का युद्ध आरम्भ हो गया होता तो उन प्रान्तों से उत्तर की ओर सेना भेज सकना अंग्रेजों के लिए असंभव होता। जनरल नील, जनरल हैवलॉक इत्यादि कलकत्ते तक भी न पहुँच पाते और बनारस, इलाहाबाद कानपुर और अन्त में लखनऊ विजय कर सकना अंग्रेजों के लिए किसी भी दशा में संभव न होता आगे चलकर परिणाम यह होता कि भारत में रहनेवालों को दास बनाने वाले अंग्रेज

जिस रास्ते से भारत में आये थे, उसी रास्ते से चुपचाप लौट भी जाते।

सन् १८५७ के विप्लवकारियों द्वारा चलाये गये स्वाधीनता-संग्राम को असफलता के ये पाँचों कारण इस प्रकार के हैं कि यदि इनमें से कोई एक भी अनुपस्थित होता तो शेष चारों के होने पर भी कदाचित् यह स्वाधीनता का संग्राम अथवा सन् १८५७ का महान् और व्यापक विप्लव असफल न होता और समस्त संसार में भारतवर्ष का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता। सन् १८५७ के विप्लव की असफलता से हम भारतवासियों को जैसे दुर्दिन देखने पड़े हैं वैसे दुर्दिन कदाचित् किसी दूसरे देशवासियों को कभी देखने पड़े हों। ऐसे दुर्दिन ईश्वर शत्रु को भी न दिखाये।

सन् १८५७ के विप्लव को असफल बनाने वाले अँग्रेजों ने विप्लव के बाद से ही जिन-जिन उपायों का अवलम्बन किया उनका भी वर्णन कर देना इस स्थल पर अनुचित न होगा।

यह सभी मानते हैं कि सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम से अँग्रेज राजनीतिज्ञों की आँखें खुल गईं। वे यह अनुभव करने लगे कि जितनी शीघ्रता के साथ वे कुछ समय पूर्व भारत की देशी रियासतों को हड़प कर देश के समस्त मानचित्र को लाल रंग देने के प्रयत्न में लगे हुए थे वह अँग्रेजी सत्ता की स्थिरता के लिए कल्याण करने वाली नहीं थी। वे यह भली भाँति समझ गये कि अपने साम्राज्य को और अधिक बढ़ाने की अपेक्षा अब उसकी दृढ़ता के उपाय करना अधिक आवश्यक है। उन्हें अपनी लगभग एक सौ साल की शासन-नीति पर फिर से ध्यान देने की

आवश्यकता जान पड़ी। सन् १८५७-५८ के अन्दर भारत और इंगलैण्ड के अंग्रेज़ी समाचार पत्रों और राजनीति के केन्द्रों में इस विषय के अधिक तर्क-वितर्क हुए। अन्त में जो मुख्य-मुख्य उपाय अधिक महत्वपूर्ण समझे गये और जिनके ऊपर अधिक अंश तक सन् १८५७के बाद भारत में अंग्रेज़ी सत्ता की राजनीति ढाली गई उनका वर्णन इस प्रकार है—

सन् १८५८ तक बृटिश भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों में था। सन् १६०० ईसवी में इङ्गलैण्ड की मलका एलिज़ेबेथ ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को स्थापना की थी और फिर प्रति बीस साल के पश्चात् इङ्गलैण्ड की पार्लामेण्ट एक नये 'चारटर एक्ट' के द्वारा भारत के अन्दर कम्पनी के अधिकार को सुदृढ़ करती रहती थी। जिसका अभिप्राय यह था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी वास्तव में पार्लिमेण्ट की केवल एक एजण्ट थी।

धूर्त और उच्छृङ्खल क्लाइव के आने से पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी का काम भारतवर्ष में केवल व्यापार करना था। अंग्रेज़ जाति का नाम कलंकित करने वाले क्लाइव के समय से ही भारत के कुछ इलाके के ऊपर कम्पनी का शासन शुरू हुआ। उसके बाद वारन हेस्टिंग्स ब्रिटिश भारत का पहला गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ। वारन हेस्टिंग्ज ही के समय में इङ्गलैण्ड के एक मंत्री फ़ाक्स ने पार्लिमेण्ट के सामने यह तजवीज़ रखी कि भारत के अन्दर जो कुछ इलाका कम्पनी के अधिकार में आ गया है उसके शासन का प्रबन्ध कम्पनी के हाथों से लेकर इङ्गलैण्ड के शासक और इंग्लैण्ड के मंत्रिमंडल के हाथों में दे दिया जाय। हाउस आफ़ कामन्स ने फ़ाक्स की इस तजवीज़ को स्वीकार कर लिया किंतु हाउस आफ़ लार्डस पर ईस्ट इण्डिया

कम्पनी के धनी हिस्सेदारों का असर अधिक था, इसलिए हाउस आफ़ लार्डस ने फ़ाक्स की तजवीज़ को अस्वीकार कर दिया।

सन् १७८३ में प्रधान मंत्री विलियम पिट ने यह तजवीज पेश की कि इंग्लैण्ड के मंत्रिमंडल के अधीन एक नया विभाग स्थापित किया जाय और उसका नाम 'बोर्ड आफ़ कन्ट्रोल रखा जाय। मंत्रियों में से एक इस बोर्ड का प्रधान रहे और कम्पनी के संचालक अपने भारतीय राज्य के शासन की जो कुछ व्यवस्था करें वह सब इस बोर्ड की देख रेख में करें। सन १७८४ से लेकर सन १८५८ तक इंग्लैण्ड का यह सरकारी विभाग और कम्पनी के संचालक, दोनों मिलकर बृटिश भारत में अपनी शासन नीति चलाते रहे। इसे हम यों भी समझ सकते हैं कि लगभग प्रारंभ से ही भारत में अंग्रेजों के राज्य की वास्तविक बागडोर इंग्लैण्ड के शासक और इङ्गलैण्ड की पार्लिमेण्ट के हाथों में रही और ईस्ट इण्डिया कम्पनी इस विषय में उनकी केवल एक एजन्ट थी।

सन १७८३ के पश्चात् सन १८१३ में एक नई बात यह की गई कि उस समय से भारत के साथ व्यापार करने का महत्व-पूर्ण अधिकार भी पार्लिमेंण्ट ने ईस्ट इन्डिया कम्पनी से ले लिया और प्रत्येक अंग्रेज अथवा प्रत्येक अंग्रेज़ कम्पनी को इस देश के साथ व्यापार करने का अधिकार दे दिया। इसका मुख्य कारण यह था कि इंग्लैण्ड और भारत के बीच का व्यापार बहुत बढ़ गया था और समस्त अंग्रेज जाति उससे लाभ उठाने के लिए लालायित थी। राजनीति के विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया कि भारत के प्राचीन उद्योग धन्धों के सर्वनाश और भारत की

वर्तमान दरिद्रता का असली कारण सन १८१३ का 'चारटर' एक्ट था।

प्रत्येक नये चारटर एक्ट में अंग्रेज जाति और अंग्रेज व्यापारियों के मुख्य उद्देश्य पर पर्दा डालने के लिए कोई न कोई वाक्य इस प्रकार का जोड़ दिया जाता था। जिससे यही साबित होता था मानों इन विदेशी व्यापारियों का मुख्य ध्येय केवल भारतवासियों का हित करना ही है। उदाहरण के लिए सन १८१३ के चारटर एक्ट में लिखे हुए वाक्य को ही हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—(भारत के) "अंग्रेज़ी इलाकों में रहने वालों के सुख और उनके हित को बढ़ाना (इङ्गलैण्ड का) कर्तव्य है।"

इसी प्रकार सन १८३३ के चारटर एक्ट में लिखा है—"इन इलाकों के किसी निवासी को या इन इलाकों में रहने वाली बादशाह की किसी प्राकृतिक प्रजा को केवल उसके धर्म अथवा जन्म किम्बा स्थान या नसल अथवा रंग के कारण से कंपनी के अधीन किसी नौकरी, पदवी या ओहदे के योग्य न समझा जायगा।"

सन् १८३३ से सन् १८५३ तक भारत के अन्दर अंग्रेज़ों के राज्य को सीमाएँ इतनी अधिक हो चुकी थीं कि फिर १८५३ के चारटर एक्ट में इस प्रकार के किसी परोपकार-सूचक वाक्य की आवश्यकता उचित न समझी गई। सन १८५३ के चारटर एक्ट के स्वीकृत होने के समय अंग्रेज शासकों ने जो गवाहियाँ पार्लिमेन्ट की सिलेक्ट कमेटी के सामने दीं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भारत के अंग्रेज़ शासकों का एकमात्र उद्देश्य यह था कि जिस प्रकार हो सके इस देश से धन चूसकर इङ्गलैण्ड को धनी बना दिया जाय और अंग्रेजी शिक्षा

तथा ईसाई-मत प्रचार के द्वारा भारत के राष्ट्रीय चरित्र को निर्बल कर सदा के लिए इसे अंग्रेज जाति का गुलाम बना कर रखा जावे।

सन् १८५७ से कुछ पहले ही इंग्लैण्ड के अन्दर इस बात के लिए फिर प्रबल आन्दोलन होने लगा था कि कम्पनी के विशाल भारतीय साम्राज्य का प्रबन्ध कम्पनी के हाथों से लेकर पार्लिमेण्ट के हाथों में दे दिया जाय। इस आन्दोलन के मुख्य कारण दो थे।

पहला कारण यह था कि भारत ही की और विशेषकर बंगाल की 'लूट' के प्रताप से उन्नीसवीं सदी के अंतिम दिनों से इंग्लैण्ड के पिछड़े हुए उद्योग-धंधे तेजी के साथ बढ़ने लगे और परिणाम यह हुआ कि लंकाशायर आदि स्थानों में कारखाने खुल गये। इन नये कारखानों के मालिकों को एक ओर तो रुई जैसे कच्चे माल की आवश्यकता थी और रुई इंग्लैण्ड में न हो सकती थी। प्रारंभ में कुछ रुई अमरीका से इंग्लैण्ड मँगवाई गई किन्तु वह बहुत मँहगी पड़ती थी। दूसरी ओर उद्योग-धंधों के बढ़ने के साथ ही साथ इंलैण्ड की अनुपजाऊ भूमि में ग़ल्ले की उपज भी और कम होती जा रही थी और वहाँ के निवासियों को भोजन पहुँचाने के लिए बाहर से गल्ले को भी मँगाना आवश्यक था। इसके लिए राजनैतिक भाषा में एक नया वाक्य "डेवलपमेण्ट आफ़ दि रिसोर्सेज़ आफ़ इण्डिया" (भारतवर्ष की भूमि की उपजाऊ शक्ति को उन्नति देना) तैयार किया गया। उद्देश्य यह था कि विशाल भारत भूमि में इस प्रकार की व्यवस्था दी जाय, इस प्रकार के रास्ते बनाये जायँ और सुविधाएँ को जायँ जिनसे इस देश से माल और धन के खींचने में सुविधा

हो। यहाँ के अंग्रेज़ी इलाके की सीमा के भीतर रुई की खेती को बढ़ाया जाय तथा रेलों आदि के द्वारा रुई, ग़ल्ला और दूसरे कच्चे माल के जगह-जगह से जमा होकर इंग्लैण्ड भेजे जाने और इंग्लैण्ड के नये कारखानों में बने हुए माल को भारत के शहरों और गाँवों में पहुँचाने की सुविधाएँ पैदा की जावें लेकिन यह सब काम ईस्ट इण्डिया कम्पनी के रहते पूरी तेज़ी के साथ भारत में नहीं हो सकता था।

दूसरा कारण यह था कि इंग्लैण्ड के अनेक निवासी भारतवर्ष के उपजाऊ मैदानों में आ-आकर बसना और इस देश को आस्ट्रेलिया, अफरीका, और अमरीका आदि के समान इंग्लैण्ड का एक उपनिवेश बना देना चाहते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी इस प्रकार के उपनिवेश बनाने के विरुद्ध थी।

वास्तव में बात यह थी कि कम्पनी के संचालक और हिस्से-दार चाहते थे कि भारत के व्यापार, भारत की हुकूमत और भारत की लूट का समस्त लाभ उन्हीं को मिलता रहे किन्तु इंग्लैण्ड में उनके वैभव को देख-देख कर उनके असंख्य प्रतिस्पर्धी उत्पन्न हो चुके थे। लोग चाहते थे कि जो लाभ भारत से केवल कम्पनी को हो रहा है वह अब समस्त अंग्रेज़ी जाति को हो। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तोड़े जाने का यही सब से बड़ा कारण था।

पाठकों को विदित हो गया होगा कि क्यों ईस्ट इण्डिया कम्पनी से इंग्लैण्ड के निवासी असंतुष्ट थे और किसलिए कम्पनी के तोड़े जाने तथा ब्रिटिश भारत के शासन को इंग्लैण्ड के शासक और इंग्लैण्ड की पार्लिमेण्ट के हाथों में दिये जाने के लिए बहुत दिनों से प्रबल आन्दोलन कर रहे थे। सन् १८५७

के विप्लव से इंग्लैण्ड के आन्दोलनकारियों को अच्छा मौक़ा मिल गया। सन् १८५८ में पार्लिमेण्ट के सामने कम्पनी के तोड़ देने की तजवीज़ पेश की गई। इसके उत्तर में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचलकों ने एक लम्बा आवेदन-पत्र लिखकर फ़र्वरी सन् १८५८ में पार्लिमेण्ट के सामने पेश किया। कम्पनी के संचालकों ने इस लम्बे आवेदन-पत्र में अपने सौ साल के शासन के लाभ को दिखाते हुए प्रार्थना की कि शासन की बागडोर कम्पनी ही के हाथों में रहने दी जाय। सन् १८५७ के विप्लव की ओर संकेत करते हुए और अपने शासन की सफलता को पूर्ण रूप से दिखाते हुए कम्पनी के संचालकों ने इस आवेदन-पत्र में लिखा था—

"हम लोगों को यह दिखाने की आवश्यकता नहीं है कि हाल की दुर्घटना में यदि देशी नरेश बजाय विप्लव को दमन करने में हमें सहायता देने के, विप्लव के मार्ग-प्रदर्शक बन जाते अथवा यदि देश की सर्वसाधारण जनता विप्लव में सम्मिलित हो जाती तो इस दुर्घटना का अन्तिम परिणाम कदाचित् कितना विपरीत होता।"

इसी आवेदन-पत्र में कम्पनी के संचालों ने यह भी लिखा था कि, "जिस सिद्धान्त का इस समय इंग्लैण्ड में बड़े ज़ोरों के साथ प्रचार किया जा रहा है वह यह है कि भारत पर शासन करने में हमें विशेष दृष्टि इसी बात पर रखनी चाहिए कि जो अंग्रेज़ वहाँ रहते हैं, उन्हें किसी प्रकार लाभ हो।"

इतना ही नहीं अपने इस आवेदन-पत्र में कम्पनी के संचालकों ने विस्तार के साथ पार्लिमेण्ट को यह भी सलाह दी कि भारत के भावी शासन में किन-किन बातों

पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक है, किन्तु अंग्रेज-जाति की बढ़ती हुई माँग को पूरा करना अब असंभव था। कम्पनी की प्रार्थना अब किसी भी प्रकार स्वीकार हो न सकती थी। एक तो बहुत दिनों से इंग्लैण्ड के निवासी कम्पनी के विरुद्ध आनदोलन कर रहे थे, दूसरे भारत में भी भयानक विप्लव हो चुका था इसलिए भारतवासियों के दिलों को भी किसी नवीन और गंभीर परिवर्तन द्वारा अपनी ओर करने की आवश्यकता भी इंग्लैण्ड की पार्लिमेण्ट द्वारा उचित समझी जाने लगी थी। सन् १८५८ में ही भारत के अंदर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का अन्त कर दिया गया। भारत में कम्पनी ने जिस राज्य को स्थापित किया था उससे शासन का अधिकार इंग्लैंड की पार्लिमेंट ने स्वयं अपने हाथों में ले लिया। हाउस आफ़ कामन्स ने १६ मार्च सन १८५८ को एक नई कमेटी नियुक्त की। नीचे लिखे शब्दों में इस कमेटी का काम निश्चित किया गया—

"जाँच की जाय कि भारत में विशेषकर देश के पहाड़ी ज़िलों और अधिक स्वास्थ्य-जनक स्थानों में यूरोपियनों की बस्तियाँ बसाने और उपनिवेश बढ़ाने के लिए तथा साथ ही मध्य एशिया के साथ हमारे व्यापार को उन्नति देने के लिए क्या-क्या किया जा चुका है, क्या-क्या किया जा सकता है और उसके क्या-क्या सर्वोत्तम साधन है ?"

सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने यह सलाह देते हुए कि भारत का शासन कम्पनी के हाथों से लेकर पार्लिमेंट के हाथों में दे दिया जाय लिखा कि—"यद्यपि मालूम होता है कि भारत के निवासी इस सम्बन्ध में बिलकुल उदासीन हैं कि भारत के ऊपर कम्पनी द्वारा शासन किया जाय अथवा इंग्लैंड के मंत्रियों

द्वारा, तथापि भारत की दूसरी प्रजा इस संबन्ध में उदासीन नहीं है अर्थात् जो यूरोपियन भारत में रहते हैं और जो कम्पनी के नौकर नहीं हैं तथा इनके अतिरिक्त आमतौर पर वे सब लोग जो दोग़ली नसल के हैं, वे अब कभी भी कम्पनी के शासन से सन्तुष्ट न होंगे।"

इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि इस परिवर्तन में भारतवासियों की इच्छा का इतना गंभीर प्रश्न न था जितना कि अंग्रेज़ों की इच्छा का था। इसके बाद किसी को भी इस विषय में लेश-मात्र भी संदेह नहीं हो सकता कि भारत का शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथों से छीन कर इंग्लैंड के मंत्रि-मंडल के हाथों में सौंपने का मुख्य उद्देश्य भारतवासियों को लाभ पहुँचाना अथवा उनके हितों की रक्षा करना न था, बल्कि भारत के सर्वोत्तम प्रदेशों में यूरोप निवासियों के उपनिवेश बनाकर भारतवासियों को अपने गोरे स्वामियों के लिए "लकड़ी चीरने वालों और पानी भरने वालों" की अवस्था तक पहुँचा देना था। इसीलिए कम्पनी के शासन को अन्त कर देने में ही अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों को भारतवर्ष में अंग्रेज़ी राज्य की स्थिरता और उसका भावी हित दिखाई पड़ता था।

विप्लव के पूर्ण रूप से शान्त होने से पहले ही भारत का शासन कम्पनी के हाथों से लेकर इंग्लैण्ड की सरकार को सौंप दिया गया था। मलका विक्टोरिया उस समय इंग्लैण्ड के सिंहासन पर थी। भारतवर्ष के राजाओं, रईसों, सरदारों और समस्त प्रजा के नाम मलका विक्टोरिया की ओर से घोषणा प्रकाशित की गई। सार रूप में इस घोषणा के अन्दर नये अधिकार परिवर्तन की सूचना दी गई थी, और भारतवासियों
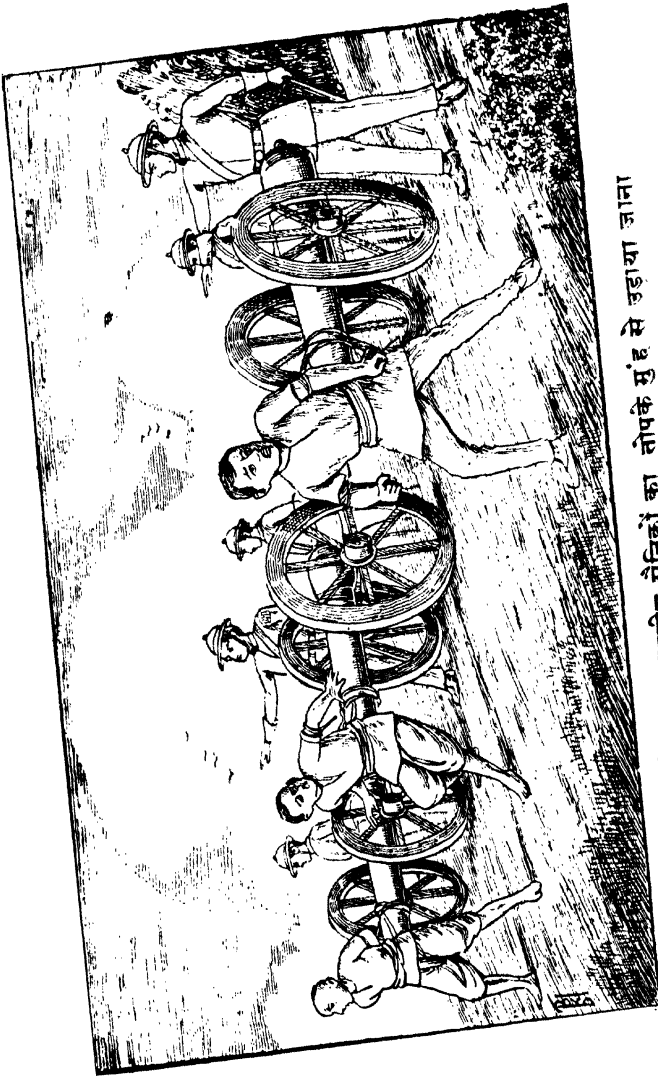
अङ्गरेजों द्वारा भारतीय सैनिकों का तोपके मुंह से उड़ाया जाना

को सलाह दी गई थी कि वे मलका विक्टोरिया, उसके उत्तराधिकारियों और उनके द्वारा नियुक्त किये गये अफ़सरों के वफ़ादार रहें। लार्ड कैनिंग को भारत का पहला वाइसराय नियुक्त किया गया, देशी राजाओं को यह विश्वास दिलाया गया कि जो संधियाँ और और अहदनामें आप लोगों के साथ इस समय तक किये जा चुके हैं, इंग्लैण्ड की सरकार उन पर कायम रहेगी। भारतीय प्रजा को विश्वास दिलाया गया कि तुम्हारे धर्म में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं किया जायगा और अंत में लोगों से विप्लव को शान्त करने की प्रार्थना की गई।

मलका विक्टोरिया की घोषणा में यह भी कहा गया था कि "जब ईश्वर की दया से देश में फिर से शान्ति स्थापित हो जायगी, तब हमारी हार्दिक इच्छा है कि भारतवर्ष की कारीगरी को तरक्क़ी दी जाय, ऐसे-ऐसे काम बढ़ाये जायँ जिनसे सर्वसाधारण को लाभ हो और उनकी उन्नति हो तथा शासन इस प्रकार चलाया जाय जिससे भारत में रहने वाली हमारी समस्त प्रजा को लाभ हो। प्रजा की खुशहाली में ही हमारी शक्ति है, उनके संतोष में ही हमारी कुशलता है, और उनकी कृतज्ञता हमारे लिए सबसे बड़ा इनाम है। सर्वशक्तिमान परमात्मा हमें और हमारे मातहत अफ़सरों को बल दे, ताकि हम अपनी इन इच्छाओं को अपनी प्रजा के हित के लिए पूरा कर सकें।"

इसमें संदेह नहीं कि ऊपर का लिखा हुआ वाक्य इस घोषणा का सब से अधिक चित्ताकर्षक वाक्य है। जिनमें राजनीति की चालों का ज्ञान नहीं है ऐसे अनेक भोले-भाले भारतवासियों के लिए छल और कपट से भरी हुई इस घोषणा के ये शब्द अधिक सान्त्वना देनेवाले साबित हुए और उन पर

भरोसा करके सन १८५७ के भयानक विप्लव में समाप्त हो जाने वाले प्राचीन मुग़ल साम्राज्य के स्थान में उन्होंने अपना ही रक्त चूसने वाले अंग्रेजों को प्रिय समझ कर अपना लिया, इतना ही नहीं, उनके राज्य में ही अपना सुख मान लिया। यदि राजनैतिक दृष्टिकोण से इस घोषणा की आलोचना की जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में इस घोषणा का मूल्य इस प्रकार की अन्य राजनैतिक घोषणाओं से किसी भी अंश में अधिक न था और न इस घोषणा में इस बात का ही उल्लेख था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी से इंग्लैण्ड के शासक ने भारत के शासन की बागडोर को अपने हाथों में ले लिया है अथवा इस समय तक भारत के प्रति अंग्रेजों की जो शासन-नीति चली आ रही थी उसमें किसी प्रकार के भी मौलिक परिवर्तन होने का लक्षण ही सूचित होता था। इस घोषणा का मुख्य उद्देश्य था, स्वाधीनता-संग्राम में असफल भारतवासियों के दिलों को किसी प्रकार शान्त करना और निस्संदेह इस उद्देश्य में अंग्रेजों को बड़ी सफलता प्राप्त हुई।

प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहास लेखक फ्रीमैन ने बहुत दिनों के बाद इस प्रकार की घोषणाओं के सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकट करते हुए लिखा है—"किन्तु जब हम विज्ञप्तियों और घोषणाओं की ओर आते हैं × × × तो हम झूठ के चुने हुए खास मैदान में पहुँच जाते हैं, × × × इसमें सन्देह नहीं कि जो मनुष्य पार्लिमेण्ट के हर काम या हर कानून पर विश्वास कर लेता है वह बालक के समान भोला है।"

इस प्रकार के जितने वादे इंग्लैण्ड ने भारत के साथ किये

हैं उन सब को मारक्विस आफ़ सैलिसबरी ने स्पष्ट रूप से "राजनैतिक छल" स्वीकार किया है।

भारत सरकार के प्रसिद्ध और सुयोग्य ला मेम्बर सर जेम्स स्टीफ़ेन ने मलका विक्टोरिया की इस प्रसिद्ध घोषणा के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा था कि, (यह घोषणा) "केवल एक रसमी पत्र था। यह कोई प्रतिज्ञा-पत्र न था जो भारत अंग्रेज़ शासकों के ऊपर किसी प्रकार का भी बन्धन हो। इस घोषणा की कोई भी क़ानूनी क़ीमत नहीं हैं।"

इंग्लैण्ड की राज्य-व्यवस्था के अनुसार भी मलका विक्टोरिया को इस प्रकार का कोई भी अधिकार प्राप्त न था और न इंग्लैण्ड के किसी भी बादशाह को प्राप्त है, जिससे इंग्लैण्ड की पार्लिमेण्ट या वहाँ के मंत्री बादशाह की किसी घोषणा के अनुसार अमल करने के लिए बाध्य किये जा सकें। पहली नवम्बर सन् १८५८ को लार्ड कैनिंग ने इलाहाबाद में इस घोषणा को पढ़कर सुनाया। भारत के अंग्रेज़ शासकों ने उस समय से आज तक व्यवहार में इस घोषणा के वादों की कभी कुछ भी पर्वाह नहीं की।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि लॉर्ड डलहौजी का उद्देश्य भारत के समस्त मानचित्र को अँग्रेज़ी राज्य के रंग में रँग देना था। पंजाब, नागपुर, अवध, सतारा, झाँसी इत्यादि पर अधिकार किया जा चुका था। १८ अप्रैल सन् १८५९ को पार्लिमेण्ट के सामने भाषण करते हुए सर अर्सकाइन पेरी ने कहा था— "इसके बाद अब निज़ाम के राज्य की बारी है। उसके बाद मालवा की उपजाऊ भूमि पर अधिकार किया जायगा। जहाँ की काली मिट्टी में रुई और अफीम बहुत अच्छी पैदा हो सकती है। फिर

गुजरात जो उससे भी अधिक उपजाऊ है। × × × राजपूताने और बाकी की ६ करोड़ देशी प्रजा को इसके बाद विजय किया जायगा।"

किन्तु अगले ही साल विप्लव ने यह सारा नक़शा बदल दिया। अंग्रेजों की आँखें खुल गईं। वे समझ गये कि लार्ड डलहौजी की अपहरण नीति ही विप्लव का एक मुख्य कारण थी। उन्हें अब अपना हित और अपने साम्राज्य की स्थिरता भारतवर्ष की शेष देशी रियासतों के बनी रहने में ही दिखाई देने लगी। इसमें सन्देह नहीं कि विप्लव के बाद भी और विप्लव के ऐन दिनों में भी कुछ ऐसे अंग्रेज थे जो भारत की बची हुई देशी रियासतों को हड़प कर अंग्रेजी राज्य में मिला लेने के पक्ष में थे। सन् १८५८ में लंदन में "इंडियन पालिसी" (भारतीय नीति) नामक एक पत्रिका प्रकाशित हुई, जिसमें भारत के अंग्रेज शासकों को यह सलाह दी गई कि प्रत्येक देशी नरेश के मरने पर वे उसके राज्य पर अपना अधिकार कर लें किन्तु जो विचार शील अंग्रेज थे वे इस अनुचित सलाह के मानने में अपने साम्राज्य का हित नहीं देख रहे थे।

यही एक कारण है कि विप्लव के बाद से अब तक बर्मा को छोड़कर किसी नई देशी रियासत पर अधिकार नहीं किया गया। निस्संदेह अंग्रेज शासकों ने देशी नरेशों के साथ जिस नीति का व्यवहार किया है उसका परिणाम यह है कि धीरे-धीरे भारतवर्ष की लगभग सब देशी रियासतें विदेशी अंग्रेजी शासन की स्थिरता में किसी प्रकार का भय नहीं मानती थी और ब्रिटिश साम्राज्य की पोषक विशेष रूप से बन चुकी थीं।

सन् १८५७ से लेकर भारत छोड़ने तक अंग्रेजों द्वारा भारत

की सैकड़ों छोटी-बड़ी रियासतों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार किया गया है, जिस प्रकार अंग्रेज रेजिडेण्टों, पोलिटिकल एजेण्टों आदि का क़दम क़दम पर देशी नरेशों के साथ न्याय-पूर्ण अधिकारों में हस्तक्षेप होता रहा है, जिस प्रकार भारतीय राजकुमारों की शिक्षापर अंग्रेज नीतिज्ञों ने सदा अपना ही प्रमुख अधिकार बनाये रखा, जिसमें कभी-कभी उन कुमारों के अभिभावकों और स्वयं गद्दीनशीन नरेशों तक को हस्तक्षेप करने का अधिकारी नहीं समझा गया, जिस प्रकार अनेक राजकुमारों के चरित्र का व्यवस्थित और वैज्ञानिक ढंग से सत्यानाश किया है, और फिर कभी-कभी उसी चरित्र-हीनता को ही उनकी अयोग्यता का प्रमाण मान लिया गया है, ये सब लम्बे और दुःख उत्पन्न करनेवाले कथानक संसार के साम्राज्यों के इतिहास में अपना विशेष ध्यान देने योग्य और महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यदि हम ऐसे साम्राज्य-विस्तार के कलंकित आदर्श के दूसरे उदाहरण को खोजना चाहें तो हमें आज से चार-पाँच हजार साल पहले के मिश्री साम्राज्य और उसके दो तीन हजार साल बाद के रोमन साम्राज्य के इतिहास के पृष्ठों को उलटना पड़ेगा किंतु यह सब विषय हमारे उपस्थित विषय से भिन्न है इसलिए इस सम्बन्ध में अधिक लिखना प्रसंग के अनुसार उचित नहीं है।

पाठकों को केवल इतना ही ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक भारत में अंग्रेज रहे हैं तब तक देशी रियासतों को नित्य पंगुल बनाने के प्रयत्न करते रहे हैं। जब कभी कोई बात अंग्रेजों के अनुकूल न हुई तब तुरन्त ऐसे ऐसे कुत्सित और अन्यायपूर्ण उपायों को काम में लाया गया है जिससे कि देशी रियासत का अधिकारी किसी भी योग्य न रह जाय। हमेशा से ही एक

नियम-सा चला आ रहा था कि देशी रियासत के अधिकारी अपनी रियासत में भी कुछ न करने पाये। यही एक कारण समझ में आ रहा है कि देशी नरेशों की इच्छा न रहने पर भी अंग्रेज़ों की देशी फौजों के सिपाही प्रायः देशी रियासतों से ही भर्ती किये जाते हैं और ब्रिटिश भारत के किसी भी विद्रोह को दमन करने में वे ही अधिक उपयोगी साबित होते हैं।

भारतवर्ष में अंग्रेज़ों के उपनिवेश अर्थात् अँग्रेज़ों की बस्तियाँ बसाने की चर्चा वारन हेस्टिंग्स के समय से चली आती थी किन्तु इस विषय पर अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों में नित्य बड़ा मत-भेद रहा। असंख्य अंग्रेज़ उन दिनों इस प्रकार के उपनिवेशों को बढ़ने देने के विरुद्ध थे। वारन हेस्टिंग्स की कौंसिल के सदस्य मानसन की राय थी कि अंग्रेज़ भारत में खेती इत्यादि का कार्य सुचारु रूप से न कर सकेंगे और यदि करने की चेष्टा करेंगे तो उनका रहन-सहन भारतीय प्रजा की अपेक्षा इतना महँगा होगा की उसके कारण सरकार की आमदनी में बड़ी कमी पड़ जायगी। ७ नवम्बर सन् १७९४ को कार्नवालिस ने इंग्लैण्ड के भारत मंत्री डंडास को लिखा है कि "ब्रिटेन के हित के लिए यह बात बड़े महत्व की है कि यूरोप निवासियों को जहाँ तक हो सके, हमारे भारतीय इलाकों में उपनिवेश बनाने और बसने से रोका जाय।" ४ फर्वरी सन् १८०१ को डाइरेक्टरों ने भारत में इस तरह के उपनिवेशों के विरुद्ध एक प्रस्ताव पास किया।

सन् १८१३ में समस्त इंग्लैण्ड-निवासियों के लिए भारत आने और व्यापार करने का मैदान खोल दिया गया और इसके बाद दक्षिण और उत्तर के कई नये पहाड़ी इलाके अंग्रेज़ी राज्य में मिलाये गये। इसलिए इंग्लैण्ड के कुछ लोगों ने कम्पनी के

डइरेक्टरों की सम्मति के विरुद्ध भारत में अपने उपनिवेश बनाने के लिए आन्दोलन आरंभ किया। इन आन्दोलनकारियों की मुख्य दलील यह थी कि इस प्रकार के उपनिवेशों की सहायता से भारत में अधिक दिनों तक अंग्रेज़ी राज्य क़ायम रह सकेगा। अन्य अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों के अतिरिक्त सर फ्रेडरिक शोर भी इस प्रकार के उपनिवेशों को बसाने के पक्ष में था। उसका कथन था—

"अंग्रेज़ी सत्ता के उलट जाने से इस प्रकार के नये बसे हुए (यूरोपियन) लोगों को कोई लाभ न होगा, बल्कि उन्हें हर तरह से हानि ही होगी, इसलिए भारतवासियों की ओर से किसी भी उपद्रव या बग़ावत के समय ये लोग अपना समस्त प्रभाव (अंग्रेज़) सरकार के पक्ष में लगा देंगे और अपने देशी नौकरों, साथियों आदि को भी ऐसा ही करने के लिए प्रोत्साहित करेंगे, इसके विपरीत अंग्रेज़ सरकार के भारतवासियों के भाव इस प्रकार के हैं कि जब कभी कोई विद्रोह होता है तब जो लोग विद्रोह में भाग नहीं लेते हैं वे भी कम से कम तटस्थ रहते हैं किन्तु सरकार को प्रायः कोई सहायता नहीं देता।"

सर चार्ल्स मेटकाफ़ और लॉर्ड विलियम बैंण्टिङ्क भी भारत में अंग्रेज़ी उपनिवेश बनने के पक्ष में थे। उनकी भी दलीलें ठीक इसी प्रकार की थीं। परिणाम यह हुआ कि सन १८३३ के चारटर एक्ट में उन अंग्रेज़ों के लिए कई प्रकार की नवीन सुविधाएँ कर दी गईं, जो भारत में आकर बसना चाहते थे। नैपाल के रेज़िडेण्ट ब्रायन हॉटन हॉजसन ने दिसम्बर सन् १८५६ में हिमालय की उपजाऊ घाटियों में

यूरोपियनों के उपनिवेश बनाने के पक्ष में एक अत्यन्त प्रभावशाली पत्र लिखा। उस पत्र में उसने लिखा—"××× हिमालय में अपने उपनिवेश को बढ़ाना अंग्रेज सरकार के सर्वोच्च और सब से अधिक महत्वपूर्ण कर्त्तव्यों में से एक है।"

हाजसन की राय में 'भारत के अन्दर ब्रिटिश शासन को स्थायी बनाने के लिए सबसे बड़ा, सब से सुदृढ़, सब से निःशंक और सब से सरल राजनैतिक उपाय भारत के अन्दर अंग्रेजों के उपनिवेश ही हो सकते थे। हॉजसन यह चाहता था कि आयर्लैण्ड और स्काटलैण्ड के किसानों को मुफ्त जमीन देकर भारत में बसने के लिए उत्साहित किया जाय।

सन १८५७ के बाद इस विषय का आन्दोलन इङ्गलैण्ड में और अधिक होने लगा। इसी के साथ-साथ अनेक उपायों से उस समय के अंग्रेज शासकों ने अपने देशवासियों और विशेषकर अंग्रेज पूँजीपतियों को भारत में आकर बसने के लिये उत्साहित करना आरंभ किया। आसाम और कुमायूँ में अंग्रेज सरकार ने भारतीयों के खर्च पर चाय की काश्त के तजुर्बे किये और यह स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर दी कि इन तजुर्बों के सफल होने पर चाय के सरकारी खेत उन अंग्रेजों को दे दिये जायँगे जो इस काम ये लिए आसाम और कुमायूँ में बसना चाहेंगे। तजुर्बों का समस्त व्यय भारतीयों के मत्थे मढ़ा गया और बाद में दोनों स्थानों के चाय के खेत अंग्रेजों को सौंप दिये गये।

भारतीयों के ही व्यय पर कई अंग्रेजों को इसलिए चीन भेजा गया कि वे चीन से चाय के बीज लायें, चीनी खेती के तरीकों को सीखें और वहाँ से चीनी विशेषज्ञ साथ लाकर भारत में अपने धंधे को तरक्क़ी दें। पिछले डेढ़ सौ वर्ष से ऊपर के

बृटिश शासन में कभी किसी भारतीय व्यापार को सफल बनाने के लिए अंग्रेज सरकार ने इस प्रकार के प्रयत्न नहीं किये। यूरोपियन पूँजीपतियों की बचत को बढ़ाने और सुदृढ़ करने के लिये भारतीय मजदूरों के सम्बन्ध में भारत सरकार ने इस प्रकार के क़ानून पास किए जिनसे असंख्य भारतवासी इन लोगों के क़ानूनी गुलाम बन गये। इन क़ानूनी गुलामों के साथ अंग्रेज पूँजीपतियों और उनके नौकरों का व्यवहार बृटिश भारतीय इतिहास का एक अत्यन्त कलुषित और पाशविक अत्याचार-पूर्ण अध्याय है।

ठीक इसी प्रकार धन आदि की सहायता कुमायूँ में लोहे का धंधा करने वाले अंग्रेज को दी गई। नील की खेती करने वाले उन अंग्रेजों को भी भारतीयों के धन से समय-समय पर सहायता दी गई जिन्होंने भारतीय मजदूरों के साथ नित्य अमानुषिक व्यवहार किया है। रेलों, सड़कों और उनके विचित्र नियमों द्वारा भी इन अंग्रेजों को अपने कार्य में हर प्रकार की सहायता दी गई।

सन १८५८ की कमेटी के सामने गवाही देने वाले गवाहों में से कुछ की राय थी कि भारत के पहाड़ी इलाक़े पर अंग्रेज किसानों और मजदूरों को बसा दिया जाय और भारत के मैदानों में इस प्रकार के अंग्रेज पूँजीपतियों को आबाद किया जाय जो अपने अधीन भारतीय किसानों और मजदूरों से काम ले सकें। कुछ लोगों की राय तो यहाँ तक थी कि एलजीरिया (उत्तर-अफ्रीका) के समान समस्त भारत में अंग्रेज पूँजीपतियों से लेकर अंग्रेज किसानों और मजदूरों तक को बसाया जावे। इतना ही नहीं, अंग्रेजों को भारत में जमींदारी करने के लिये अनेक प्रकार

की सुविधाएँ दी जाने की सलाह भी हुई और भारत में कई स्थानों पर विशेष रूप से कई उपजाऊ पहाड़ी इलाकों में अंग्रेजों की बस्तियाँ बसाने के प्रबल प्रयत्न किये जाने लगे किन्तु संसार के अन्य देशों के समान भारतवर्ष में अंग्रेजों को बस्तियाँ आबाद न हो सकीं इसका मुख्य कारण यह है कि भारतवर्ष प्राचीन, विशाल और अत्यंत घना बसा हुआ देश है। अंग्रेजों के लिए यहाँ की करोड़ों जनता की हत्या करने पर ही ऐसा संभव होता कि वे अपनी बस्तियाँ बसा लेते। सन १८५७ के विप्लव से वे समझ गये कि यहाँ की करोड़ों जनता को मिटाकर उनकी जगह ले सकना इतना सरल नहीं है जितना कि पहले समझे हुए थे।

सन् १८१३ के 'चार्टर एक्ट' में एक धारा यह भी थी कि जो अंग्रेज ईसाई पादरी भारतवासियों के "धार्मिक उद्धार" के लिए अर्थात् उन्हें ईसाई बनाने के लिए "भारत जाना चाहें और वहाँ रहना चाहें" उन्हें "कानून के द्वारा हर प्रकार की सुविधा" दी जाय। इसके बाद से ही "ईसाई धर्म-प्रचार का एक सरकारी विभाग (एक्लेज़िएस्टिकल डिपार्टमेन्ट)" भारत में खोल दिया गया और उसका खर्च भारत-वासियों के सिर पर मढ़ दिया गया। सन १८५७ के विप्लव के बाद अंग्रेज नीतिज्ञों में इस विषय पर बड़े तर्क वितर्क हुए। मार्च सन् १८५८ की अंग्रेजी पत्रिका "दी कैलकटा रिव्यु" में एक अंग्रेज का लिखा हुआ नीचे लिखा वाक्य मिलता है जिससे यह पता चलता है कि उस समय अंग्रेज नीतिज्ञों को क्या-क्या बातें सूझ रही थीं। वह अंग्रेज लिखता है—

"हमें चारों ओर × × इस समय की अवाजें सुनाई दे रही

हैं, जिनमें ज़ोरों के साथ यह सलाह दी जाती है कि हमें क्या करना चाहिए । कोई कहता है, भारत को अवश्य ईसाई बना लेना चाहिए' कोई कहता है 'भारत भर में अंग्रेजों को बसाना चाहिए' कोई कहता है 'हमें हिन्दुस्तानी भाषा को समाप्त कर देना चाहिए और उसके स्थान पर अपनी मातृभाषा (अंग्रेज़ी) प्रचलित कर देनी चाहिए' ये इनमें से केवल थोड़ी सी आवाजें हैं ।"

सन् १८५७ के बाद अधिकांश नीतिज्ञ इस बात को और अधिक ज़ोरों के साथ अनुभव करने लगे थे कि भारत-वासियों के दिलों से राष्ट्रीयता के रहे सहे भावों को मिटा देना और भविष्य में इस तरह के भावों को पनपने न देना अंग्रेज़ी साम्राज्य की दृढ़ता के लिए आवश्यक है ! इसलिए इस काम को सफल बनाने के दो मुख्य उपाय उस समय सोचे गये । पहला उपाय था भारत में ईसाई मत का प्रचार और दूसरा उपाय था भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचलन । मलका विक्टोरिया ने अपनी घोषणा में यह वादा किया था कि धर्म के सम्बन्ध में अंग्रेज़ सरकार किसी प्रकार का पक्षपात न करेगी किन्तु विप्लव के केवल अगले ही साल इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री लार्ड पामर्सटन ने ही ईसाई पादरियों के एक डेपुटेशन के उत्तर में कहा —

"मालूम होता है कि अन्तिम लक्ष्य के विषय में हम सबों का ही एकमत है । समस्त भारत में पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक ईसाई मत के फैलाने में जहाँ तक हो सके सहायता देना न केवल हमारा कर्त्तव्य है बल्कि इसी में हमारा लाभ है ।"

सन् १८५७ के विप्लव पर आलोचना करते हुए अनेक अंग्रेज़ पादरियों ने कहा—"हमारे शत्रु वे मुसलमान थे जिनके धर्म

की प्रशंसा करके हमने उन्हें फुला दिया और वे हिन्दू थे जिनके अन्ध-विश्वासों को हमने पुष्ट किया, किन्तु हमारे सच्चे मित्र वे हिन्दुस्तानी थे जिन्हें हमारे पादरियों ने ईसाई बना लिया था।"

इन सबों के ईसाइ-मत के प्रचार का एकमात्र उद्देश्य अपने साम्राज्य को सुदृढ़ बनाना था। विलियम एडवर्डस विप्लव के दिनों में कम्पनी का नौकर था और वह फिर आगरा हाईकोर्ट का एक जज हुआ। उसकी राय थी—"हम विदेशी आक्रमण करने वाले और विजेता समझे जाते हैं और इसी प्रकार सर्वदा समझे जायँगे। × × × हमारे लिए अपनी रक्षा का सब से अच्छा उपाय यह है कि हम देश को ईसाई बना लें। × × × देशी ईसाइयों की बस्तियाँ जब देश में इधर-उधर फैल जायँगी तब वे अनेक वर्षों तक हमारी दृढ़ता के लिए स्तम्भों का काम देंगी, क्योंकि जब तक अधिकांश जनता मूर्ति-पूजक अथवा मुसलमान रहेगी, तब तक ये ईसाई लोक अवश्य राजभक्त रहेंगे।"

लार्ड विलियम बैण्टिङ्क के प्रयत्नों और पंजाब को ईसाई बनाने की योजनाओं के सम्बन्ध में हम पहले ही कह चुके हैं। जो उद्देश्य भारतवासियों को ईसाई बनाने अथवा मुसलमानों को दबाने से था वह भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से था। लार्ड मैकॉले इस शिक्षा का सबसे अधिक पक्षपाती था। भारत की विचित्र स्थिति में समस्त देश को ईसाई बनाने का प्रयत्न अधिक दिनों तक सफलता के साथ न चल सका और न अधिक खुले तौर पर उसे शासन-नीति का एक अंग बनाया जा सका किन्तु इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि अंग्रेजी शिक्षा ने एक अच्छी

श्रेणी ऐसे लोगों की पैदा कर दी, जो अपनी जीविका के लिए अंग्रेज़ी राज्य पर भरोसा करने लगे थे और उस राज्य के विशेष स्तम्भ बन रहे थे और जिनके रहन-सहन तथा भारती जनता के रहन-सहन में बड़ा अन्तर अब भी दृष्टिगोचर होता है और आज दिन भी जिनमें सामूहिक दृष्टि से राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रीय मान के भावों का अभाव-सा है।

आधुनिक यूरोपियन राजनीति में किसी देश पर शासन करने का मतलब ही उस देश से अधिकाधिक धन खींचना है जिसे हम उनकी आर्थिक शोषण नीति भी कह सकते हैं। भारत की मनमानी लूट से ही इंग्लैण्ड के और विशेष रूप से लंकाशायर के कारखाने चले। सन् १८५७ के बाद "भारत की उपजाऊ शक्ति को उन्नति देने" की विशेष चर्चा सुनी जाने लगी। इसके छः मुख्य-मुख्य उपाय सोचे गये।

पहला मुख्य उपाय भारत में रेलों का प्रचलन करना था। भारत में रेलें उसी धन से चालू की गईं जिस धन को अंग्रेज़ों ने भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा भारत से ही कमाया था। इस पर भी पार्लिमेण्ट के एक सदस्य स्विफ़्ट मैकनील ने १४ अगस्त सन् १८६०. को कहा था—"यह हिसाब लगाया जा चुका है कि जितना धन भारत में रेलों पर ख़र्च किया जाता है, उसमें से प्रति शिलिंग पीछे आठ पेंस (अर्थात् दो तिहाई) इंलैण्ड चला आता है।"

इन रेलों के मुख्य कार्य परतंत्र भारत में इतने ही थे कि भारत से गेहूँ, कपास आदि इंग्लैण्ड को भेज दें, इंग्लैण्ड का बना हुआ माल भारत के कोने-कोने में पहुँचा दें और आवश्यकता पड़ने पर (भारतीयों के स्वधीनता-आन्दोलनों को दबाने

के लिए) इधर से उधर तक सेनाओं को ले जाया करें। निस्संदेह जब हम पराधीन स्थिति में थे तब ये रेलें भारत-वासियों के धन उनके धंधों और उनके स्वास्थ्य तीनों के लिए नाशक और असंख्य ग्रामों को उजाड़ देने वाली साबित हुई थीं।

दूसरा मुख्य उपाय रुई की खेती था। अपने कपड़े के धन्धे को चलाने के लिए इंग्लैण्ड पहले मँहगे दामों पर अमरीका से रुई लिया करता था। भारत में बरार, सिन्ध और पंजाब अपनी अच्छी रुई के लिए प्रसिद्ध था। इन देशों पर अंग्रेजों के अधिकार करने का एक विशेष अर्थ यह था कि इंग्लैण्ड के कारख़ानों को सस्ती रुई भेजी जा सके। सन् १८५७ के विप्लव के बाद इसके लिए विशेष रूप से प्रयत्न किये गये। एक नई 'ईस्ट इण्डिया कॉटन कम्पनी' बनाई गई और रुई की खेती तथा उसकी उपज को इंग्लैण्ड भेजने की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। इंग्लैण्ड और भारत के सम्बन्ध का सब के मुख्य रूप उस समय से आज तक कच्ची रुई का भारत से इंग्लैण्ड जाना और इंग्लैण्ड के बने हुए कपड़ों का भारत में आकर बेचा जाना है। सच कहा जाय तो इंग्लैण्ड की जनता के लिए जीविका का सबसे बड़ा आधार यही रहा है। लेखक की यह धारणा है कि स्वाधीन भारत में जितने भी कपड़े के कारख़ाने इस समय चल रहे हैं उनका ठीक ठीक प्रबन्ध भारत सरकार और प्रजा के सहयोग से होता रहे तो वे ही कुछ दिनों में संसार की दृष्टि में इंग्लैण्ड आदि देशों के कारख़ानों से कहीं अधिक उन्नति कर सकेंगे किन्तु कारख़ाने वालों के लिए भी आवश्यक है कि वे भारत की जनता के साथ कदापि विश्वासघात न करें।

तीसरा मुख्य उपाय अंग्रेज़ पूँजीपतियों को सुविधाएँ देना

था। भारत में आकर धंधा करने वाले अंग्रेज पूँजीपतियों को आरंभ से विशेष सुविधाएँ मिलती रही हैं। चाय, नील इत्यादि की खेती कराने वाले अंग्रेजों के साथ बड़ी-बड़ी रिआयतें की जाती थीं। इन अंग्रेज पूँजीपतियों के लाभ के लिए चाय के बाग़ीचों और नील के खेतों के लाखों मजदूरों के साथ जो अमानुषिक बर्ताव किया गया वह सभ्यताभिमानी अंग्रेज जाति के लिए न मिटने वाला कलक बन चुका है। सन् १८६० में सर एशले एडन ने जो बाद में बंगाल का लेफ्टिनेण्ट गवर्नर हुआ, स्पष्ट कहा था—"नील की काश्त कभी भी लोग अपनी इच्छा से नहीं करते, बल्कि उनसे नित्य बल-पूर्वक कराई जाती है।" सभी विद्वानों का यही मत है कि ब्रिटिश भारत में चाय और नील की काश्त का इतिहास ग़ुलामी की प्रथा का अत्यन्त लज्जाजनक इतिहास है।

चौथा मुख्य उपाय अंग्रेजों को नौकरियाँ देने का था। उस समय ब्रिटिश राज्य को सुदृढ़ बनाये रखने का एक मुख्य उपाय यह भी मान लिया गया था अनेक अंग्रेजों ने यह स्वीकार कर लिया है कि अंग्रेजों को जो वेतन साधारणतया भारत में दिया जाता है उससे आधा भी उन्हें इंग्लैड या किसी दूसरे देश में न मिल सकता।

पाँचवाँ मुख्य उपाय वास्तविक शासन से भारतीयों को दूर रखना था। यह ऐसा उपाय था जिसने अंग्रेजों को भारत में सम्हाल लिया किन्तु साथ ही साथ भारतीयों को कुचल भी दिया। क्योंकि यह मानी हुई बात है कि जिस कार्य से भारत का हित होगा उसी कार्य से इंग्लैण्ड क अहित अवश्य होगा और जिस कार्य से इंग्लैण्ड का हित होगा उसी कार्य से भारत

का अहित होना अनिवार्य है। एक के उद्योग-धंधों की उन्नति में दूसरे की बेकारी है और एक के सम्पन्न होने में दूसरे की निर्धनता है। इसलिए शासन के प्रबन्ध में कोई वास्तविक अधिकार भारतीयों को देना विदेशी शासकों के लिए कभी भी हितकर नहीं हो सकता था।

कप्तान पी० पेज ने लन्दन के ईस्ट इण्डिया हाउस से बैठकर ६ अप्रैल सन् १८१६ को अपने एक मेमोरण्डम में लिखा कि "मैं भारतवासियों की नेकचलनी के इनाम में उनके सम्मान को बढ़ा दूँगा किन्तु उनके हाथ में शासन कभी न दूँगा। × × × यही सिद्धान्त रोमन लोगों का था। भारतवासियों के हाथों में बिना किसी प्रकार की सत्ता दिये ही हम उनकी खैरख्वाही अपनी ओर बनाये रख सकते हैं। उन्हें केवल सत्ता का आभास देना पर्याप्त होगा और यद्यपि व्यक्तिगत जीवन में मैं राशफूकाल्त के इस सिद्धान्त को घृणा की दृष्टि से देखता हूँ कि मनुष्य अपने मित्रों के साथ भी इस प्रकार से रहे कि मानों एक दिन वे अवश्य शत्रु बनने वाले हैं, फिर भी मैं समझता हूँ कि भारत के शासकों के लिए इस सिद्धान्त को सदा ध्यान में रखना ही उचित है।"

भारत और इंग्लैण्ड दोनों ही देशों के नीतिज्ञ इस बात को भली भाँति जानते हैं कि सन् १६३५ के गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया एक्ट की असेम्बलियाँ और वज़ारतें भी 'सत्ता के आभास' से किसी अंश में अधिक नहीं है। स्वाधीन भारत 'सत्ता के आभास' को पहिचान चुका है इसलिए वह नित्य सतर्क ही रहेगा। १८५७ के इतने दिनों के बाद हम अपने को स्वाधीन भारत के निवासी कहने के योग्य हो सके हैं।

छठा मुख्य उपाय क़ानून और अदालतों का था। 'भारत की उपजाऊ शक्ति को उन्नति देने' का एक मुख्य उपाय आज-कल के क़ानून और अदालतें हैं। भारत के स्वाधीन होने तक इन क़ानूनों और अदालतों ने अपने वे हथ-कंडे दिखाये हैं जिनका अनुभव प्रायः सभी भारतवासियों को है। जो 'ताज़ीरात हिन्द' सन् १८३३ के चार्टर एक्ट के बाद लॉर्ड मैकॉले ने तैयार किया था वह सन् १८५७ के विप्लव के बाद ही भारत के क़ानून के रूप में हो गया।

दीवानी के क़ानून की पेचीदगियाँ भी मुकदमेबाज़ी को कम करने के स्थान पर बढ़ाने ही में अधिक सहायता पहुँचाती हैं और असंख्य घरानों के सर्वनाश का कारण भी साबित हो चुकी हैं। इन अदालतों और इनकी कार्रवाइयों से भारतवासियों का जो आर्थिक और नैतिक पतन हुआ है, वह किसी से भी छिपा नहीं है। इन अदालतों से तंग आकर जब भारतवासी अपने अतीत की ओर जाते थे तब उन्हें उन पंचायतों की याद आती थी जो कि हज़ारों वर्ष पहले से चली आती थीं और अंग्रेज़ों के आते ही आते समाप्त हो चुकी थीं। वे पंचायतें ऐसी थीं कि उनमें ग़रीब से ग़रीब बिना पैसे के ही न्याय पा लेता था और मुग़ल काल के शहरों के उन न्यायालयों की याद आ जाती थी जिनके फाटक पर लिखा रहता था 'फ़क़ीरी ही न्यायाधीश के लिए सब से अधिक अभिमान की वस्तु है' और जिनके धर्मभीरु न्यायाधीशों के लिए किसी के यहाँ निमंत्रण में जाना अथवा किसी से एक पान तक की भेंट स्वीकार करना हराम समझा जाता था।

इसमें संदेह नहीं कि भारतीय सिपाही अपूर्व वीर थे

किन्तु उनमें देशभक्ति का अभाव था। यदि ऐसा न होता तो वे कदापि विदेशी राज्य के संस्थापन में विशेष रूप से हाथ न बँटाते। किन्तु सन् १८५७ के विप्लव में अपनी अपूर्व वीरता, साहस और देशभक्ति का जो अलौकिक चमत्कार उन सबों ने दिखाया था उससे अंग्रेज़ सतर्क हो गये थे इसलिए विप्लव के बाद सेना के नये संगठन के लिए एक रायल कमीशन नियुक्त हुआ। कुछ लोगों की यह राय थी कि केवल अंग्रेज़ और ऐंग्लो-इण्डियन सिपाही भारतीय सेना में रखे जाँय किन्तु यह राय न मानी गई क्योंकि इससे काम का चल सकना संभव न था। कुछ और लोगों की राय थी कि अंग्रेज़ और ऐंग्लो-इण्डियन सिपाहियों के साथ-साथ थोड़े से अरब, बरमी और अफ्रीका के हब्शी भी भारतीय सेना में भर्ती किये जाँय। इस प्रकार के परामर्श देने वाले लोग विप्लव से डर गये थे और भारतीय सिपाहियों की पलटनों को एकदम तोड़ देना चाहते थे किन्तु सोच-विचार कर देखा गया तो इस राय से भी काम चल सकना असंभव-सा दिखने लगा। अन्त में यह राय निश्चित हुई कि हिन्दुस्तानी पलटनों में ब्रिटिश-भारतीय प्रजा के साथ-साथ नैपाल के गोरखों, सरहद के पठानों, जम्मू के डोगरों, राजपूतों, पटियाले आदि के सिखों और मराठा रियासतों के मराठों को भी शामिल किया जाय। तोपखाने की नौकरियाँ अविश्वास के कारण देशी सिपाहियों के लिए बन्द कर दी गई अंग्रेज़ों ने यह भी देख लिया था कि तोपखाने के महकमे में हिन्दुस्तानी सिपाही सब से अधिक योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। देशी सिपाहियों को तुलना में घटिया हथियार मिलने लगे। फ़ौज के बड़े-बड़े और वास्तविक उत्तरदायित्व-पूर्ण पद उनके लिए बन्द कर दिये गये।

विप्लव को शान्त करने का समस्त व्यय यहाँ तक कि इंग्लैण्ड के गोरे सिपाहियों को शिक्षा देने और उनके भारत आने जाने का व्यय तक भारत से वसूल किया गया। भारत से बाहर के अंग्रेजों के अनेक युद्धों का व्यय भी भारत से लिया गया है। मेजर विनगेट लिखता है कि सन् १८५९ में ६१८६७ अंग्रेज सिपाही भारत में पल रहे थे और इनके अलावा १६४०७ अंग्रेज सिपाही ऐसे थे जो उस समय इंग्लैण्ड में रहते थे, इंग्लैण्ड की रक्षा करते थे और जिन्हें वेतन भारत से मिलता था। जब कभी इंग्लैण्ड से भारत पलटनें लाने की आवश्यकता होती थी तब उन गोरी पलटनों के इंग्लैण्ड से चलने के ६ महीने पहले तक का वेतन और समस्त व्यय भारत से लिया जाता था। भारतीय सेना के नये संगठन द्वारा अंग्रेजी सेना की संख्या बढ़ा दी गई, भारत से अंग्रेजों की आमदनी बढ़ गई। देशी सिपाहियों की अवस्था और अधिक हीन हो गई। भारत के शासन का आर्थिक भार बढ़ गया और देश की शृङ्खलाएँ और मजबूत हो गईं।

१९वीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत के अंदर अंग्रेजी साम्राज्य को जिन विशेष अनुभवी नीतिज्ञों ने विस्तार किया था उनमें से सर जान मैलकम भी एक था। सन् १८१३ में पार्लिमेण्ट की जाँच कमेटी के सामने गवाही देते हुए उसने कहा था—"इस समय हमारा साम्राज्य इतनी दूर तक फैला हुआ है कि जो असाधारण ढंग की हुकूमत हमने उस देश में क़ायम की है उसके बने रहने के लिए हमें केवल एक बात का सहारा है, वह यह कि जो बड़ी-बड़ी जातियाँ इस समय अंग्रेज सरकार के अधीन हैं वे सब एक दूसरे से अलग-अलग हैं और जातियों में भी फिर अनेक जातियाँ हैं, जब तक ये लोग इस प्रकार एक

दूसरे से बँटे रहेंगे तब तक इस बात का डर नहीं है कि कोई भी विप्लव हमारी सत्ता को हिला सके।"

इसके कई वर्ष बाद एक अंग्रेज अफ़सर ने लिखा था—"हमारे राजनैतिक, देशी और फ़ौजी तीनों प्रकार के भारतीय शासन का उसूल 'फूट फैलाओ और शासन करो' होना चाहिए।"

मेजर जनरल सर लिओनेल स्मिथ ने सन् १८३१ की जाँच के समय कहा था—"× × × अभी तक हमने साम्प्रदायिक और धार्मिक पक्षपात के द्वारा ही देश को वश में रखा है—हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों को और इसी प्रकार अन्य जातियों को एक दूसरे के विरुद्ध × × ×।"

सन् १८५७ के विप्लव के बाद कर्नल जान कोक ने जो, उस समय मुरादाबाद की पलटनों का कमाण्डर था, लिखा कि, "हमारी कोशिश यह होनी चाहिये कि भिन्न-भिन्न धर्मों और जातियों के लोगों में हमारे सौभाग्य से जो भेदभाव वर्तमान है उसे पूर्ण रूप से बना रहने देना चाहिये। हमें उन्हें मिलाने की कोशिश नहीं करनी चाहिये। भारत सरकार का अमूल्य सिद्धान्त यही होना चाहिये—'फूट फैलाओ और शासन करो।"

बम्बई के गवर्नर लार्ड एलफ़िन्सटन ने १४ मई सन् १८५९ को अपने एक सरकारी पत्र में लिखा था—"पुराने रोम के

शासकों का सिद्धान्त था 'फूट फैलाओ और शासन करो, यही हमारा सिद्धान्त होना चाहिके।"

यह तो मानी हुई बात है कि वास्तव में किसी देश के अन्दर विदेशी शासन को चिरस्थायी बनाये रखने का सबसे उत्तम उपाय यही हो सकता है।

जिस प्रकार एक धर्म, जाति, समुदाय, संस्था और दूसरे धर्म, जाति, समुदाय, संस्था के लोगों में भेदभाव उत्पन्न करने का प्रश्न है। उसी प्रकार एक प्रान्त और दूसरे प्रान्त के लोगों में भेदभाव उत्पन्न करने का प्रश्न भी है। सन् १८५७ के विप्लव के बाद एक राय यह की गई थी कि भारतीय सरकार के अधिकारों को थोड़ा सा कम कर दिया जाय और भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारों को अपने अपने प्रान्त के शासन में अधिक स्वतंत्रता दे दी जाय। इस भेद-नीति से पूर्ण राय का नाम उसके वास्तविक अनिष्टकारी लक्ष्य को छिपाने के लिए 'प्रान्तीय स्वाधीनता' रखा गया। मेजर जी० विनगेट ने १३ जुलाई सन १८५८ को पार्लिमेण्ट की सिलेक्ट कमेटी के सामने इस उद्देश्य का वर्णन पूर्ण रूप से कर दिया था। जब प्रश्न किया गया कि आप कहते है कि एक केन्द्रीय सरकार से कई प्रकार के खतरे हैं और आप कहते हैं कि इसमें समस्त देशवासियों में एक समान भाव उत्पन्न होंगे और उनके एक समान लक्ष्य होंगे जो हमारे लिए खतरनाक हो सकते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मेजर जी० विनगेट ने कहा था —हाँ! मैं समझता हूँ कि यदि कोई एक ऐसी बात हुई कि जिसमें समस्त भारतवासी दिलचस्पी लेने लगे तो उससे विदेशी शासन को अधिक हानि पहुँचने की सम्भावना है, बनिस्बत किसी भी ऐसी बात के कि जिसका आन्दोलन भारतवर्ष देश के केवल एक भाग तक सीमित हो। यदि किसी प्रश्न पर समस्त भारतीय साम्राज्य भर में आन्दोलन होने लगा तो इसमें संदेह नहीं कि किसी ऐसे प्रश्न की अपेक्षा, जिसका सम्बन्ध केवल एक प्रान्त के निवासियों से हो, विदेशी शासन के लिए यह कहीं अधिक भयानक होगा।

इस 'प्रान्तीय स्वाधीनता' का वास्तविक उद्देश्य यही था कि विविध प्रान्तों के लोगों में परस्पर प्रेम और राष्ट्रीयता अर्थात् भारतीयता के भाव उत्पन्न न हो सकें साथ ही साथ किसी न किसो प्रश्न को लेकर नित्य एक नया झगड़ा सामने खड़ा रहे और उसका परिणाम यह हो कि अंग्रेजों का शासन भारत में अचल हो जाय।

स्थूल दृष्टि से देखने पर भारत इंग्लैण्ड को किसी भी प्रकार का खिराज नहीं देता किन्तु मेजर विनगेट ने बड़ी योग्यता के साथ साबित किया है कि जो रकम 'होम चार्जेज' के नाम से भारत सरकार प्रतिवर्ष इंग्लैण्ड भेजती है, वह वास्तव में भारतवर्ष का इंग्लैण्ड को ख़िराज देना है। सन् १८३४ से १८५१

तक १७ वर्ष के अन्दर ५७,६०,००० पौंड अर्थात् लगभग ७५ करोड़ रुपये इस मद में भारत से इंग्लैण्ड भेजे गये। इस रकम के बदले में भारत को कुछ भी प्राप्त न हुआ और न भारत को इससे कोई लाभ हुआ। जो रक़में प्रति वर्ष अंग्रेज़ों ने अपने और अपने कुटुम्बियों के लिए भारत से इंग्लैण्ड भेजीं और जो विशाल धन इंग्लैण्ड के लोगों ने भारत के व्यापार से कमाया उन सब का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त भारत से कमाये हुए धन में से ३,६०,००,००० पौण्ड भिन्न-भिन्न अंग्रेज़ों का उस समय भारत सरकार के पास ऋण के रूप में जमा था।

विप्लव के बाद से लेकर आज तक का इतिहास लिखना हमारी इस पुस्तक के विषय से बाहर की बात है। पिछले अध्यायों के पढ़ने से पाठकों को भली भाँति विदित हुआ होगा कि सन् १८५७ के विप्लव को पूर्ण रूप से कुचल देने के बाद से ही अंग्रेज़ों ने अनेक प्रकार के हथकंडों और प्रयत्नों द्वारा भारत में अंग्रेज़ी राज्य को सुदृढ़ और स्थायी बनाने के उपायों को बराबर जारी रक्खा, लेकिन भारत पर अंग्रेज़ों का पूर्ण अधिकार हो जाने पर भी भारत-निवासियों के हृदयों में पिछले सैकड़ों वर्षों से उत्पन्न स्वाधीनता की जो आग सुलग रही थी वह न बुझ सकी और अनेक अर्थों में यह दबी हुई आग विप्लव के २७ वर्षों बाद जाकर सन् १८८५ में कांग्रेस के रूप में प्रकट